उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAHI-112
छायावादोत्तर काव्य

खंड

01

प्रगतिशील काव्य

इकाई 1

नागार्जुन के काव्य में संवेदना के रूप 5

इकाई 2

नागार्जुन काव्य का रचना विधान 26

इकाई 3

मुक्तिबोध का जीवन-दर्शन और उनकी काव्य दृष्टि (जीवन प्रक्रिया और रचना प्रक्रिया के संदर्भ में) 36

इकाई 4

मुक्तिबोध का काव्य-शिल्प : फैंटेसी के संदर्भ में 57

इकाई 5

अंधेरे में' कविता का विश्लेषण 78

इकाई 6

धूमिल 93

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें 111

पाठ्यक्रम विशेष समिति

प्रो. ओम अवस्थी
गुरुनानक देव
विश्वविद्यालय, अमृतसर
प्रो. गोपाल राय
सी-3, कावेरी, इग्नो आवासीय
परिसर, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली
प्रो. नामवर सिंह
32-ए, शिवालिक अपार्टमेंट
अलकनंदा, नई दिल्ली
प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो. निर्मला जैन
ए-21, /17, कुतुब एन्क्लेव, फेज़-1,
गुड़गाँव, हरियाणा
प्रो. प्रेम शंकर
बी-16, सागर विश्वविद्यालय
परिसर, सागर
प्रो. मुजीब रिज़वी
220, ज़ाकिर नगर
नई दिल्ली

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
3, बैंक रोड, इलाहाबाद
प्रो. लल्लन राय
3, प्रीत विला, समर हिल
शिमला
प्रो. शिवकुमार मिश्र
एफ-17, मानसरोवर पार्क कालोनी
पंचायती हॉस्पिटल मार्ग,
वल्लभ विद्यानगर, गुजरात
स्व0 शिव प्रसाद सिंह
प्रो. सूरजभान सिंह
आई-27, नारायणा विहार
नई दिल्ली

संकाय सदस्य
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
डॉ. जवरीमल्ल पारख
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ0 शत्रुघ्न कुमार
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
श्रीमती विमल खांडेकर

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक	इकाई संख्या	पाठ्यक्रम संयोजक
श्री अरुण कमल पटना	14 एवं 15	डॉ0 राकेश वत्स
		संपादक
प्रो0 लल्लन राय	16, 17 एवं 18	प्रो0 लल्लन राय
प्रो0 कुमार कृष्ण प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला	19	

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

मुद्रण	कैमरा रेड्डी कॉपी	आवरण	सचिवालयी सहयोग
सुश्री पुष्पा गुप्ता कॉपी एडिटर	श्री नरेश कुमार	सांख्या सामंता	श्री रामबचन प्रजापति श्री महावीर सिंह सैनी

अप्रैल, 2003 (पुर्नमुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2000

ISBN-81-7605-657-X

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

प्रकाशक : इन्दिरा गॉधी राष्ट्रिय मुक्त विश्वविद्यालय प्रयागराज की अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, 2024

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा0लि0 42/7 जवाहर लाल नेहरु रोड, प्रयागराज

PEPE-022

खंड परिचय

एम.ए. (हिंदी) के द्वितीय पाठ्यक्रम 'आधुनिक हिंदी काव्य' का यह चौथा खंड है। इससे पिछले खंड में आप छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा और राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि रामधारी सिंह दिनकर के काव्य का अध्ययन कर चुके हैं। इसकी अगली कड़ी के रूप में आप इस चौथे खंड में 'प्रगतिशील काव्य' का अध्ययन करेंगे। इस खंड में कुल छह इकाइयाँ हैं। आरंभ की दो इकाईयाँ प्रगतिशील कवि नागार्जुन पर हैं। नागार्जुन प्रगतिशील काव्यांदोलन से गहराई से जुड़े हुए अत्यंत समर्थ कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। इनसे संबद्ध चौदहवीं इकाई में इनके काव्य में व्यक्त संवेदना के स्वरूप और उसकी प्रकृति पर विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत विस्तार से विचार किया गया है। पंद्रहवीं इकाई में नागार्जुन के काव्य के रचना-विधान अर्थात् भाषा-शैली पर विचार किया गया है। इन दोनों इकाइयों में कवि द्वारा गृहीत विषयवस्तु के मानवीय महत्व और अभिव्यंजना शिल्प की कलात्मकता और प्रभावोत्पादकता को विशेष रूप से उजागर करने का प्रयास हमने किया है।

इस खंड के दूसरे महत्वपूर्ण प्रगतिशील कवि गजानन माधव मुक्तिबोध हैं, जो एक प्रखर मार्क्सवादी चिंतक और शोषित उत्पीड़ित जनता के प्रबल पक्षधर कवि के रूप में जाने जाते हैं। अपनी जटिल विचार-सम्पदा, गहन मार्क्सवादी चिंतन और अत्यंत उलझे हुए शिल्प-विधान के कारण केवल पाठक ही नहीं, हिंदी के जाने-माने आलोचकों ने भी मुक्तिबोध को समझने में कठिनाई का अनुभव किया है। इनसे सम्बद्ध इकाइयों में विषय-वस्तु और शिल्प से जुड़ी विशेष उलझनों को सुलझाने का प्रयास किया गया है।

मुक्तिबोध से सम्बद्ध पहली इकाई में इनके जीवन-दर्शन और काव्य-दृष्टि पर, साथ ही इस संदर्भ में कला की स्वायत्तता, कलात्मक अनुभव और जीवनानुभव का संबंध, कलाकार की पक्षधरता, उसकी सामाजिक दृष्टि के साथ ही उसकी रचना-प्रक्रिया पर विस्तार से विचार करते हुए कवि के भाव जगत को उजागर किया गया है। मुक्तिबोध से सम्बद्ध दूसरी इकाई में इनके काव्य-शिल्प को 'फैंटेसी' के संदर्भ में विवेचित-विश्लेषित किया गया है। इनके काव्य की कठिनाई का सबसे बड़ा कारण मुक्तिबोध द्वारा अपनाया गया फैंटेसी का शिल्प ही है। इसलिए 'फैंटेसी' के स्वरूप, उसकी प्रकृति, फैंटेसी के शिल्प की शक्ति और सीमा को स्पष्ट करते हुए इनकी कुछ कविताओं का फैंटेसी के शिल्प के आधार पर विश्लेषण भी किया गया है। इ → आपको मुक्तिबोध की कविताओं को समझने में काफी सहायता मिलेगी। इस प्रक्रिया में मुक्तिबोध की कई कविताओं के शीर्षकों के वास्तविक आशय और अभिप्राय को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यदि हम इनकी कविताओं के शीर्षक समझ लें तो पूरी कविता को समझने में विशेष कठिनाई नहीं होगी। इस तथ्य से आप इस इकाई के अंत में पूरी तरह परिचित हो सकेंगे।

मुक्तिबोध से सम्बद्ध तीसरी इकाई में इनकी एक सर्वाधिक चर्चित और विवादग्रस्त कविता 'अंधेरे में' का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। इसके माध्यम से आप कवि की अंतःप्रकृति, बाह्यजगत से उसके संबंध, अपने ही आंतरिक और बाह्य व्यक्तित्व के द्वंद्व, आत्म-साक्षात्कार और जगत्-साक्षात्कार की प्रक्रिया, शोषित-उत्पीड़ित जन की पक्षधरता, पूँजीवादी सत्ता के क्रूरतम चरित्र के उद्‌घाटन के साथ ही 'फैंटेसी' के शिल्प के महत्व को भी आसानी से समझ सकेंगे।

इस खंड की अंतिम इकाई धूमिल के काव्य से संबद्ध है। सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' साठोत्तरी पीढ़ी के कवि रहे हैं, जिनका रचनाकाल 1963-74 तक - मात्र दस-ग्यारह साल का रहा है। इस छोटे से रचनाकाल में धूमिल ने साठोत्तरी पीढ़ी के प्रायः गुमराह कवियों की एक लंबी जमात का अतिक्रमण करते हुए हिंदी काव्यधारा को नयी कविता, अकविता, भूखी-श्मशानी पीढ़ी की कविता, क्रुद्ध युवा पीढ़ी की कविता के जंगल से निकालकर उसे पुनः प्रगतिशील काव्यधारा की दिशा में आगे बढ़ाने का सफल प्रयास किया। इन्होंने कविता को पुनः भारतीय जनजीवन से, विशेषकर ग्रामीण जन जीवन से जोड़कर एक महत्वपूर्ण कार्य किया। इस प्रक्रिया में धूमिल ने वर्तमान संसदीय व्यवस्था, प्रशासन तंत्र और उसकी न्याय व्यवस्था की त्रुटियों का पर्दाफाश करते हुए हिंदी कविता के भविष्य का निर्धारण किया। इस तथ्य को प्रस्तुत इकाई में विषय-वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से आप अच्छी तरह समझ सकेंगे।

इकाई 1 नागार्जुन के काव्य में संवेदना के रूप

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 संवेदना क्या है?
1.3 संवेदना के विविध रूप
14.3.1 प्रकृति संसार
14.3.2 मनुष्य और पशु
14.3.3 दैनन्दिन जीवन
14.3.4 राजनीति
14.3.5 व्यंग्य की धार
14.3.6 जीवन के कोमल पक्ष : प्रेम एवं सौंदर्य
1.4 संवेदना की जटिलता : कुछ और पक्ष
1.5 सारांश

1.0 उद्देश्य

इस इकाई से पूर्व आप छायावादी कवि पंत, महादेवी और राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि 'दिनकर' का अध्ययन कर चुके हैं। यहाँ आप प्रगतिशील काव्य-धारा के वरिष्ठ कवि नागार्जुन के काव्य का अध्ययन करेंगे। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- नागार्जुन के काव्य के विभिन्न रूपों को जान सकेंगे,
- संवेदना के वास्तविक स्वरूप और उसकी प्रकृति से परिचित हो सकेंगे,
- नागार्जुन के काव्य में संवेदना के विभिन्न रूपों का अध्ययन कर सकेंगे, और
- इस बात से वाकिफ़ हो सकेंगे कि किस प्रकार जीवन अपने विविध रूपों में, अपने क्षुद्रतम अंश से लेकर विराट रूपों तक नागार्जुन के काव्य का हिस्सा बन कर उनकी संवेदना का आलंबन बनता है।

1.1 प्रस्तावना

नागार्जुन को प्रगतिशील काव्यधारा का आधार कवि माना जाता है। नागार्जुन ने जीवन को उसके विविध रूपों में, जटिल संघर्षों को, राजनीतिक विकृतियों को, मजदूर आंदोलनों को, किसान-जीवन के सामान्य दुख-सुख को पहचानने और अभिव्यक्त करने का वृहत्तर सर्जनात्मक उत्तरदायित्व अपने कंधों पर उठाया है। जिस प्रकार उनकी काव्य संरचना और कथ्य के स्तर पर वैविध्य है, वैसा ही वैविध्यमय उनका जीवन भी रहा है। नागार्जुन की बात करते ही उनकी कविताएँ 'अकाल और उसके बाद', 'बादल को घिरते देखा है' तथा 'कालिदास सच सच बतलाना' हठात ध्यान में आ जाती हैं। लेकिन इन तीनों कविताओं की विषयवस्तु अलग-अलग है, इनका शिल्प भी एक दूसरे से भिन्न है और तीनों की संवेदना के भी अलग-अलग रंग हैं। नागार्जुन के काव्य में संवेदना के इन्हीं भिन्न-भिन्न रूपों के माध्यम से हम उनके काव्य का अध्ययन इस इकाई में करेंगे। किसी भी वस्तु, भाव और स्थिति के हृदय पर पड़े प्रभाव की प्रतिक्रिया ही संवेदना कहलाती है। नागार्जुन का काव्य संसार वैविध्यमय होने के साथ-साथ बहुत व्यापक एवं विराट है। इसमें प्रकृति, मनुष्य, पशु, राजनीतिक-सामाजिक जीवन, जीवन के मधुर एवं कोमल पक्ष, व्यंग्य की तीखी धार, दैनन्दिन जीवन की गतिविधियाँ सब शामिल हैं। नागार्जुन का यह वैविध्यमय संसार उनकी काव्य संवेदना का किस प्रकार हिस्सा बनता है, आइये इसे देखें।

1.2 संवेदना क्या है?

अभी हमने कहा था कि किसी भी वस्तु, भाव या स्थिति का हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है और उसकी जो प्रतिक्रिया होती है, उसे ही संवेदना कहते हैं। इस बात को दूसरे ढंग से भी समझा जा सकता है। आप ज़रा अपने आसपास नज़र डालिए. यह दुनिया कितनी बड़ी है और कितनी भरी-पूरी है। इसके

इतने सारे रंग और रूप हैं। इतने सारे पदार्थ हैं, इतनी वस्तुएँ हैं। प्रत्येक वस्तु प्रत्येक घटना हम पर किसी-न-किसी रूप में असर डालती है, जैसे पानी में कंकड़ फेंकने से तरंग उठती है वैसे ही हम जब कुछ देखते-सुनते हैं या जब हमें कुछ होता है तो हम भी प्रतिक्रिया करते हैं। हमारा हृदय प्रभावित होता है और तब उसी प्रभाव के अनुरूप भाव उत्पन्न होता है। वस्तुओं का हृदय पर पड़ने वाला यही प्रभाव और उससे उत्पन्न प्रतिक्रिया ही संवेदना कहलाती है। आदिकवि वाल्मिकि का वह प्रसिद्ध प्रसंग तो आप जानते ही हैं, जब एक क्रौंच पक्षी की हत्या से आहत कवि के मुँह से अनायास छंद फूट पड़ा था। यही संवेदना है। अंग्रेज़ी भाषा के कवि शेक्सपीयर की प्रसिद्ध उक्ति है - ओ आइ हैव सफरड् विद दोज हूम आइ सा सफर (मैं उनके दुख से दुखी हुआ जिन्हें मैंने दुख भोगते देखा)। एक कवि अत्यंत संवेदनशील होता है अर्थात् अधिक-से-अधिक वस्तुओं, स्थितियों, प्रसंगों का उस पर प्रभाव पड़ता है और वह उन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। जो कवि जितना बड़ा होगा वह उतना ही अधिक संवेदनशील होगा यानी उसकी दुनिया भी बहुत बड़ी होगी और इसीलिए उसके संवेदना के रूप भी बहुत होंगे। एक बड़ा कवि प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक जीव से तादात्म्य अनुभव करता है - 'मैंने उन सबके साथ दुख भोगा जिन्हें दुख भोगते देखा। नागार्जुन ने अपनी एक कविता 'प्रतिबद्ध हूँ' में इसे बहुत बढ़िया ढंग से व्यक्त किया है :.

> संबद्ध हूँ, जी हाँ संबद्ध हूँ
> सचर-अचर सृष्टि से
> शीत से, ताप से, धूप से, हिमपात से .....
> .....
> आबद्ध हूँ, जी हाँ, आबद्ध हूँ
> स्वजन-परिजन के प्यार की डोर में
> प्रियजन के पलकों की कोर में .....
> तीसरी चौथी पीढ़ियों के दंतुरित शिशु-सुलभ हास में .....

आप इस पूरी कविता को पढ़िए तो पता चलेगा कि जीवन के कितने सारे पक्ष कवि को संवेदित करते हैं। जितनी तरह के पक्ष हैं, जितनी तरह के प्रसंग हैं उतनी तरह की संवेदनाएँ भी हैं।

1 .3 संवदेना के विविध रूप

संवेदना के भिन्न-भिन्न रूपों पर बात करने से पहले सबसे पहली बात जो हम हमेशा ध्यान में रखें वह यह कि कोई भी बात हवा में नहीं हो सकती। कहने का मतलब यह कि जब हम किसी कवि के बारे में बात कर रहे हैं तो उसकी कविता को सामने रखना पड़ेगा। कविता के एक-एक शब्द को पढ़ना, समझना पड़ेगा। लेकिन यहाँ कुछ और बातें भी ध्यान में रखना ज़रूरी है। जैसे कि आप जानते ही होंगे कि नागार्जुन बिहार प्रांत के मिथिला-क्षेत्र के रहने वाले हैं। उनकी मातृभाषा मैथिली है। उन्होंने मैथिली में भी अनेक कविताएँ लिखी हैं। साहित्य अकादमी पुरस्कार उन्हें मैथिली कविता संग्रह 'पत्रहीन नग्न गाछ' पर ही मिला है। संस्कृत पर भी उनका सहज अधिकार है। उन्होंने संस्कृत में भी कविताएँ लिखी हैं और 'युगधारा' की भूमिका के अनुसार 'कवित्व का आरंभिक उन्मेष संस्कृत के माध्यम से हुआ'। नागार्जुन को मिथिला के ग्राम-जीवन का गहरा आत्मीय अनुभव तो है ही, सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप के जीवन का भी विस्तृत अनुभव है। उनका मैथिली उपनाम 'यात्री' है जो अकारण नहीं है। नागार्जुन लगातार यात्रा करते रहे हैं। सुदूर श्रीलंका से लेकर तिब्बत तक, काश्मीर से काठियावाड़ तक। इस प्रकार यह सम्पूर्ण भारतीय भूभाग उनकी कविता में है - मिथिला के 'रूचिर भू-भाग' से लेकर 'मुलुंड' और 'वितस्तो', 'अमल धवल गिरि के शिखरों' से लेकर 'मानसरोवर के स्वर्णिम कमलों' तक। एक बात और..... नागार्जुन तो प्रगतिवादी हैं, मार्क्सवादी, किसान-सभा के आंदोलनों से लेकर सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन और अनेक अन्य आंदोलनों में उन्होंने भाग लिया है, लाठियाँ खायी हैं, जेल गये हैं और इन सबकी छाप भी उनकी कविता पर भीतर तक है। साथ-साथ यह भी याद रखना ज़रूरी है कि नागार्जुन पहले बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर वैद्यनाथ मिश्र से नागार्जुन बने, फिर गृहस्थ बनकर मार्क्सवादी भी बन गए। इस प्रकार वे दो दर्शन-परंपराओं, भारतीय बौद्ध दर्शन तथा पाश्चात्य मार्क्सवादी दर्शन से घनिष्ठ रूप से संबद्ध रहे। तो यह है नागार्जुन का जीवन-पटल। आप पूछ सकते हैं, क्या संवेदना के रूपों को समझने के लिए किसी कवि के जीवन के बारे में जानकारी ज़रूरी है! बिना जाने भी तो हम पढ़ सकते हैं। सो तो ठीक है, लेकिन कुछ बातें, कुछ मोटी-मोटी बातें अगर हम कवि के बारे में जान सकें तो समझने में सुविधा ज़रूर होगी। जैसे यही बात कि नागार्जुन ने इतनी सारी राजनीतिक कविताएँ क्यों लिखीं? स्पष्ट है कि वह एक सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता भी रहे, इसीलिए। नागार्जुन के जीवन का

वो विस्तार है वह उनकी कविता में भी मिलता है। नकी कविता जीवन-संकुल, गहन और भरी-पूरी है। सलिए उनकी चेतना का स्वरूप भी अत्यंत व्यापक है, जिसे हम कुछ शीर्षकों में विभक्त कर आसानी समझ सकते हैं।

1.3.1 प्रकृति संसार

कहा जाता है कि कोई भी व्यक्ति, एक बच्चा भी, सबसे पहला चित्र प्रकृति का बनाता है और सबसे हली कविता भी प्रकृति पर ही लिखता है। पता नहीं यह बात कहाँ तक सच है। वैसे आप चाहें तो कुछ कवियों को चुन लें और उनको पढ़ कर पता लगाएँ कि क्या यह बात सही है। आप चाहें तो बच्चों बनाए चित्रों को भी देख सकते हैं। सबके बारे में यह बात सच हो या न हो, लेकिन नागार्जुन के बारे इतना तय है कि उनकी कविता का एक बहुत बड़ा भाग प्रकृति-निर्मित तथा उनकी कविताओं का क अपरिहार्य संवेग प्रकृतिजन्य है। प्रकृति के असंख्य रूपों ने नागार्जुन को तीव्रता से संवेदित किया उनके पहले कविता-संग्रह 'युगधारा' में एक कविता है :

'रजनीगंधा'

तुम खिलो रात की रानी
हो म्लान भले यह जीवन और जवानी
तुम खिलो रात की रानी।'
प्रहरी-परिवेष्टित इस बंदीशाला में
मैं सड़ूँ सही, पर ताज़ी रहे कहानी
तुम खिलो रात की रानी!
यह प्रहरी के बूटों की कर्कश टापें
रह-रह कर बहुधा नींद तोड़ जाती हैं
आँखें खुलती तो बस झुंझला उठता हूँ ....
ये हृदय-हीन! ये नर-पिशाच! ये कुत्ते!
इतने में अनुपम सुवास से सुरभित
शीतल समीर का हल्का झोंका आता
सारे अभाव-अभियोग भूल जाता हूँ
या आकुल मन इतना प्रमुदित हो जाता
जय हो जय हो कल्याणी!

यह जेल और यह सेल-नियंत्रित प्राणी
इस आँगन में उस ओर तुम्हारा खिलना
यह भीनी-भीनी सारी रात महकना
दिन हुआ कि बस हो गई मौन तुम सजनी
आई निशा कि फिर खिली कौन तुम सजनी-
रजनीगंधा बनकर भू पर उतरी हो?
अभिशापित देवसुता या कि परी हो!
पुलकित होते तन-मन, जगती है वाणी
जय जय जय जय कल्याणी!

रात की रानी की सुगंध ने कवि को व्याकुल कर दिया है। रजनीगंधा की सुगंध इस बंदी जीवन का वाद तथा विकल्प सा है। आप इस कविता को ध्यान से पढ़ें, और सोचें :

कविता का मूल संवेदना-स्रोत क्या है?
क्या कविता केवल रात की रानी का वर्णन भर करती है?
अन्य कौन से प्रसंग कविता में हैं?
प्रकृति का कौन-सा रूप कविता में व्यक्त हुआ है?
क्या इसे केवल प्रकृति-प्रेम की कविता कहा जा सकता है?
किस तरह से यह कविता पूर्ववर्ती छांयावादी कविता से अलग अथवा एक जैसी है?

देखिए, कविता का स्रोत मुख्यतः रात की रानी की सुगंध में है। रात की रानी की सुगंध ने ही ता के वाचक को व्यग्र किया है - पहली पंक्ति 'तुम खिलो रात की रानी' से लेकर अंतिम बंद की जय जय जय कल्याणी' तक। लेकिन यह कविता रात की रानी का वर्णन मात्र नहीं है। बल्कि

वर्णन तो बहुत कम है। मुख्यतः सुगंध के प्रभाव का वर्णन है - 'पुलकित होते तन-मन, जगती है वाणी। इसके अलावा कविता केवल रात की रानी पर ठहर नहीं जाती। उसमें परिवेश का उल्लेख है, वाचक के निजी जीवन का भी, राजनीतिक स्थिति का भी। 'यह प्रहरी परिवेष्टित बंदीशाला' है, 'जहाँ मैं सड़ूँ सही', 'जहाँ ये हृदयहीन ये नरपिशाच ये कुत्ते' शासन कर रहे हैं जहाँ 'सेल-नियंत्रित प्राणी' तक 'रजनीगंधा के अनुपम सुवास से सुरभित शीतल समीर का हल्का झोंका आता' है। और इस झोंके के प्रभाव से वाचक अपने 'सारे अभाव-अभियोग भूल जाता है'। इस तरह प्रकृति मनुष्य की सहयोगी है, मुक्तिदाता। तभी तो - 'हो म्लान भले यह जीवन और जवानी तुम खिलो रात की रानी'। यह केवल प्रकृति-प्रेम की कविता नहीं है। एक ही कविता में प्रकृति-प्रेम भी है और व्यवस्था के प्रति घृणा भी। यह पूववर्ती कविता में शायद नहीं मिलता। आप खुद सोचें और बताएँ।

मतलब यह कि नागार्जुन की यह कविता जिसकी मूल संवेदना प्रकृति में है लेकिन वास्तव में वहीं तक सीमित नहीं है। इसमें अन्य कई संवेदनाएँ आकर जुड़ती हैं और इस तरह एक जटिलता की रचना होती है। निजी जीवन का संताप, व्यवस्था के प्रति रोष, अन्याय का विरोध, आततायियों से घृणा, मुक्ति का अहसास - यह कविता पूरे जीवन पर एक टिप्पणी है। लेकिन संवेदना का आरंभिक बिंदु निश्चय ही रजनीगंधा है जो जीवट और जीवन का और जो कुछ अर्थवान है उसका प्रतीक बन जाती है।

नागार्जुन की काव्य-संवेदना का एक मुख्य अवलम्ब प्रकृति है। प्रकृति की अनेकानेक छटाएँ। यहाँ तालमखान है, अमराइयाँ हैं, मौलसिरी के फूल हैं, चाँदनी है, नीम की टहनियाँ, कटहल, सिंके हुए भुट्टे, फसल का सोनिया समंदर और बरफ और सबसे अधिक तो बादल। प्रकृति का कोई भी अंश नागार्जुन को सहज ही संवेदित कर देता है। 'गंध-रूप शब्द स्पर्श सब साथ-साथ इस भू पर' - नागार्जुन कहते हैं (बहुत दिनों के बाद)। प्रकृति उनके सभी रंध्रों को मानो खोल देती है।

अब यदि आप एक सूची बनाएँ उन कविताओं की जो 'बादल' पर हैं तो आप पाएँगे कि बादलों ने और बरसात की विभिन्न मुद्राओं ने नागार्जुन को सर्वाधिक प्रभावित किया है। कह सकते हैं कि नागार्जुन की प्रिय ऋतु बरसात है जैसे निराला का वसंत। आप एक कार्य यह भी कर सकते हैं कि निराला, प्रसाद, मुक्तिबोध, अज्ञेय और शमशेर को लें और देखें कि इन कवियों की प्रिय ऋतु कौन-सी है। अथवा प्रकृति का कौन-सा पक्ष इनकी कविताओं में सर्वाधिक बार आता है। ऐसा करके आप इन कवियों को या किसी भी कवि को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे।

तो नागार्जुन में प्रकृति, विषयक सर्वाधिक कविताएँ बादलों पर हैं। 'बादल को घिरते देखा है' से लेकर 'आषाढ़ वदि षष्ठी की सघन काली घन घटा' और 'धिन धिन धा मेघ बजे' से लेकर 'घन कुरंग' तक। क्या आप बता सकते हैं कि नागार्जुन में इतने बादल क्यों हैं? क्या सिर्फ इसलिए कि वे सुंदर और सम्मोहक हैं अथवा कोई और भी कारण होगा कहीं? आप पता लगाइये। और तब आप देखेंगे कि नागार्जुन में प्रकृति और मनुष्य प्रायः साथ-साथ आते हैं, जैसा कि हमने 'रजनीगंधा' कविता में देखा। फिर यह देखें कि प्रकृति का कौन-सा रूप नागार्जुन में अधिक प्रबल है। जैसे, शमशेर में प्रकृति का कोमल पक्ष, अक्सर शाम, मुक्तिबोध में प्रकृति का रौद्र पक्ष, अक्सर रात, केदारनाथ अग्रवाल में प्रकृति का प्रसन्न पक्ष, अक्सर दिन। नागार्जुन को प्रकृति का उदात्त और प्रसन्न पक्ष सर्वाधिक स्पंदित करता है। अब आप यह कविता पढ़िए और सोचिए कि इस कविता की मूल संवेदना क्या है :

'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने'
शुरू-शुरू कातिक में
निशा शेष ओस की बूँदियों से लदी है
अगहनी धान की दुद्धी मंजरियाँ
पाकर परस प्रभाती किरणों का
मुखर हो उठेगा इनका अभिराम रूप
टहलने निकला हूँ, 'परमान' के किनारे-किनारे
बढ़ता जा रहा हूँ खेत की मेंड़ों पर से, आगे
वापस मिला है अपना वह बचपन
कई युगों के बाद आज
करेगा मेरा स्वागत
शरद् का बाल रवि...
चमकता रहेगा घड़ी-आधी घड़ी
पूर्वांचल प्रवाही 'परमान' की

द्रुत-विलंबित लहरों पर
और मेरे ये अनावृत चरण युगल
करते रहेंगे चहल-क़दमी
सैकत पुलिन पर

छोड़ते जाएँगे सादी-हलकी छाप....
और फिर आएगी, हँसी मुझे अपने आप पर
उतर पड़ूँगा तत्क्षण पंकिल कछार में
बुलाएँगे अपनी ओर भारी खुरों के निशान
झुक जाएगा यह मस्तक अनायास
दुधारू भैंसों की याद में....

यह लो, दूर कहीं शीशम की झुरमुट से
उड़ता आया है नीलकण्ठ
गुज़र जाएगा ऊपर-ही-ऊपर
कहाँ जाकर बैठेगा?
इधर पीछे जवान पाकड़ की फुनगी पर?
या कि, उस बूढ़े पीपल की बदरंग डाल पर?
या कि, उड़ता ही जाएगा
पहुँचेगा विष्णुपुर के बीचोंबीच
मंदिर की अँगनई में मौलसिरी की
सघन पत्तियों वाली टहनियों की ओट में
हो जाएगा अदृश्य, करेगा वहीं आराम!
जाने भी दो,
आओ तुम मेरे साथ रत्नेश्वर
देखेंगे आज जी भरकर
उगते सूरज का अरूण-अरूण पूर्ण-बिम्ब
जाने कब से नहीं देखा था शिशु भास्कर
आओ रत्नेश्वर, कृतार्थ हों हमारे नेत्र!
देखना भई, जल्दी न करना
लौटना तो है ही
मगर यह कहाँ दिखता है रोज़-रोज़
सोते ही बिता देता हूँ शत-शत प्रभात
छूट-सा गया है जनपदों का स्पर्श
(हाय रे आंचलिक कथाकार!)
आज मगर उगते सूरज को
देर तक देखेंगे, जी भरकर देखेंगे
करेंगे अर्पित बहते जल का अर्घ।

अब प्रश्न है :

(क) कविता की मूल संवेदना क्या है?
(ख) क्या यह आस्तिकता के पक्ष में है?
(ग) वाचक को आस्तिकता की लांछना का भय क्यों होता है?
(घ) इस कविता के अंत में 'डेविएशन' शब्द क्यों आता है?

इस कविता के मूल में वह संवेदना है जो 'उगते सूरज का अरूण पूर्ण-बिंब' देखकर उत्पन्न होती है जो किसी भी भारतीय को विह्वल कर देता है और यह श्लोक अनायास कंठ से फूट पड़ता है- 'ओ नमो भगवते भुवन भास्कराय....'। यह विह्वलता, संवेदना की यह अतिशयता ही आस्तिकता का प्रथम चरण है।.लेकिन यह कविता वास्तव में प्रकृति के वैभव के सम्मुख सहज नत भाव की अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण समर्पण। 'डेविएशन' मार्क्सवादी शब्दावली का एक रूढ़ भाव है जो वैचारिक भ्रांति को इंगित करता है। क्योंकि आस्तिकता एक मार्क्सवादी के लिए भ्रांति ही तो है, एक 'डेविएशन'। लेकिन यहाँ कोई विचलन या डेविएशन नहीं है, यहाँ तो प्रकृति के एक उदात्त क्षण, सूर्योदय से साक्षात्कार की कथा है,

केवल सौंदर्य के प्रति समर्पण की कथा। नागार्जुन में हमें संवेदना का वो स्तर भी मिलता है जो सरल दिखता हुआ भी बहुधा जटिल होता है। एक संवेदना-तंतु वास्तव में अनेक तंतुओं का जाल होता है।

अब आप यह कविता देखिए जिसमें एक 'प्रोफेसर' हमारे 'कवि' पर संवेदना के ठस होने का आरोप लगाता है - 'आपकी गंध - चेतना ठस तो नहीं हुई?'

'नथुने फुला फुला के'
राहे चलते-चलते
यक-ब-यक बाँह पकड़ ली
खुद भी खड़े रहे
मुझे भी रोक लिया
और बोलेः
क्या कुछ खास-सी महसूस होती है?
मैं चौंकाः
क्या सचमुच कोई ख़ासियत मालूम देती है!
फिर हमारे प्राध्यापक मित्र
भरपूर साँस खींचकर कहने लगेः
'यहाँ, मुलुण्ड में इत्र का कारखाना लगा है
मराठा व्यवसायी एक कोई केलकर साहब ने
सौरभ-द्रव्यों का अपना अभिनव उत्पादन-केंद्र
आरंभ किया है यहाँ मुलुण्ड में
प्रतिदिन, सन्ध्याकाल
पवन देव की अनुकम्पा से
ईद-गिर्द बीसियों किलोमीटर
हो उठते हैं मुअत्तर...
यह सुरभित सान्ध्य समीर
हमारे मुलुण्ड की बहुत बड़ी ख़ासियत है....'

'आपकी गंध-चेतना ठस तो नहीं हुई?
अभी तो सत्तर के न हुए होंगे आप —'
फिर से प्राध्यापक मित्र ने
अपने तईं भरपूर साँस खींची
नथने फुला-फुलाके
वो मुअत्तर हवा भर ली अंदर।

अब आप बताइये :

(क) इस कविता में वास्तव में किसकी गंध चेतना ठस है?
(ख) इस कविता की मूल संवेदना क्या है?
(ग) 'रजनीगंधा' और 'नथुने फुला फुला के ....' किस तरह से भिन्न अथवा समान है?

हम दुहरा लें कि अभी तक हमने संवेदना क्या है इसकी चर्चा की और पाया कि वस्तुओं-व्यक्तियों-प्रसंगों के प्रति हमारी जो प्रतिक्रिया होती है वही संवेदना है। हमने नागार्जुन की प्रकृति-विषयक कविताओं में व्यक्त संवेदना की चर्चा की और पाया कि वे इकहरी नहीं बल्कि बेहद जटिल हैं।

1 .3.2 मनुष्य और पशु

प्रायः प्रकृति-चित्रण का अर्थ होता है पेड़-पौधों, हवा, बादल, पहाड़-समुद्र, सूर्य-चंद्रमा तारों का चित्रण। लेकिन पशु भी इसी प्रकृति के अंग हैं, यह बात अक्सर भुला दी जाती है। जब से मनुष्य है तभी से पशु हैं उसके साथ, और जिस तरह पेड़-पौधों, पहाड़, समुद्र ने मनुष्य की चेतना को प्रभावित किया है वैसे ही जानवरों ने भी। विश्व साहित्य की कुछ दुर्लभ कृतियाँ मनुष्य और पशु के संबंधों के बारे में हैं, जैसे तॉल्सतॉय की मशहूर कहानी 'यार्डस्टिक' जो एक घोड़े की और उसके माध्यम से मनुष्य की कहानी है। क्या आप उस प्रसिद्ध हिंदी कहानी का नाम बता सकते हैं जिसमे एक कुत्ता भी, मनुष्य की तरह ही एक महत्वपूर्ण पात्र है और लेखक की संवेदना का संवाहक?

नागार्जुन की कविता में जानवर भी संवेदना जगाते हैं और नागार्जुन ने बहुत मार्मिकता से उनका अंकन किया है। प्रायः हर जगह जानवर और आदमी का जीवन सम्मिलित रूप से आता है जैसे प्रसिद्ध कविता 'अकाल और उसके बाद' में या 'नेवला' में। लेकिन हम उस कविता को लें जिसके बिना नागार्जुन के काव्य के सार को समझना कठिन है।

नागार्जुन के काव्य में संवेदना के रूप

'पैने दाँतों वाली'
धूप में पसरकर लेटी है
मोटी-तगड़ी, अधेड़, मादा सूअर....

जमना-किनारे
मखमली दूबों पर
पूस की गुनगुनी धूप में
पसरकर लेटी है
यह भी तो मादरे-हिंद की बेटी है
भूरे-भूरे बारह थनों वाली!

लेकिन अभी इस वक्त
छौनों को पिला रही है दूध
मन-मिजाज ठीक है
कर रही है आराम
अखरती नहीं है भरे-पूरे थनों की खींच-तान
दुधमुँहे छौनों की रग-रग में
मचल रही है आखिर माँ की ही तो जान!

जमना-किनारे
मखमली दूबों पर
पसर कर लेटी है
यह भी तो मादरे-हिंद की बेटी है!
पैने दाँतों वाली....

आपने यह कविता पढ़ी। अब आप इन प्रश्नों पर विचार करें :

(क) कविता किसके बारे में है?
(ख) 'यह भी तो मादरे-हिंद की बेटी है' का क्या अर्थ?
(ग) क्या यह कविता केवल एक जानवर की कविता है?

अगर आप इस कविता को ध्यान से पढ़ें तो पाएँगे कि नागार्जुन काव्य का सार तत्व इसमें व्यंजित है। उनकी कविता का सम्पूर्ण सौंदर्य-शास्त्र यहाँ मिलता है। अर्थात् जीवन का क्षुद्रतम अंश भी कविता के लिए पवित्र है तथा जीवन का प्रत्येक कण कवि की संवेदना को जगाने में सक्षम। एक मादा सूअर जो धूप में पसर कर अपने छौनों को दूध पिला रही है - वह भी नागार्जुन की संवेदना की हकदार है क्योंकि यह भी तो मादरे-हिंद की बेटी है। यहाँ इस कविता में जीवन की क्षुद्रता का ऐश्वर्य मिलता है। और इसीलिए यह कविता केवल एक मादा सूअर की कविता नहीं है, यह जीवन मात्र के प्रति, उसके क्षुद्रतम अंश के प्रति कविता का अर्घ्य है। नागार्जुन की संवेदना इतनी व्यापक है कि यहाँ सब कुछ के लिए स्थान है, कुछ भी वर्जित या त्याज्य नहीं है।

अब आप एक दूसरी कविता लें जो नागार्जुन की अत्यंत प्रसिद्ध कविता है 'अकाल और उसके बाद'। इसे ध्यान से पढ़ें :

'अकाल और उसके बाद'
कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त

दाने आए घर के अंदर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठीं घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद

अब आप निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें :

(क) इस कविता में मनुष्य का ज़िक्र कहीं है कि नहीं?
(ख) कुल कितने पशु-पक्षियों का ज़िक्र मिलता है?
(ग) चूल्हा और चक्की यहाँ सजीव हैं या निर्जीव?
(घ) मानव-जीवन का कौन-सा पक्ष यहां प्रस्तुत है?

अकाल पड़ने पर नागार्जुन की संवेदना केवल मनुष्य के लिए ही प्रगट नहीं होती, बल्कि पहले चरण में तो मनुष्य कहीं है ही नहीं, परोक्ष रूप से चूल्हा और चक्की के माध्यम से ही उसकी उपस्थिति का एहसास होता है। निरंतर मनुष्य के साथ रहने वाले चूहे, छिपकलियाँ, और कानी कुतिया और कौआ ही हैं जिनके माध्यम से नागार्जुन अकाल की स्थिति को व्यक्त करते हैं। इन पशुओं की विकलता ही कवि की संवेदना को जाग्रत करती है। जब ये प्राणी प्रसन्न, मनुष्य भी प्रसन्न - ऐसा भाव मिलता है। सम्पूर्ण जगत को, सृष्टि को एक अखंड सत्ता मानने के कारण ही ऐसा संभव हुआ है।

इसी तरह आप नीचे दी गई नेवला कविता पढ़ें तो पाएँगे कि यह कविता एक प्राणी के जीवन को व्यक्त करती है और उसके माध्यम से जेल में बंद उन सभी लोगों के जीवन और स्वाधीनता की आकांक्षा को। अब आप नागार्जुन की उन सभी कविताओं की सूची बनाएँ जिनमें पशु-पक्षी नायक या सहनायक हैं। साथ ही यह भी पता लगाएँ कि हिंदी के अन्य किन कवियों में इतने पशु-पक्षी मिलते हैं।

'नेवला'

कौन नहीं लाड़ लड़ाना चाहता है इससे?
कौन नहीं गोद में उठा लेना चाहेगा इसको?
कौन नहीं खुश होता है
इसकी आँखों में आँखें डालकर?
जम्बू, जमूरा, मोतिया, दुलरुआ...
जाने कितने नाम मिल गए हैं इसे!
— हम सारे ही बंदियों का
बड़ा ही लाड़ला खिलौना है यह तरूण नेवला...

एक बार मोतिया ने
मेरी नाक की नोक में
गड़ा दिए थे अपने दाँत —
नहीं, वो गुस्से में नहीं था
वह लाड़ लड़ाने के मूड में था
लेकिन मैं तो उस दोपहरी में
लेटा था, झपकियाँ ले रहा था
मैं कतई नहीं था खिलवाड़ के मूड में
सो, शैतान ने
अपने पैने दाँत गड़ा दिए थे
इस बूढ़े बंदर की नाक की नोक पर
बड़ा ही गुस्सा आया था...
खैर, खरोंच-वरोंच नहीं पड़ी थी
पीछे, सुदामा से बतलाया तो उसने ठहाके मारे
फिर, देर तक मैं भी हँसता रहा था।
अखलाक को मालूम हुआ
अखिलेश (पांडे) को मालूम हुआ
दीना और मुंद्रिका को मालूम हुआ
हँसते-हँसते सभी के पेटों में बल पड़ गए!

मैं खुद भी हँसता रहा था देर तक
खैर, खरोंच-वरोंच नहीं आयी थीं!

तू रह-रहकर कहाँ गुम हो जाता है?
हफ्ता-हफ्ता, दस-दस रोज़ गायब रहता है!
देख जमूरे, तेरी आवारगी बेहद खलती है हमें
अब तुझ पर पिटाई पड़ने ही वाली है मोतिया!
हाँ, बतलाए दे रहा हूँ
अब कोई तुझे माफ़ नहीं करेगा —
अच्छा, बतला तो भला!
कहाँ-कहाँ रहा पिछले दिनों?
जेलर के क्वार्टर में यानी आनन्दी प्रसाद के घर में?
याकि मंजर बाबू के उस छोटे क्वार्टर में?
बोले वे, कहाँ रहा इतने दिन?
च्वुः च्वुः च्वुः च्वुः! आः आः आः आः
मोतिया, ओः ओः ओः
मोतिया! मोतिया!
हाँ, इसी तरह बड़ों की बात मानते हैं —
इन्सान तो क्या, हैवान तक निगाहें झुकाकर
करीब सरक आते हैं : हाँ, इसी तरह गर्दन झुका देते हैं
हाँ, इसी तरह!
बिल्कुल इसी तरह —
कम से कम घंटा भर तो अभी आराम कर ले
इस बूढ़े बंदर की गोद में!

अखलाक, अखलाक!
ये देखो, मोतिया मेरी गोद में लेटा है
जाने कितना थका है आज!
सारा दिन जाने कहाँ-कहाँ के चक्कर लगाता रहा है
अखलाक, लाओ तो प्लेट में खीर
हाँ, देखना, चार-पाँच चम्मच से ज्यादा न डालना!
क्या होगा सरऊ को ज्यादा खीर चटाकर?
ओह, नहीं अखलाक, मेरा मतलब यह नहीं था
जरी-सी इत्ती-सी खीर!
अमाँ, तुम तो भारी किरपिन हो यार....
थोड़ी-सी और डालो बेटे!
'जमूरे को पाकर'
अपनी पीली लुंगी संभालते-संभालते
मुस्कुराकर बोला अखलाकः
'बेहद सेंटिमेंटल हो उठते हैं बाबा आप तो!
और, इधर —
प्लेट में चम्मच की खटपट सुनते ही
मोतिया ने लगाई छलाँग!
खीर अभी बिल्कुल गर्म है....
पतीला अभी बिल्कुल गर्म है....
पतीला चूल्हे से उतारकर रख गया है रामबचन
ताज़ा-ताज़ा दूधिया भाप
हवा में घुल उठा है.....

मोतिया भली-भाँति ट्रेण्ड है
गर्मा-गर्म खीर को वो अपनी चंगुल से
नीचे सीमेंट वाली फर्श पर बिखेर चुका है

चप-चप-चप-चप...शप-शप-शप-शप
चाट रहा है खीर मोतिया जल्दी-जल्दी में
जाने कैसी हड़बड़ी में है वो
जाने कितना भूखा है वो
चंगुल से बिखेर-बिखेरकर फर्श पर खीर
शपाशप-चपाचप चाट रहा है
उसकी यह फुर्ती देखते ही बनती है
रामबचन, सुदामा, मुंद्रिका, अखिलेश पाण्डे
मोहनिया बाबू, नौशाद, अखलाक,
दसई, हकेन्दू, कर्मा, सलीम —
मोतिया के ईद-गिर्द आके जमा हो गए हैं
कमर में झटका देता हुआ सुदामा
और दो कलछी खीर निकाल ले आता है :
ओह! ओह! च्च-च्च-च्च
बड़ा भुखायल मालूम पड़ता है जमूरा
खा रे खा! तेरे खातीर
बाबा आज खीर-पाटी दे रहे हैं
अरे, हमारे इस तीन नम्बर वार्ड में
नित्तह खीर घुटती है शाम को तो....
ब्बा रे ब्बा, क्खा रे क्खा.... जमूरा मेरे!'
सुदामा कहता है —
'लगता है कई दिन बाद आज
जमूरे को खीर का 'सबाद' मिला है —
मगर, जमूरे, आज तेरे को सारी रात हम
मिसा-बंदी बना के रखेंगे
सबेरे चार-पाँच बजे रिहा करेंगे
क्या बाबा जमूरे को अभी भागने देंगे?
जो हुकुम होगा आपका, वही न करेंगे हम...

अब होली के दिन आ गए
शाम को पाँच बजे से ही मच्छरों का हमला शुरू हो जाता है
अतः सुबह तक उनकी कारस्तानी चलती रहती है
लेकिन मोतिया है कि इन मच्छरों से सुरक्षित है
अभी रात के दो बजेंगे —
मगर देखो तो शैतान किस कदर
सुख की नींद सो रहा है
अखलाक की मसहरी के अन्दर
बेसुध-बेखबर नींद खींच रहा है!
इसे क्या पर्वाह है इन साले मच्छारों की!
रात्रिशेष में, ठीक पाँच बजे, मोतिया बाहर निकल भागेगा
या कि आधा घण्टा पहले ही
अपनी पतली थूथून घुसेड़कर मसहरी से सरकेगा
सलाखों की फाँक से बरामदे में पहुँचेगा
और फिर नींबू की छोटी झाड़ से आगे होगा
अखाड़े के करीब रातरानी के छाँटे-तराशे पौधे के पास
या कि बैंगन की क्यारियों के करीब
पाखाना-पेशाब से निबट लेगा
और, तब फिर, शुरू हो जाएगी जमूरे की दिनचर्या
हो सकता है, वो अगले दो तीन-दिन दिनों तक
इस वार्ड के विशाल प्राँगण में कहीं नजर ही न आए।
मंजरबाबू के क्वार्टर में बचपन गुजार चुका है न!
मंजर साहब ने छोटी-छोटी ताजा मछलियाँ खिलाकर

बड़े जतन से पाला-पोसा था —
मोतिया के बीसियों नाज-नखरे झेले हैं मंजरबाबू ने
उन दिनों वो नए-नए बक्सर आए थे
अपना क्वार्टर नहीं था उनका
एक हम पेशा (सब-जेलर) सज्जन के साथ,
रहना पड़ता था बेचारे को। जैसे-तैसे वक्त गुजार रहे थे
फेमिली को नहीं लाए थे मंजरबाबू
फिर एक दिन वो हमपेशा साहबान
अकेले में स्वर धीमा करके बोले थेः
देखिए साहब, हमारे बच्चे अभी छोटे हैं
होगा मोतिया आपका लाड़ला
लेकिन खतरनाक जानवर है न!
यह हमारे बच्चों की जूजी न काट खाए
नहीं साहब, इसे हटाइए यहाँ से! .....
फिर हुआ यही कि चार दिनों की छुट्टी लेकर
मंजर बाबू सीधे नवादा पहुँचे
इकलौती बिटिया वाले सास-ससुर को मना-मुनू कर
अपनी बेगम साहबा को बक्सर ले आए
यानि कि इस मोतिया की खातिर
मंजर साहब उन हमपेशा साहबान के यहाँ से
खुद ही हट गए! हूँ, जानवर तो जानवर ठहरा न!
गुफ्तगू में मंजर बाबू ने यह सब बतलाया उस रोज़....
तो जाहिर है कि मंजर साहब का क्वार्टर
मोतिया का वह अपना ही क्वार्टर है।

यह लीजिए
ठीक 3.22 पर 'खन्न' की आवाज हुई
छोटी केतली का ढक्कन मीट-शेफ से नीचे गिरा है
ज़रूर ही मोतिया की करतूत है
दूध की गन्ध पाकर वह मीट-शेफ के माथे पर
पहुँच गया है लगा के छलाँग
ढक्कन खोलने की कोशिश में
केतली फर्श पर गिरा दी है
अखलाक के 'सुपुत्र' ने
आखिर आधा चम्मच दूध तो उसे मिला ही होगा
मगर फिर इत्ती रात मोतिया भागकर गया किधर?
देखूँ तो अपनी मसहरी से बाहर निकलकर....
(लालटेन को अन्दर रखकर लिखना-पढ़ना होता है न!)
क्या पता, बिल्ली की कारगुजारी हो!
वो भी तो दूध की चटोरी होती है.....
अकेले क्या मोतिया ही दूध का शौक़ीन है यहाँ?

ओह, अब मैं क्या बतलाऊँ आपसे!
सचमुच यह मोतिया ही था
फर्श पर केतली गिराकर वही भागा है —
हाँ, वो सचमुच ही गायब है —
अखलाक की मसहरी के कोने में
सिरहाने की तरफ दुबककर
अभी-अभी वह किस तरह सोया पड़ा था!
गुड़ी-मुड़ी होकर, दुबककर गहरी नींद में कैसे सोया था!
आवारा कहीं का......
अभी-अभी ग्यारह बजे, जब हम दूध ले रहे थे

अखलाक ने पुलकित स्वरों में कहा थाः
'बाबा, अब यह सारी रात इसी तरह सोएगा
कहीं नहीं जाएगा यहाँ से.....'
मैंने अखलाक वाली लालटेन की बत्ती खूब तेज कर दी
कि शायद मोतिया नींद की खुमारी में उठा हो
और पहलू बदलकर पायताने की तरफ जा लेटा हो
नहीं, वो सचमुच निकल गया है
अखलाक मसहरी के अन्दर अकेला है --
लो बेटे, तुम्हारा सुपुत्र चुपचाप खिसक गया, न!
अब वो कई रोज बाद तुम्हारी सुध लेगा।

अरे वाह, वाह रे जमूरे, वाह!
तू वापस कब लौटा पाजी?
फिर दुबक गया अखलाक के कम्बल में!
क्यों न हो, चार बजे हैं तो रात नहीं भीगेगी!
बसन्त-शेष जो ठहरा यह मौसम....
हवा में कैसी खुनकी है।
रात के चौथे पहर का ठण्डा पवन –
'गुलाबी जाड़ा' तो भला कौन कहेगा इसे!
नहीं, नहीं, अब मैं फिर लालटेन की बत्ती तेज नहीं करूँगा
तेरी पूंछ तो साफ-साफ दिखाई दे गई है मुझे!
लेकिन, मोतिया, तू वापस कब लौटा?
अरे वाह, वाह रे जमूरे, वाह!
तेरे नेचर का पूरा-पूरा पता कहाँ लगा सका हूँ अब तक –
अखलाक नौ महीनों से तुझे जानता है
मुझे तो यहाँ एक सौ दस ही रोज हुए हैं न?
मैं नहीं परिचित हो सका हूँ उतना तुझ से।
लेकिन हाँ, अब भाग मत जाइयो सबेरे-सबेरे
आज तेरे को मैं मछली खिलाऊँगा

एक नहीं, दो दिलाऊँगा....हाँ, रे जमूरे, हाँ!
देखना, सुबह-सुबह भाग नहीं जाना अब!
खीर तो खैर दुपहर बाद रोज पकती है
मगर आज भी मुंद्रिका मछलियाँ जरूर लाएगा
कल भी लाया था, वह अक्सर लाता है मछलियाँ

ताजा गोश्त का लाल टुकड़ा
मजबूत सुतरी के छोर में बँधा है
फर्श से ढाई-तीन फुट ऊपर लटकाए
अखलाक ने वो सुतरी ऊँचे थाम रक्खी है...
मोतिया बार-बार छलाँग लगा रहा है
लपक रहा है बार-बार गोश्त के टुकड़े की ओर
पूरी ताकत लगाकर उछल रहा है
गुस्से में चीख रहा है..... किर्र....किर्र....किर्र!
उबाल खाकर कुलाँचे भर रहा है बार-बार
बीच-बीच में ज़रा-सी देर के लिए
बस, लम्हे-भर के लिए
पल-भर के लिए यानी दस-पाँच सेकण्ड के लिए
मोतिया दम मार लेता है
फिर पूरी ताकत लगाकर
लपकता है गोश्त के टुकड़े की ओर
मगर वो कामयाब कहाँ हुआ?

यह खेल क्या देर तक चलता रहेगा?
नहीं, अब खत्म होगा शो...
तमाशबीन अपनी-अपनी राह धरेंगे
मोतिया गोश्त का टुकड़ा, सुतरी सहित, लेकर
उधर रातरानी की झाड़ की ओट में जा बैठेगा
लीजिए, आखिर उसने लपक ही लिया
पकड़ इतनी पक्की है कि वे खुद ही टँग गया है
बड़ी मजबूती से लटका है मोतिया अधर में
गोश्त के टुकड़े में गड़े हैं उसके दाँत
वो हवा में झूल रहा है
उस्ताद और जमूरे की यह नटबाजी
ढेर सारे लोगों का ध्यान अपनी तरफ खींच चुकी है...

बीच में हमने यह भी देखा, कि
उछल-कूद में विफल होकर
वह अपने उस्ताद के कन्धे पर चढ़ गया
(ठीक इसी तरह जामुन के पेड़ पर चढ़ता है गोह
छिपकली की टोह में, चुपचाप, लेकिन फुर्ती से)
कन्धे से बाँह पर, या वापस फिर कमर पर
पोजीशन जमाकर उसने गर्दन लम्बी कर ली
इस तरह बीच में ही गोश्त वाली सुतरी को
हड़प लेने की कोशिश कर रहा था मोतिया

आखिर परेशान वो गरीब
फर्श पर दम लेने की खातिर लेट गया
उछल-कूद के, अपने पैंतरे सहेज कर
(स्पन्दनशून्य, चेष्टाविहीन उसकी वो भूमिका
किसी सिद्ध हठयोगी की शवाऽऽसन वाली मुद्रा थी क्या!)
हमने मान लियाः मोतिया थककर लस्त-पस्त हो चुका है...
अखलाक, इस पर रहम करो
अब बेचारे को ज्यादा न सताओ
गोश्त का टुकड़ा इंसके हवाले कर दो
नहीं, नहीं, अब यह खेल खत्म हुआ...
फिर यक-ब-यक जमूरे ने ऊँची छलाँग लगा दी
'हाई जम्प' के अपने पिछले रिकार्ड तोड़ गया
मय सुतरी के, गोश्त का वो टुकड़ा उसने झटक लिया था
हमारे लाड़ले अखलाक बाबू सौ फीसदी धोखा खा गए थे
उस रोज उनका पालतू 'सुपुत्र' उनसे 20 निकला आखिर

1 .3.3 दैनन्दिन जीवन

जैसा कि हमने अभी देखा, नागार्जुन के लिए जीवन का प्रत्येक कण पवित्र है और कविता का सहज स्वाभाविक अवलम्ब। जब 'नेवला' या 'मादा सूअर' उनकी संवेदना को झकझोर सकती है तो फिर 'थाना धमदाहा, बस्ती रूपउली' का प्राइमरी स्कूल मास्टर या 'खुरदुरे पैरवाला' रिक्शावाला या 'नगधड़ंग छोकरा' क्यों नहीं? जीवन के तलछट कहे जाने वाले गरीब-गुरबों का जीवन नागार्जुन के हृदय को द्रवित कर देता है। बड़ी विकलता से नागार्जुन दैनंदिन जीवन के कार्य-व्यापारों का और गरीबी का चित्रण करते हैं। घर में बच्चा बीमार है और गृहिणी फटी दरी पर बैठ कर चावल चुन रही है। फिर बच्चे की दंतुरित मुस्कान है ज़ो 'मृतक में भी डाल देगी जान'। बस-ड्राइवर की सीट के सामने उसकी बिटिया ने टाँग दी हैं अपनी गुलाबी चूड़ियाँ जो पूरे सफर में ड्राइवर की साथी हैं' और स्नेह-पाथेय। और बैलाड़ीला वाली सड़क पर दंतेवाड़ा से 55 किलोमीटर आगे शालवानों के निविड़ टापू में खोता हुआ अधेड़ माड़िया है। तो, आप देख रहे हैं कि नागार्जुन को कितनी छोटी-छोटी बातें और चीज़ें रोक लेती हैं, अपनी तरफ खींचती हैं। और इन छोटी-छोटी बातों से उनकी सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि बनती है।

एक कविता इस लें 'इन सलाखों से टिका कर भाल' पहले कविता को ध्यान से पढ़िए। फिर इन सवालों पर विचार कीजिए :

'इन सलाखों से टिका कर भाल'
इन सलाखों से टिकाकर भाल
सोचता ही रहूँगा चिरकाल
और भी तो पकेंगे कुछ बाल
जाने किसकी/ जाने किसकी
और भी तो गलेगी कुछ दाल
न टपकेगी कि उनकी राल
चाँद पूछेगा न दिल का हाल
सामने आकर करेगा वो न एक सवाल
मैं सलाखों में टिकाए भाल
सोचता ही रहूँगा चिरकाल।

(क) इस कविता का आशय क्या है?
(ख) कविता के मुख्य उपकरण क्या हैं?
(ग) कवि की जीवन-दृष्टि क्या है?

जैसा कि आप देख रहे हैं कविता शुरू होती है सलाखों में टिके भाल के बिम्ब से - यानी परवशता, अधीनता की स्थिति है। इसके ठीक बाद है - 'सोचता ही रहूँगा चिरकाल'। यह सोचना उस 'भाल' का विद्रोह है और मुक्ति भी जो सलाखों में बंद है। बालों का पकना बढ़ती उम्र को और समय के प्रवाह को दिखलाता है। 'दाल का गलना' विरोधियों की सफल होती चाल को। राल का टपकना उनकी लिप्सा और हिंसा को। और चाँद का हाल न पूछने आना झूठी आशा के अंत को। फिर भी 'सोचना' जारी रहेगा - 'सोचना' यानी प्रतिरोध यानी मुक्ति का यत्न। इस तरह एक छोटी-सी कविता छोटे-छोटे बिम्बों के माध्यम से इतनी बड़ी बात कहती है। यहाँ संवेदना बहुत जटिल है, निरंतर स्थानांतरित होती हुई, परंतु अंततः 'सोचता ही रहूँगा चिरकाल' के दृढ़ उद्घोष में स्थिर होती। यह विद्रोह की संवेदना है जो नागार्जुन काव्य का एक मुख्य तत्व है। नागार्जुन ने भारतीय जन के विद्रोह को, छोटे से छोटे और बड़े से बड़े विद्रोह को वाणी दी है। जहाँ कहीं संघर्ष है नागार्जुन संवेदित होते हैं और व्यग्रता से कहते हैं :

यही धुआँ मैं ढूँढ रहा था
यही आग मैं खोज रहा था

1 .3.4 राजनीति

नागार्जुन काव्य का एक बड़ा अंश राजनीतिक है। देखना दिलचस्प होगा कि नागार्जुन की राजनीतिक कविता किस माने में रघुवीर सहाय से या मुक्तिबोध से भिन्न है। आप इन तीनों कवियों को पढ़ें। धूमिल को भी पढ़ें और तुलना करके देखें तो महत्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आएँगे। नागार्जुन की राजनीतिक कविता में संघर्ष, विद्रोह तथा जनता की जय में विश्वास मिलता है। छोटी से छोटी लड़ाई भी नागार्जुन को बेचैन कर देती है - 'बस सर्विस बंद रही तीन दिन तीन रात' से लेकर 'भोजपुर' तक। यहाँ हम उनकी एक प्रसिद्ध कविता पढ़ें :

'शासन की बंदूक'
खड़ी हो गई चाँपकर कंकालों की हूक
नभ में विपुल विराट-सी शासन की बूंदूक
उस हिटलरी गुमान पर सभी रहे हैं थूक
जिसमें कानी हो गई शासन की बंदूक
बढ़ी बधिरता दसगुनी, बने विनोबा मूक
धन्य-धन्य वह, धन्य वह, शासन की बंदूक
सत्य स्वयं घायल हुआ, गई अहिंसा चूक
जहाँ-तहाँ दगने लगी शासन की बंदूक
जली ठूँठ पर बैठकर गई कोकिला कूक
बाल न बाँका कर सकी शासन की बंदूक।

यहाँ 'जले ठूँठ पर बैठ कर गयी कोकिला कूक, बाल न बांका कर सकी शासन की बंदूक' में वह कोकिला ही जीवन का पक्ष है, संघर्षरत भारतीय जन का प्रतीक। नागार्जुन अपनी सारी संवेदना उस पर न्योछावर करते हैं :

गुम्फित कर रखी है हमने
ये निर्मल-निश्चल प्रशस्तियाँ

हालाँकि कुछ आलोचकों की राय है कि नागार्जुन की राजनीतिक कविताओं का अच्छा-खासा हिस्सा सामान्य कोटि का है। हो सकता है हो, पर वहाँ भी नागार्जुन की संवेदना का विस्तार तो मिलता ही है। इतनी बड़ी संख्या में राजनीतिक विषयों पर कविताएँ हिंदी के किसी दूसरे कवि ने संभवतः नहीं लिखीं। इन सबके पीछे संवेदना का ताप तो है ही। यहाँ हमें याद रखना है कि प्रायः कविता में संवेदना को प्रकृति, प्रेम तथा कोमल प्रसंगों से जोड़ कर देखा जाता है जबकि जीवन का प्रत्येक अंश, प्रत्येक घटना एक कवि को संवेदित कर सकती है। नागार्जुन की कविताएँ दिखलाती हैं कि संवेदना के अनेक रूप, अनेक स्तर हो सकते हैं। यदि नागार्जुन को बादल प्रिय है तो साधारण जन भी, उनका रोजमर्रे का संघर्ष भी और बड़े आंदोलन भी। तेलंगाना आंदोलन तथा नक्सलबाड़ी आंदोलन को नागार्जुन ने विशेषकर अपने काव्य में स्थापित किया :

आज बंधनमोक्ष के त्योहार का आरंभ होता है
'उपद्रव' 'उत्पात' कह कर कुबेरों का वर्ग रोता है-
सर्वहारा ने निकाला है स्वंय ही मुक्ति का यह मार्ग

साथ ही यह भी सही है कि हिंदी में गांधीजी पर जितनी कविताएँ लिखी गयी हैं उनमें नागार्जुन की कविता 'गाँधी' अलग से याद आती है :

बोले तुम केवल पाँच मिनट
चुप रहे आदमी दश हजार, बस पाँच मिनट!

इससे लगता है कि नागार्जुन की संवेदना बहुत व्यापक है और जहाँ कहीं जन-शक्ति का उद्रेक है वहीं नागार्जुन की कविता का उद्‌गम।

1 .3.5 व्यंग्य की धार

नागार्जुन के साथ एक विशेष बात यह है कि वह व्यंग्य के भी बेजोड़ कवि हैं। संभवतः कबीर के बाद व्यंग्य का इतना बड़ा कवि दूसरा नहीं, ऐसा आलोचकगण कहते हैं।

'यह निर्विवाद है कि कबीर के बाद हिंदी कविता में नागार्जुन से बड़ा व्यंग्यकार अभी तक कोई नहीं हुआ।' (डॉ0 नामवर सिंह, भूमिका, प्रतिनिधि कविताएँ) हम आपसे एक दो सवाल पूछना चाहते हैं :

(क) व्यंग्य में संवेदना कैसे व्यक्त होती है?
(ख) क्या प्रेम और व्यंग्य दोनों एक ही कविता में संभव हैं?

वास्तव में संवेदना की तीव्रता तथा एक पक्ष से प्रेम की अधिकता एवं दूसरे से घृणा ही हमें व्यंग्य की ओर ले जाती है। जैसाकि अभी 'शासन की बंदूक' कविता में हमने देखा 'कोकिला' से प्रेम और 'बंदूक' से घृणा के द्वंद्व में ही कविता स्थित है। नागार्जुन कहते हैं :

नफरत की अपनी भट्ठी में
तुम्हें गलाने की कोशिश ही
मेरे अंदर बार-बार ताकत भरती है
.....
प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है मेरे कवि का
जन-जन में जो ऊर्जा भर दे, मैं उद्‌गाता हूँ उस रवि का

नागार्जुन पूरी शक्ति से इस व्यवस्था पर प्रहार करते हैं। जैसा कि डॉ0 नामवर सिंह लिखते हैं, 'इस प्रहार में धार वहाँ आती है जहाँ आवेश संयत होकर व्यंग्य का रूप ले लेता है और 'कत्थई दाँतों की मोटी मुस्कान बेतरतीब मूँछों की थिरकन बन जाती है'।...इसी तरह भारत में ब्रिटेन की रानी के आने पर स्वागत की धूम-धाम देखकर नागार्जुन ने कहा, 'आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी, यही हुई है राय

जवाहरलाल की'।" व्यंग्य में संवेदना की धार उलटी चलती है, जन से प्रेम ही शासन के प्रति घृणा में बदल जाता है।

1 .3.6 जीवन के कोमल पक्ष : प्रेम एवं सौंदर्य

नागार्जुन की राजनीतिक एवं व्यंग्यपरक कविताओं के कारण अनेक बार हमारा ध्यान उन कविताओं की ओर नहीं जाता जिनमें स्त्री के प्रति प्रेम अथवा देह के सौंदर्य का वर्णन नागार्जुन ने किया है। नागार्जुन की अनेक कविताएं बहुत कोमल संवेगों की कविताएँ हैं। आप ऐसी कविताओं की एक सूची तैयार करें और ऐसी ही एक सूची शमशेर या धर्मवीर भारती की कविताओं की भी तैयार करें।

'सिंदूर तिलकित भाल', 'तन गई रीढ़', 'यह तुम थीं', 'पिछली रात', 'न आए रात भर मेल ट्रेन', 'एक फांक आँख एक फांक नाक', कुछ ऐसी ही कविताएँ हैं जिनमें संवेदना का एक नया आयाम देखने को मिलता है। अच्छा होगा अगर आप नागार्जुन की इन कविताओं की तुलना शमशेर की प्रेमपरक कविताओं से करें। शमशेर अपनी गहन ऐंद्रिकता के लिए प्रसिद्ध हैं, इसलिए यह तुलना रोचक होगी। मैं यहाँ दोनों की एक-एक कविता दे रहा हूँ और आपसे अपेक्षा है कि इनका तुलनात्मक अध्ययन करें एवं जो भी निष्कर्ष मिलें उन्हें लिख लें।

नागार्जुन	शमशेर
कविता : तन गई रीढ़ झुकी पीठ को मिला किसी हथेली का स्पर्श तन गई रीढ़ महसूस हुई कंधों को पीछे से, किसी नाक की सहज उष्ण निराकुल साँसें तन गई रीढ़ कौंधी कहीं चितवन रंग गए कहीं किसी के होंठ निगाहों के जरिए जादू घुसा अंदर तन गई रीढ़ गूँजी कहीं खिलखिलाहट टूक-टूक होकर छितराया सन्नाटा भर गये कर्णकुहर तन गई रीढ़ आगे से आया अलकों के तैलाक्त परिमल का झोंका रग-रग में दौड़ गई बिजली तन गई रीढ़	**कविता : थरथराता रहा** थरथराता रहा जैसे बेंत मेरा काय ... कितनी देर तक आपादमस्तक एक पीतल पात मैं थरथर। काँपती काया शिराओं भरी झन-झन देर तक बजती रही और समस्त वातावरण मानो झंझावत ऐसा क्षण वह आपात स्थिति का।

एक अन्य कविता हम लें। 'न आये रात भर ट्रेन' आप इसे ध्यान से पढ़िए और नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर ढूँढिए :

'न आये रात भर ट्रेन'

बैठा बैठा मेल ट्रेन की प्रतीक्षा में
बाहर निकल आए हैं आँखों के डोरे
घंटा भर लेट
आधा घंटा और लेट
पैंतालीस मिनट और लेट

आह रे विधाता, क्या हुआ तुझे?
कई दफा चटखाई उँगलियाँ
कई बार आईं जँभाई
चाट गया अनेकों मैगजीनें
गुड़क आया हूँ सात कप चाय
खींच गया हूँ दो पाकिट सिगरेट
आह रे विधाता, अब क्या करूँ?
रँगी-रची पेटी से उँगठी
गौना कराई दुलहन
सोई है या जगी
घूँघट की आड़ में!
लेकिन दूल्हा भर रहा है खर्राटें
पास ही काले कम्बल पर
सिरहाने सेंतकर सामान
इनकी रखवाली कर रही है
सिक्कों की माला और पत्तीदार बाजूबंद पहले
दुलहन की अर्द्धव्यस्क नौकरानी
लाल किनारी की पीली साड़ी में
बिल्कुल मांगुर मछली सी है उसकी देह की कान्ति
लगती है कितनी अच्छी
अब क्यों निकलेंगे आँखों के डोरे
न आए रातभर मेलट्रेन!

(क) गाड़ी के इंतज़ार में बेचैनी और थकावट का वर्णन कैसे हुआ है?
(ख) कविता में दो स्त्रियाँ हैं? किसका वर्णन अधिक विस्तार से हुआ है और क्यों?
(ग) वाचक की दृष्टि दुल्हन की 'अर्द्धवयस्क' नौकरानी पर ही क्यों टिकती है?
(घ) आसक्ति किन पंक्तियों में व्यंजित है?

नागार्जुन में स्त्री-सौंदर्य हमेशा अपनी आह्लाददायी तीव्रता के साथ उपस्थित मिलता है। 'एक फाँक आँख एक फाँक नाक' में एक स्त्री मुखड़े के अर्द्धांश के बारे में नागार्जुन कहते हैं :

कितनी दर तक रही नाचती कपाल के भीतर की कटोरी में
धारण किए क्रमशः तकली का रूप
एक फाँक आँख .... एक फाँक नाक ....

सौंदर्य, चाहे जिस रूप में प्रकट हो, नागार्जुन की कविता की कटोरी में तकली की तरह नाचता रहता है। यह उनकी संवेदना का एक सर्वथा भिन्न पर महत्वपूर्ण धरातल है।

1 .4 संवेदना की जटिलता : कुछ और पक्ष

अब हम तीन ऐसी कविताओं को लें जो एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं, जो नागार्जुन-काव्य की शिखर उपलब्धियों में गिनी जाती हैं। अब तक हमने देखा कि कैसे जीवन के विभिन्न पक्ष नागार्जुन को संवेदित करते हैं और नागार्जुन की कविताएँ उन्हीं संवेदनों का विविध प्रकाश है। कई बार संवेदना एकरेखीय होती है, यानी एक कविता में एक ही तरह की संवेदना व्यक्त है, जैसे प्रेम की कविता है तो केवल प्रेम के ही संवेग मिलते हैं। लेकिन अब जो कविताएँ हम ले रहे हैं उनमें संवेदना का जटिल रूप देखने को मिलता है। कविताएँ हैं : 'उनको प्रणाम', 'मंत्र' और 'चन्दू मैंने सपना देखा'। रघुवीर सहाय को 'उनको प्रणाम' कविता बहुत प्रिय थी और केदारनाथ सिंह को 'मंत्र' बहुत प्रिय है। आप इन तीनों कविताओं को पढ़ें और निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें।

'उनको प्रणाम'

जो नहीं हो सके पूर्ण-काम
मैं उनको करता हूँ प्रणाम।

कुछ कुंठित औं कुछ लक्ष्य-भ्रष्ट
जिनके अभिमंत्रित तीर हुए,
रण की समाप्ति के पहले ही
जो वीर रिकुल तभिर हुए!
- उनको प्रणाम!
जो छोटी-सी नैया लेकर
उतरे करने को उदधि-पार,
मन की मन में ही रही, स्वयं
हो गये उसी में निराकार!
- उनको प्रणाम!
जो उच्च शिखर की ओर बढ़े
रह-रह नव-नव उत्साह भरे,
पर कुछ ने ले ली हिम-समाधि
कुछ असफल ही नीचे उतरे!
- उनको प्रणाम!
एकाकी और अंकिचन हो
जो भू-परिक्रमा को निकले,
हो गये पंगु, प्रति-पद इतने
अदृष्ट के दाव चले!
- उनको प्रणाम!
कृत-कृत नहीं जो हो पाए,
प्रत्युत फाँसी पर गये झूल
कुछ ही दिन बीते हैं, फिर भी
यह दुनिया जिनको गयी भूल!
- उनको प्रणाम!
थी उग्र साधना, पर जिनका
जीवन नाटक, दुखांत हुआ,
था जन्म-काल में सिंह लग्न
पर कुसमय ही देहांत हुआ!
- उनको प्रणाम!
दृढ़ व्रत औ' दुर्दम साहस के
जो उदाहरण थे मूर्ति-मन्त,
पर निरवधि बंदी जीवन ने
जिनकी धुन का कर दिया अंत!
- उनको प्रणाम!
जिनकी सेवाएँ अतुलनीय
पर विज्ञापन से रहे दूर
प्रतिकूल परिस्थिति ने जिनके
कर दिए मनोरथ चूर-चूर!
- उनको प्रणाम!

'मंत्र

ओं शब्द ही ब्रह्म हैं
ओं शब्द और शब्द और शब्द और शब्द
ओं प्रणव, ओं नाद, ओं मुद्राएँ
ओं वक्तव्य, ओं उद्‌गार, ओं घोषणाएँ
ओं भाषण...
ओं प्रवचन...
ओं हुंकार, ओं फटकार, ओं शीत्कार
ओं फुसफुस, ओं फुत्कार, ओं चित्कार
ओं आस्फालन, ओं इंगित, ओं इशारे
ओं नारे और नारे और नारे और नारे

ओं सब कुछ, सब कुछ, सब कुछ
ओं कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं
ओं पत्थर पर की दूब, खरगोश के सींग
ओं नमक-तेल-हल्दी-जीरा-हींग
ओं मूस की लेंड़ी, कनेर के पात
ओं डायन की चीख, औघड़ की अटपट बात
ओं कोयला-इस्पात-पेट्रोल
ओं हमी हम ठोस, बाकी सब फूटे ढोल,

ओं इदमन्नं, इमा आपः, इदमाज्यं, इदं हविः
ओं यजमान, ओं पुरोहित, ओं राजा, ओं कविः
ओं क्रांतिः क्रांतिः सर्वग्वं क्रांतिः
ओं शांति शांतिः सर्वग्व शांतिः
ओं भ्रांतिः भ्रांतिः सर्वग्वं भ्रांतिः
ओं बचाओ बचाओ बचाओ बचाओ
ओं हटाओ हटाओ हटाओ हटाओ
ओं घेराओ घेराओ घेराओ घेराओ
ओं निभाओ निभाओ निभाओ निभाओ

ओं दलों में एक दल अपना दल, ओम्
ओं अंगीकरण, शुद्धीकरण, राष्ट्रीयकरण
ओं मुष्टीकरण, तुष्टीकरण, पुष्टीकरण
ओं एतराज, आक्षेप, अनुशासन
ओं गद्दी पर आजन्म वज्रासन
ओं ट्रिब्युनल, ओं आश्वासन
ओं गुटनिरपेक्ष सत्तासापेक्ष जोड़-तोड़
ओं छल-छंद ओं मिथ्या ओं होड़म होड़
ओं बकवास ओं उद्‌घाटन
ओं मारण-मोहन-उच्चाटन

ओं काली काली काली महाकाली महाकाली
ओम्मार मार मार, वार न जाए खाली
ओं अपनी खुशहाली
ओं दुश्मनों की पामाली
ओम्मार, मार, मार, मार, मार, मार, मार
ओं अपोजिशन के मुंड बनें तेरे गले का हार
ओं ऐ ह्वीं क्ली हूं आङ्.
ओं हम चबाएँगे तिलक और गाँधी की टाँग
ओं बूढ़े की आँख, छोकरी का काजल
ओं तुलसीदल, बिल्वपत्र, चंदन, रोली, अक्षत, गंगाजल

ओं शेर के दाँत, भालू के नाखून, मर्कट का फोता
ओं हमेशा हमेशा हमेशा करेगा राज मेरा पोता
ओं छूः छः फूः फूः फट् फिट् फुट्
ओं शत्रुओं की छाती पर लोहा कुट्
ओं भैरों, भैरों, भैरों, ओं बजरंग बली
ओं बंदूक का टोटा, पिस्तौल की नली
ओं डालर, ओं रूबल, ओं पाउण्ड
ओं साउण्ड, ओं साउण्ड, ओं साउण्ड

ओम् ओम् ओम्
ओम् धरती, धरती, धरती, व्योम, व्योम, व्योम

ओं अष्टधातुओं की ईंटों के भट्ठे
ओं महामहिम, महामहो, उल्लू के पट्ठे
ओं दुर्गा दुर्गा दुर्गा, तारा तारा तारा
ओं इसी पेट के अंदर समा जाए सर्वहारा
हरिः ओम् तत्सत्, हरिः ओम् तत्सत्।

'चंदू मैंने सपना देखा'

चंदू, मैंने सपना देखा, उछल रहे तुम ज्यों हिरनौटा
चंदू, मैंने सपना देखा, भभुआ से हूँ पटना लौटा
चंदू, मैंने सपना देखा, तुम्हें खोजते बद्री बाबू
चंदू, मैंने सपना देखा, खेल-कूद में हो बेकाबू

चंदू, मैंने सपना देखा, कल परसों ही छूट रहे हो
चंदू, मैंने सपना देखा, खूब पतंगे लूट रहे हो
चंदू, मैंने सपना देखा, लाए हो तुम नया कलैंडर
चंदू, मैंने सपना देखा, तुम हो बाहर, मैं हूँ बाहर
चंदू, मैंने सपना देखा, भभुआ से पटना आए हो
चंदू, मैंने सपना देखा, मेरे लिए शहद लाए हो

चंदू, मैंने सपना देखा, फैल गया है सुयश तुम्हारा
चंदू, मैंने सपना देखा, तुम्हें जानता भारत सारा
चंदू, मैंने सपना देखा, तुम तो बहुत बड़े डॉक्टर हो
चंदू, मैंने सपना देखा, अपनी ड्यूटी में तत्पर हो

चंदू, मैंने सपना देखा, इम्तिहान में बैठे हो तुम
चंदू, मैंने सपना देखा, पुलिस-भान में बैठो हो तुम
चंदू, मैंने सपना देखा, तुम हो बाहर, मैं हूँ बाहर
चंदू, मैंने सपना देखा, लाए हो तुम नया कलैंडर

प्रश्न :

(क) इनमें कौन-सी संवेदना अथवा संवेदनाएँ प्रमुख हैं?
(ख) क्या 'मंत्र' एक गंभीर कविता है अथवा हास्य प्रधान?
(ग) क्या 'उनको प्रणाम' नागार्जुन जैसे दिद्रोही कवि के स्वभाव से मेल खाती है?
(घ) 'चंदू मैंने सपना देखा' का मूल भाव क्या है?
(ड.) 'मंत्र अराजक भावस्थिति की कविता है", व्याख्या करें?
(च) क्या 'चंदू मैंने सपना देखा' में चंदू की जगह कोई और नाम दिया जा सकता है?

ये तीनों कविताएँ किसी एक अथवा एक जैसी संवेदना की संवाहक नहीं हैं। ये मिश्रित संवेदनाओं की कविताएँ हैं। मानों अष्ट धातु की कविताएँ। 'उनको प्रणाम' में जय की आकांक्षा, पराजय का स्वीकार, परिस्थितियों की प्रतिकूलता और भविष्य में विश्वास सभी एक साथ व्यक्त हुए हैं। 'मंत्र' में व्यंग्य है, हास्य भी और सर्वोपरि विडम्बना का भाव, अराजक स्थिति का संकेत और आदि से अंत तक पेबस्त करूणा की धारा - 'ओ इसी पेट के अंदर समा जाए सर्वहारा'। 'चंदू मैंने सपना देखा' स्वप्न और यथार्थ, वर्तमान और भविष्य, परिस्थितिवशता और आकांक्षा इन युग्मों के बीच का द्वंद्व मिलता है और बहुत हल्के-फुल्के ढंग से नागार्जुन गंभीर बात कहते हैं : स्वाधीनता की आकांक्षा की पूर्ति। आप देखेंगे कि इसमें सारे बिम्ब एक ही दिशा में जाते हैं जबकि मंत्र में सबकी दिशाएँ अलग-अलग हैं, जबकि 'उनको प्रणाम' में एक पूंजीभूत बिम्ब मिलता है।

1 .5 सारांश

अब तक हमने जो बातें की उन्हें संक्षेप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि हमने नागार्जुन के काव्य में संवेदना के विभिन्न रूपों की चर्चा की। एक कवि जो कुछ देखता-सुनता, ग्रहण करता है सबका उस पर

प्रभाव पड़ता है। उसके मन पर सबकी छाप पड़ती है। वह हर चोट से झंकृत होता है। उसकी कुछ न कुछ प्रतिक्रिया होती है। वह दुखी होता है, खुश होता है। विस्मय, रोमांच, भय सबकी अनुभूति उसे होती है। वह हँसता भी है। क्रुद्ध भी होता है। आक्रमण भी करता है। ये सारे भाव उसमें उत्पन्न होते हैं। बाह्य जगत के संपर्क से उसमें जो कुछ घटित होता है उसे ही संवेदना कहते हैं। जो कवि जितना अधिक संवेदित होता है अर्थात् संवेदनशील होता है वह उतना ही बड़ा होता है।

नागार्जुन की कविता में अनेक संवेदन मिलते हैं। जीवन के अनेक रूप तथा स्थितियाँ। पशु-पक्षी हवा-पानी, खेत-बगीचे, नदी-पहाड़, बादल, मानव-जीवन, बचपन-जवानी, नारी-सौंदर्य, राजनीति, क्रांति, विद्रोह, संघर्ष, आकांक्षा, आशा-निराशा, जय-पराजय, राग-विराग, सब कुछ है यहाँ।

इनमें संवेदना के अनेक धरातल मिलते हैं। यही नागार्जुन की श्रेष्ठता है। यही उनकी कविता की शक्ति है। नागार्जुन न तो सिर्फ व्यंग्यकार हैं, न सिर्फ राजनीतिक कवि, न सिर्फ बादलों के कवि। नागार्जुन सम्पूर्ण जीवन के कवि हैं।

इकाई 2 नागार्जुन के काव्य का रचना-विधान

इकाई की रूपरेखा

2 .0 उद्देश्य
2 .1 प्रस्तावना
2 .2 रचना-विधान के तत्व
15.2.1 भाषा
15.2.2 नाटकीयता
15.2.3 व्यंग्य
2.3 नागार्जुन और रूप प्रयोग
2.4 सारांश
2 .5 प्रश्न

2 .0 उद्देश्य

प्रगतिशील कवि नागार्जुन पर आधारित यह दूसरी इकाई है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जान सकेंगे कि :

- नागार्जुन के यहाँ एक कविता किस प्रकार से रूप या आकार ग्रहण करती है,
- भाषा के कितने रूप (तत्सम, बोलचाल आदि) किस प्रकार सर्जनात्मक ऊर्जा से भर उठते हैं,
- सरल, सहज लगने वाली भाषा अत्यधिक अर्थवान, सप्रयोजन बनकर कविता में आती है,
- नाटकीयता और व्यंग्य का तत्व किस प्रकार उनकी कविता को बहुलार्थमयी, विशिष्ट और बहुआयामी बनाता है, और
- नागार्जुन किसी एक रूप, छंद में बंध कर नहीं चलते उनके यहाँ ढेरों रूप, छंद, का खुलकर इस्तेमाल होता है।

2 .1 प्रस्तावना

हम ने पिछले पाठ में नागार्जुन की कविता में संवेदना के विविध रूपों के बारे में बात की। देखा कि संवेदना कितनी विविध है और जीवन के कितने सारे पक्ष उनकी कविता में अभिव्यक्ति पाते हैं। लेकिन यह सब हुआ कैसे? यह सब संभव कैसे होता है? कविता बनती कैसे है? रचना-विधान का यही अर्थ है - रचना का बनना। हम एक उदाहरण से इसे समझ सकते हैं - जिस तरह कुम्हार (बर्तन बनाने वाला) मिट्टी के एक लोंदे को चाक पर रखकर घुमाते-संवारते उसे एक बर्तन या आकृति में बदल देता है, उसी तरह एक कवि भी जीवन के टुकड़े को कविता में बदलता है। एक कवि मिट्टी की जगह शब्दों का इस्तेमाल करता है। उसका माध्यम, उसकी सामग्री शब्द ही है। यानी भाषा। इन्हीं शब्दों से एक ढांचा तैयार होता है, एक रूप - वही कविता की निर्मिति या विधा है। यानी भाषा में ही कविता संभव होती है। इसलिए रचना-विधान को समझने के लिए सबसे पहले हम कविता को शब्दशः पढ़ते हैं। एक-एक शब्द के ज़रिए पूरे निर्माण को समझने की कोशिश करते हैं।

लेकिन रचना-विधान में और भी कई तत्व हैं। भाषा तो सर्वोपरि है ही। इसके अलावा हम यह भी देखते हैं कि कवि ने मिथक, प्रतीक, फंतासी का व्यवहार किस तरह किया है। उदाहरण के लिए क्या मुक्तिबोध और नागार्जुन फंतासी का इस्तेमाल एक ही तरह से करते हैं? यदि नहीं, तो क्यों? इसी तरह हम यह भी देखते हैं कि स्वर की कितनी भंगिमाएँ यहाँ हैं, नाटकीयता है या नहीं। बोलने की कितनी विधियों, बातचीत के कितने स्तरों का उपयोग हुआ है। नागार्जुन की कविता पर विचार करते समय हमें विशेषकर व्यंग्य की चर्चा करनी होगी। नागार्जुन के रचना-विधान का एक अनिवार्य तत्व है व्यंग्य जो उन्हें मुक्तिबोध और शमशेर या अज्ञेय जैसे कवियों से भिन्न करता है। फिर, हमें काव्य-रूपों का अध्ययन करना होगा। आप तो जानते ही हैं कि आजकल कविताएँ प्रायः गद्य में लिखी जाती हैं। फिर भी प्रत्येक कविता, श्रेष्ठ कविता, दूसरी कविताओं से भिन्न होती है - केवल अपने कथ्य के कारण नहीं, बल्कि अपने गठन के कारण भी। यह भिन्नता कैसे प्रगट होती है। इसके अलावा, नागार्जुन जैसे कवि

अनेकानेक छंदों का उपयोग करते हैं। इतने सारे काव्य-रूप निराला के बाद बहुत कम कवियों ने अपनायें हैं। उनका अध्ययन और विश्लेषण करते हुए नागार्जुन-काव्य के शिल्प को समझा जा सकेगा। नागार्जुन ने भूले-बिसरे काव्य-रूपों को तो अपनाया ही, उन्होंने नये-नये छंदों की भी रचना की। कई बार एक ही कविता में कई काव्य-रूपों को अपनाया। जैसे कि शमशेर बहादुर सिंह कहते हैं, नागार्जुन के यहाँ रूपों की अद्भुत विविधता मिलती है, जितने कथ्य उतने रूप। इसलिए नागार्जुन की प्रत्येक कविता का रचना-विधान अलग होता है। अनूठा।

यहाँ हम उनकी कुछ कविताओं का विश्लेषण करके रचना-विधान के इन तत्वों को समझेंगे।

2.2 रचना-विधान के तत्व

2.2.1 भाषा

रचना-विधान को समझने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि हम किसी रचना को सामने रखें और उसे ध्यान से पढ़ें। कविता जो भी है वह अपने शब्दों में ही है। इसलिए शब्दों के आचरण को समझना ही सबसे महत्वपूर्ण है। तो आइये, हम नागार्जुन की एक बहुत ही प्रसिद्ध कविता 'अकाल और उसके बाद' से अपनी चर्चा आरंभ करें। पहले कविता को सामने रखिए, नज़र के सामने। हाथ में पेंसिल लीजिए और पढ़िए। पहले मन-ही-मन पढ़िए। फिर बोल कर पढ़िए। चुपचाप पढ़ने से आपका ध्यान अर्थ पर रहेगा। बोलकर पढ़ने से आप लय को पकड़ सकेंगे। शब्द के मोटा-मोटी दो पहलू हैं - ध्वनि और अर्थ। कविता दोनों ही पार्श्वों का व्यवहार करती है :

अकाल और उसके बाद

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।
दाने आए घर के अंदर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन के ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए न खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।

देखिए कि नागार्जुन किस तरह रोज़मर्रा के बिम्बों और शब्दों से अपनी कविता बनाते हैं। इस कविता में एक भी शब्द ऐसा नहीं जो आप पहले से न जानते हों। एक भी विवरण ऐसा नहीं जो आपके लिए अपरिचित हो। और लय भी सुगम, जानी-पहचानी-सी। ऐसा क्यों? इसलिए कि नागार्जुन रोज़मर्रा की ज़िंदगी के बारे में लिख रहे हैं, साधारण लोगों के जीवन के बारे में उन्हीं की भाषा में, उन्हीं के जीवन-प्रसंगों का उपयोग कर। कई दिनों तक चूल्हा रोया - यानी कई दिनों तक चूल्हा जुड़ा ही नहीं, जला नहीं क्योंकि अन्न था ही नहीं। चक्की रही उदास - चक्की में कुछ पिसा ही नहीं क्योंकि दाने थे ही नहीं। 'कई दिनों तक कानी कुतिया सोयी उनके पास'। इसका मतलब? एक तो यह कि चूल्हा-चक्की खाली पड़ी थी तो कुतिया वहाँ आकर सो गयी, उसे भगाता कौन? दूसरा यह कि जब घर भर ही भूखा था तो कुतियां भी भूखी थी इसलिए सबके दुःख में सहभागी। लेकिन कानी कुतिया क्यों? सिर्फ कुतिया क्यों नहीं? क्या इसलिए कि सिर्फ कुतिया रखने से छंद टूटता? नहीं। इसलिए कि यह एक गरीब परिवार है जहाँ की कुतिया भी कानी है, कुत्तों की मार-काट में बेचारी की एक आँख जाती रही - कमज़ोर परिवार की कमज़ोर कुतिया। 'कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त' - यानी छिपकलियों को खाने को कीड़े नहीं मिले क्योंकि बत्ती नहीं जली। इसी तरह 'चूहों की भी हालत रही शिकस्त'। ध्यान दीजिए कि इन दो पंक्तियों में युद्ध की शब्दावली का प्रयोग हुआ है - गश्त, शिकस्त। इस तरह कविता पाठक को प्रच्छन्न तरीके से जीवन-संग्राम में ले जाती है - यह संग्राम है अन्न के लिए, भूख की लड़ाई। भूख ही सबसे बड़ा युद्ध है यहाँ। लेकिन 'चूहों की भी हालत रही शिकस्त क्या सही मुहावरा है? शायद नहीं। व्याकरण की दृष्टि से नहीं। लेकिन बोलचाल में चलता है, सो नागार्जुन ने रख लिया।

अब दूसरा बंद। देखिए कि कैसे दूसरे बंद की लय पहले बंद की लय से भिन्न है। पहले बंद की लय धीमी है, सुस्त, क्योंकि अन्न नहीं है। दूसरे में तेज़, निकलती हुई, क्योंकि दाने आ गये हैं। लय में यह परिवर्तन कई कारणों से हुआ जिनमें एक यह है - पहले बंद में 'कई दिनों तक' शुरू में आता है

जबकि दूसरे बंद में अंत में, एक परिवर्तन के साथ, अब है 'कई दिनों के बाद'। और दानों का आना प्रगट होता है आँगन में धुआँ उठने से - धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद। याद कीजिए पहली पंक्ति का चूल्हा, अब वह खुश है, धुआँ उठा। 'चमक उठीं घर भर की आँखें - ध्यान दीजिए कि पहले बंद में कहीं भी घर वालों का जिक्र नहीं है, चूल्हा है, चक्की है, कानी कुतिया है, छिपकली और चूहे हैं, पर आदमी कहीं नहीं है। क्यों? अकाल ने मानों आदमी के अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया है। आदमी का होना अन्न के होने पर निर्भर है। बहुत ही प्रच्छन्न तरीके से नागार्जुन यह कहते हैं। पूरा पहला बंद बिना आदमी का नाम लिए आदमी के बारे में, उसके अस्तित्व, उसकी सत्ता के बारे में है। यह एक बहु विशिष्टप्रविधि है जिसमें सुपरिचित को अपरिचित और निकट को दूर कर दिया जाता है। और अब आता है घर भर-जिसकी आँखें चमक उठी हैं अन्न देख कर। घर भर में कुटुम्बी जन तो हैं ही, कानी कुतिया, छिपकली और चूहे भी हैं और कौए भी - 'कौए ने खुजलाई पाँखें। लेकिन पहले बंद में कौआ क्यों नहीं है? वह तो चालाक है और कहीं चला गया होगा। अब जब दाना आया है तो लौटा है वापस और अपनी पाँखें, खुजला रहा है उम्मीद में।

देखिए कि अन्न का नहीं रहना और फिर अन्न का आना - यही कविता का विषय है। और नागार्जुन किस कौशल से, शब्दों और भाषा के तत्वों के कितने कुशल उपयोग से हमें इन दो स्थितियों का बोध कराते हैं। कविता यही करती है। वह हमें स्थिति या दिशा-विशेष का अनुभव कराती है। वही रचना-विधान सफल है जो कवि के मंतव्य को पूर्णतः व्यक्त करे।

अभी हमने सिर्फ यह देखा कि कैसे एक छोटी सी कविता में भाषा का अथवा शब्दों का इस्तेमाल किया गया है। नागार्जुन हिंदी भाषा के विविध स्तरों का इस्तेमाल करते हैं। बोलचाल के शब्द तो हैं ही, कई बार तत्सम, संस्कृतनिष्ठ शब्दावली है, अंग्रेज़ी के शब्द भी हैं और लोकभाषाओं के भी शब्द। नागार्जुन एक कविता में कहते हैं - 'आंचलिक बोलियों का मिक्सचर/कानों की इन कटोरियों में भरकर लौटा। सुबह-सुबह। तो नागार्जुन की भाषा भी तरह-तरह की बोलियों का 'मिक्सचर' या मिश्रण है। बोलचाल की भाषा की एक छवि तो अभी हमने देखी। 'बादल को घिरते देखा है' की आरंभिक पंक्तियाँ हैं :

अमल धवल गिरि के शिखरों पर
बादल को घिरते देखा है।
छोटे-छोटे मोती जैसे
उसके शीतल तुहिन कणों को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है ....

यहाँ प्रायः तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह छायावाद की भाषा की याद दिलाता है। फिर,

जी हाँ, लिख रहा हूँ ....
बहुत कुछ! बहोत बहोत!!
मगर, आप उसे पढ़ नहीं पाओगे ....
यहाँ बिल्कुल वैसे जैसे कि लोग बोलते हैं।

और इन पंक्तियों में :

तैरती रहीं आरण्यक छवियाँ सूनी निगाहों में
लेकिन वह तो अब तक अलक्षित हो चुका था।
जा चुका था, गहरे निबिड़ अरण्य की अतल झील के अंदर
... स्टार्ट हुई हमारी जीप
बैलाडीला वाली उसी सड़क पर

(शालवनों के निविड़ टापू में)

यहाँ आरण्यक, अलक्षित, निबिड़ जैसे तत्सम शब्दों के साथ-साथ उर्दू का प्रचलित 'निगाह' भी है और अंग्रेज़ी का 'स्टार्ट' भी। यह नागार्जुन की अपनी विशेषता है। उन्हें किसी तरह का परहेज नहीं। लेकिन इन सबके पीछे कोई न कोई तर्क ज़रूर होता है। 'आरण्यक', 'अलक्षित' और 'निबिड़' जैसे शब्द कविता के नायक अधेड़ माड़िया आदिवासी को दूर करते जाते हैं जबकि 'निगाह' शब्द उसकी छवि को बिल्कुल पास लाता है और 'स्टार्ट' इन सबके उलट उस बाह्य संस्कृति को लक्षित करता है जिसका प्रतिनिधि है कविता का प्रवक्ता (नैरेटर) - 'स्टार्ट हुई हमारी जीप'। इस तरह दो प्रतिलोम जीवन

पद्धतियों, संस्कृतियों और स्वाधीनता के बाद भी भारतीय जीवन में बरकरार असमानता को यह कविता व्यक्त करती है। हम लगातार देख रहे हैं कि नागार्जुन के यहाँ शब्द 'सक्रिय' हैं, हमेशा कार्यरत, उन्हें जो करना है वही करते हुए। यहाँ देखिए ठेठ आंचलिक बोली :

बड़ा मुखयल मालूम पड़ता है जमूरा
खा रे खा! तेरे खातिर
बाबा आज खीर-पाटी दे रहे हैं

(नेवला)

मुखयल ठेठ बिहार की बोली ह। इसी तरह नागार्जुन के, जैसे कि डॉ0 नामवर सिंह कहते हैं, 'बात करने के हज़ार ढंग हैं'। कभी तो वह सीधा-सीधा वक्तव्य देते हैं -'प्रतिबद्ध हूँ। आबद्ध हूँ। कभी खुद से बातचीत -'नदी कर ली पार/उसके बाद नाव को लेता, चले क्यों पीठ मैं लाद?' कभी दूसरे को संबोधन - 'कालिदास सच-सच बतलाना'। आत्म-मंथन या आत्म-विश्लेषण - 'इन सलाखों से टिकाकर भाल, सोचता ही रहूँगा चिरकाल'। कभी केवल वर्णन -'बरफ पड़ी है। सर्वश्वेत पार्वती प्रकृति निस्तब्ध खड़ी है'। कभी कविता के अंदर संवाद जैसे 'तेरी खोपड़ी के अंदर' या 'नथुने फुला-फुला के' कविताओं में। कभी नारों जैसी सरलता - 'बस सर्विस बंद रही तीन दिन तीन रात।' तो कभी मंत्र कविता जैसा संश्लिष्ट विधान। जैसा कि नागार्जुन स्वयं कहते हैं :

बातें -
यही अपनी पूंजी, यही अपने औज़ार
यही अपने साधन, यही अपने हथियार
बातें -
साथ नहीं छोड़ेंगी मेरा ....

(बातें)

अब आप इन प्रश्नों को पढ़ें और उनके उत्तर ढूँढें :

(क) ऐसी कविताओं की सूची बनाएँ जिनमें मुख्यतः संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग हुआ हो।
(ख) ऐसी तीन कविताएँ चुनें जिनमें बोलचाल की भाषा का इस्तेमाल हुआ हो।
(ग) मंत्र कविता की भाषा किस तरह की है?
 (अ) तत्सम बहुल
 (ब) बोलचाल की
 (स) मिश्रित
 (द) सधुक्कड़ी
(घ) मंत्र कविता में भाषा का ऐसा प्रयोग किस कारण से हुआ है?
(ड.) उन कविताओं को चुनें जिनमें नाटकीयता का तत्व प्रमुख हो।

2.2.2 नाटकीयता

नागार्जुन की कविताओं में नाटकीयता का तत्व प्रमुख है। किसी भी कविता में मुख्यतः दो में कोई एक तत्व अधिक मुखर होता है। कविता या तो गीतात्मक (लिरिकल) होगी या फिर नाटकीयता सम्पन्न। छायावाद की कविताओं की मुख्य भंगिमा गीतात्मक है। नागार्जुन के यहाँ नाटकीयता मुखर है। प्रायः नागार्जुन एक स्थिति लेते हैं और उसका वर्णन करते हैं। स्थिति में जो द्वंद्व है, अंतर्विरोध है यानी दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों या तत्वों की उपस्थिति है, नागार्जुन उसे पकड़ने और अभिव्यक्त करने का प्रयास करते हैं। इसी कारण नाटक जैसा वातावरण बनता है, क्योंकि यहाँ घात-प्रतिघात है, परस्पर द्वंद्व है। उनकी कविता स्थितियों द्वारा उत्पन्न भावों को प्रकाशित करने की कविता मूलतः नहीं है। इसीलिए उसका रचना-विधान भी भिन्न है, नाटकीयता से सम्पन्न। उदाहरण के लिए, 'भोजपुर' कविता की आरंभिक पंक्तियाँ :

यही धुआँ मैं ढूँढ रहा था
यही आग मैं खोज रहा था
यही गंध थी मुझे चाहिए
बारूदी छर्रे की खुशबू

इनमें नाटक के सवांद जैसा वेग और वैसी ही प्रस्तुति है। 'मास्टर' जो छंदोबद्ध और पारंपरिक शैली में लिखी गई कविता है, उसमें भी वार्ता है। 'प्रेत का बयान', 'बच्चा चिनार', 'नेवला', 'तेरी खोपड़ी के अंदर' 'गुलाबी चूड़ियाँ, 'वे हमें चेतावनी देने आये थे', 'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने', - इनके अलावा भी बहुत सी कविताओं में नाटकीयता का गुण है। नागार्जुन की अनेक श्रेष्ठ कविताएँ जीवन का नाटक ही तो प्रस्तुत करती हैं। आइये, हम इस कविता को पढ़ें :

नथुने फुला-फुला के
राह चलते-चलते
यक-ब-यक बाँह पकड़ ली
खुद भी खड़े रहे
मुझे भी रोक लिया
और बोले :
क्या कुछ खास-सी महसूस होती है?
मैं चौंका :
क्या सचमुच कोई खासियत मालूम देती है।
फिर हमारे प्राध्यापक मित्र
भरपूर साँस खींचकर कहने लगे :
'यहाँ मुलुंड में इत्र का कारखाना लगा है
मराठा व्यवसायी एक कोई केलकर साहब ने
सौरभ-द्रव्यों का अपना अभिनव उत्पादन-केंद्र
आरंभ किया है यहाँ मुलुंड में
प्रतिदिन, संध्याकाल
पवन देव की अनुकंपा से
इद्र-गिर्द बीसियों किलोमीटर
हो उठते हैं मुअत्तर ....
यह सुरभित सांध्य समीर
हमारे मलुंड की बहुत बड़ी खासियत है ....
'आपकी गंध-चेतना ठस तो नहीं हुई?
अभी तो सत्तर के न हुए होंगे आप -
फिर से प्राधापक मित्र ने
अपने तईं भरपूर साँस खींची
नथुने फुला-फुला के
वो मुअत्तर हवा भर ली अंदर।

यह कविता आपने पढ़ी। अब आप इसे एक नाटक मानकर निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर बताएँ :

(क) घटना का स्थान कौन सा है?
(ख) समय कौन-सा हो सकता है?
(ग) कुल कितने पात्र हैं?
(घ) सर्वाधिक नाटकीय पंक्ति कौन-सी है?
(ड.) इस कविता का मुख्य द्वद्व क्या है?

स्थिति यह कि मुलुंड में किसी व्यवसायी ने इत्र का कारखाना लगाया है, जिसकी 'खुशबू' प्राध्यापक मित्र नथुने फुला-फुला के अंदर खींच रहे हैं। कविता के प्रवक्ता को कोई 'खुशबू' महसूस नहीं होती तो 'प्राध्यापक मित्र' समझते हैं कि उसकी 'गंध-चेतना' ठस हो गयी है। वास्तव में गंध-चेतना किसकी ठस हुई है? यहाँ नैसर्गिक और कृत्रिम के बीच के द्वंद्व को और कृत्रिम द्वारा नैसर्गिक के विस्थापन की प्रक्रिया को व्यक्त किया गया है जिसके लिए नागार्जुन एक पूरे नाटक का ढाँचा तैयार करते हैं। कृत्रिम का प्रसार हो रहा है और उसे समर्थन भी है। 'प्राध्यापक मित्र' यानी बुद्धिजीवी तक उसके प्रभाव में हैं। यह कविता उपभोक्तावाद पर भी गहरा व्यंग्य है। इसका ढाँचा ऐसा है कि त्रासदी, विडम्बना और व्यंग्य तीनों को नागार्जुन व्यक्त करते हैं। और अपनी ओर से कवि ने कोई टिप्पणी नहीं की है, कोई व्याख्या नहीं की है। नागार्जुन को जो भी कहना होता है वह अपनी अनेक कविताओं में स्पष्टता के साथ, खोलकर कह देते हैं। इसलिए कई बार कविताएँ सपाट भी हो जाती हैं। लेकिन यहाँ सब कुछ अनकहा छोड़ दिया गया है। नाटक का तत्व हमेशा ही कविता को सघन और संश्लिष्ट बनाता है। सब कुछ

पाठक पर छोड़ दिया गया है कि वह जैसे चाहे स्थिति की व्याख्या करे। यहाँ पाठक को कई खाली जगहें भी भरनी पड़ती हैं। तब जाकर स्थिति का पूरा नाटक उजागर होता है।

इस कविता में व्यंग्य प्रच्छन्न है। नागार्जुन की ढेर सारी कविताओं में व्यंग्य स्पष्ट और तिलमिला देने वाला होता है। अब हम देखेंगे कि व्यंग्य कैसे कविता के पूरे शिल्प को प्रभावित करता है।

2.2.3 व्यंग्य

'यह निर्विवाद है कि कबीर के बाद हिंदी कविता में नागार्जुन से बड़ा व्यंग्यकार अभी तक कोई नहीं हुआ।' डॉ0 नामवर सिंह कहते हैं। नागार्जुन का व्यंग्य भारतेंदुकालीन व्यंग्यकारों से भी जुड़ता है। उन्होंने आज की व्यवस्था पर गहरा प्रहार किया है। सबसे ज्यादा चोट राजनेताओं पर की और कई बार खुद अपने पर। हम देखें कि कैसे नागार्जुन की कविताओं का रूप व्यंग्य को धारण और संप्रेषित करता है।

व्यंग्य के लिए द्वंद्व या अंतर्विरोध का होना ज़रूरी है। दो मूल्यों की टकराहट, दो परस्पर विपरीत स्थितियों की प्रस्तुति से व्यंग्य उत्पन्न होता है। कविता का रूप यानी शिल्प ऐसा होना चाहिए कि यह द्वंद्व या अंतर्विरोध सर्वाधिक तीव्रता से व्यक्त हो सके। नागार्जुन की व्यंग्य कविताएँ अधिकांशतः राजनीतिक हैं, विशेषकर तात्कालिक राजनीति। इसके द्वंद्व और विद्रूप को उभारने के लिए नागार्जुन प्रायः पारम्परिक छंदों का प्रयोग करते हैं। इस तरह गंभीर विषयों के लिए प्रयुक्त हो चुके पारंपरिक छंद जब हल्की तथा अंतर्विरोधी चरित्र वाली स्थिति को व्यक्त करते हैं तो स्वभावतः एक तनाव उत्पन्न होता है जो व्यंग्य को धारदार बनाता है। उदाहरण के लिए, मंत्र कविता को देखें। यह नागार्जुन की सर्वश्रेष्ठ व्यंग्य कविताओं में से एक है। फिर आप इन प्रश्नों पर विचार करें :

(क) कविता का शीर्षक 'मंत्र' क्यों है?
(ख) 'मंत्र' कहने से किन तत्वों का बोध होता है?
(ग) इस कविता की विषय-वस्तु क्या है?
(घ) क्या इसमें हास्य का तत्व भी है?
(ङ.) व्यंग्य का निशाना क्या है?

'मंत्र' कहते ही मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है और वैदिककाल से लेकर समस्त संस्कृत काव्य एवं धर्मशास्त्र के मंत्रों की स्मृति मन में जगती है। सर्वाधिक पवित्र एवं निष्ठा से ओतप्रोत। कविता की पहली पंक्ति - ओं शब्द ही ब्रह्म है - भी उसी परंपरा का स्मरण कराती एक गंभीर पंक्ति है। फिर शुरू होता है विद्रूप - ओं वक्तव्य, ओं उद्‌गार ओं घोषणाएँ ....। और पूरी कविता अपने समय के जीवन के सभी पक्षों, विशेषकर राजनीतिक पक्षों में विराजमान विद्रूप एवं वीभत्सता को उजागर करती है। भारतीय परंपरा के सर्वाधिक पवित्र एवं गंभीर रूप-विधान का उपयोग नागार्जुन समकालीन भारतीय जीवन के सर्वाधिक अपवित्र एवं अराजक पक्ष को व्यक्त करने के लिए करते हैं। इससे बहुत गहरा व्यंग्य पैदा होता है जो तमाम 'छल-छंद, मिथ्या, बकवास' पर चोट करता हुआ पाठक को यथार्थ की नयी, सर्वथा भिन्न अनुभूति कराता है। व्यंग्य को पैना करने के लिए नागार्जुन अपनी समस्त शब्द-विधा का प्रयोग करते हैं - यहाँ वैदिक मंत्रों का विधान तो है ही, झाड़-फूँक वाले मंत्रों, शाक्त-मंत्रों और जादूगर-बाजीगरों के अनर्गल जैसे शब्द-प्रलापों का भी उपयोग किया गया है। इस तरह कविता मारक प्रभाव उत्पन्न करती है।

एक और कविता लें, 'आए दिन बहार के'। यह स्पष्टतः राजनीतिक व्यंग्य है। इस कविता का पहला बंद इस प्रकार है :

> 'स्वेत-स्याम-रतनार' अँखियाँ निहार के
> सिंडकेटी प्रभुओं की पग-धूर झार के
> लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मार के
> खिले हैं दाँत ज्यों दाने अनार के
> आए दिन बहार के।

अब देखिए कि इस एक बंद में, जिसमें उन नेताओं पर व्यंग्य है जो दिल्ली से टिकट मार के (विधायक या सांसद बनने का) लौटे हैं। यह उनके लिए खुशी का क्षण है। इस पर नागार्जुन चोट करते हैं और इसके लिए पारंपरिक, श्रृंगारिक शब्दावली और चिर-परिचित मुहावरों का प्रयोग करते हैं, जिससे कि

इस 'अश्लील प्रणय' का विद्रूप उभर सके - 'श्वेत-श्याम रतनार अँखियाँ', 'दाँत ज्यों दाने अनार के' तथा टेक की पंक्ति 'आए दिन बहार के'। जो प्रेमियों के लिए प्रिय-दर्शन का सुख था वसंत में, वही इन नेताओं के लिए सुख है टिकट मारने में।

'शासन की बंदूक', 'कर दो वमन', 'आओ रानी हम ढोएँगे पालकी', 'मास्टर', 'तीनों बंदर बापू के' ये सब सर्वोत्तम व्यंग्य कविताओं में गिनी जाती हैं। जैसा कि नागार्जुन स्वयं कहते हैं - 'प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है मेरे कवि का'। तो यह घृणा जो कुछ जड़, विगलित, जीवन-विरोधी है उसके प्रति घृणा ही इन व्यंग्य-कविताओं के मूल में है। कई बार अचानक यह तत्व नागार्जुन की अन्य कविताओं में भी फूट पड़ता है।

नागार्जुन के व्यंग्य करने का एक-तरीका और है। वह अक्सर व्यक्तियों या स्थितियों को अतिरंजित करके प्रस्तुत करते हैं, जैसा कि कार्टून बनाने वाले अक्सर करते हैं, किसी की नाक बढ़ा दी, किसी के होंठ, किसी का पेट। नागार्जुन ने कुछ अद्भुत व्यंग्य-चित्र बनाये हैं शब्दों से। हो सकता है हम उनके मंतव्यों से सहमत न हों, पर उनकी कला का लोहा मानना पड़ता है। ऐसी ही कविताओं में हैं 'योगीराज', 'वाणिक्य पुत्र', 'अनुदान', 'सौदा', 'आइज़नहवर', 'कंचन मृग' तथा अन्य अनेक।

भारतेंदु काल में तथा उसके बाद भी एवं मतवाला तथा चकल्लस जैसी पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली व्यंग्य कविताओं की परंपरा को कबीर से जोड़ते हुए नागार्जुन ने हिंदी को श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ दी हैं।

अभी तक हम लोगों ने रूप-विधान को समझने के सिलसिले में नागार्जुन की कविता की भाषा, शब्द-प्रयोग, नाटकीयता एवं व्यंग्य की चर्चा की। हमने देखा कि नागार्जुन की भाषा का विस्तार तत्सम से लेकर लोक की बोलियों तक हैं। उनके यहाँ भाषा का कोई एक बना-बनाया खांचा नहीं है, बल्कि जितनी तरह की कविताएँ, जितने तरह के विषय उतनी तरह की भाषा और शब्द-रूप। हमने यह भी देखा कि नागार्जुन की कविताएँ यथार्थ का प्रत्यक्ष चित्रण करती हैं। इसलिए वहाँ स्थितियाँ प्रमुख हैं और उन स्थितियों का अंतर्निहित द्वंद्व जिससे नाटकीयता उत्पन्न होती है। भाव-प्रधान कविताओं में नाटकीयता का तत्व इतना मुखर नहीं होता। इसी तरह नागार्जुन स्थितियों के द्वंद्व और अंतर्विरोधों को उभार कर व्यंग्य की रचना करते हैं। ऐसे कवि कम हैं जिनमें गंभीरता के साथ-साथ हास्य-व्यंग्य की भी प्रधानता हो। प्रभाकर माचवे, भारत भूषण अग्रवाल और नागार्जुन जैसे कवि ही निराला के बाद इस कोटि के कवियों में मुख्य हैं।

2 .3 नागार्जुन और रूप प्रयोग

जैसा कि आप सब जानते हैं कि छायावाद के बाद हिंदी कविता में मोटी-मोटी दो प्रवृतियाँ या आंदोलन उभरे। ये हैं प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद । वैसे हम हमेशा याद रखें कि ये सारी चिप्पियाँ या बिल्ले अंततः निरूपयोगी ही सिद्ध होते हैं। नागार्जुन घोषित रूप से प्रगतिवादी हैं। जो प्रयोगवादी हुए उनका बल या आग्रह रूप पर था, कविता में नये-नये रूप-प्रयोगों यानी नयी बात तो हो ही नया रूप भी हो और इसके लिए नये प्रयोग किए जाएँ। नागार्जुन ने अपनी कविताओं द्वारा भी प्रयोगवादी कवियों की आलोचना की। प्रयोगवादियों ने भी नागार्जुन को उनका उचित दाम नही दिया। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि नागार्जुन ने रूप संबंधी जितने प्रयोग किये हैं उतने बहुत कम कवियों ने किये हैं। शमशेर बहादुर सिंह ने नागार्जुन की इस क्षमता को रेखांकित भी किया है।

नागार्जुन ने पहले तो कोई एक तरह की, एक ही शिल्प की कविता नहीं लिखी; छंद में लिखा, गद्य में लिखा, तुकों का प्रयोग किया, अतुकांत भी लिखा, पुराने से पुराने सवैयों-दोहों का इस्तेमाल किया और नवीनतम गद्य-शैली भी अपनायी, वर्णन भी किया यथातथ्य तो यथार्थ-संबंधों में परिवर्तन भी किये, नये-नये वस्तु-संयोजन द्वारा। गंभीर स्वर के साथ-साथ हल्का-फुल्का स्वर भी लगा दिया। यानी भाषा की समस्त शक्तियों के साथ प्रयोग किया। अब हम कुछ कविताओं को लेकर देखेंगे कि कैसे नागार्जुन ने कुछ अभिनव, नितांत नये प्रयोग रूप-विधान में किये। 'मंत्र' कविता तो आपने देखी ही, वह स्वयं एक अनूठा प्रयोग है। लेकिन यहाँ हम ले रहे हैं 'चंदू मैंने सपना देखा', 'इन सलाखों से टिका कर भाल', 'नेवला', 'पिछली रात', 'प्रेत का बयान' तथा ऐसी ही कुछ अन्य कविताओं को। लेकिन एक बात हम ज़रूर याद रखें कि नागार्जुन ने केवल प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं किये हैं। उनके प्रयोगों, नये रूप-

विधानों के पीछे कथ्य या विषय-वस्तु की माँग रहती है। अपनी बात को अधिकाधिक बल के साथ कहने के लिए या कविता के ज़रिए वह जो करना चाहते हैं उसकी पूर्ति के लिए ही नागार्जुन नये रूपाकारों की रचना करते हैं। उदाहरण के लिए, हमने पहले भी 'चंदू मैंने सपना देखा' कविता की चर्चा की है। आप इसे फ़िर से पढ़ें और इन प्रश्नों पर सोचें :

(क) 'चंदू मैंने सपना देखा' पूरी कविता की प्रत्येक पंक्ति में यह शब्द-समूह क्यों दुहराया गया है? यानी: कवि का अभीष्ट क्या है?

(ख) किस पंक्ति का दो बार इस्तेमाल हुआ है और क्यों?

(ग) इस कविता की गति को आप कैसे परिभाषित करेंगे - इसकी गति रैखिक है या चक्रीय?

(घ) छंद का उपयोग कर कवि ने किस नये जीवन-तत्व को या यथार्थ को व्यक्त किया है?

(ड.) क्या इस कविता का रूप केवल बाह्य यथार्थ को व्यक्त करता है या मनोभावों अथवा आभ्यंतर जगत को भी व्यक्त करने में समर्थ है?

उम्मीद है कविता आपने पढ़ ली होगी। ध्यान से। और पढ़ते हुए आपको मज़ा भी आया होगा। संगीत इसका इतना मोहक है कि हम पढ़ते हुए संगीत के ही वशीभूत हो जाते हैं। क्यों? इसका कारण यह है कि नागार्जुन एक स्वप्न-सरीखा वातावरण रच रहे हैं, एक प्रति-लोक। इसलिए 'चंदू मैंने सपना देखा' की निरंतर आवृत्ति एक चक्रीय गति की रचना करती है जो हमें अपने पाश में घुमाती है। पहली ही पंक्ति में 'हिरनोटा' एक भूला-भटका, प्राचीन शब्द आता है और हमें मानो तात्कालिक दबाव से काट कर पीछे ले जाता है। फिर 'अमुआ से हूँ पटना लौटा/ तुम्हें खोजते बद्री बाबू/ खेल-कूद में हो बेकाबू/ कल परसों ही छूट रहे हो/ खूब पतंगें लूट रहे हो/ लाए हो तुम नया कैलेंडर ... '। अगर आप इन पंक्तियों को देखें तो पाएँगे कि ये अलग-अलग लगती हैं जिनका स्वतंत्र रूप से कोई अर्थ ढूंढ़ पाना भी कठिन है। कारण? क्योंकि नागार्जुन स्वप्न-लोक की रचना कर रहे हैं जहाँ सारे प्रत्यक्ष संबंध स्थगित हो जाते हैं। फिर भी उनका एक अर्थ, गहरा अर्थ होता है। इस कविता का भी है। इस कविता का रूप तात्कालिक जीवन की विशृंखलता को, छोटी-छोटी इच्छाओं को और नये सुंदर भविष्य के स्वप्न को व्यक्त करता है। इसीलिए 'लाए हो तुम नया कैलेंडर' को दुहराया गया है और कविता समाप्त भी इसी पंक्ति के साथ होती है। यह एक अभिनव प्रयोग है।

'इनं सलाखों से टिकाकर भाल' कविता को अगर आप देखें तो पाएँगे कि इतनी छोटी-सी कविता में भी नागार्जुन अनेक भावों, स्वरों का प्रयोग करते हैं। 'और भी तो गलेगी कुछ दाल' या 'न टपकेगी कि उनकी राल' जैसी पंक्ति अचानक स्वर की गंभीरता को बाधित करती हुए कविता को भिन्न धरातल पर ले जाती है और फिर वापस। इसी तरह 'चाँद पूछेगा न दिल का हाल' एक सर्वथा भिन्न स्मृति को जाग्रत करती है, कुछ-कुछ रोमांटिक परंतु उसका निषेध भी। और एक नये रूपाकार की सृष्टि होती है। अनेक स्वर एकत्र होते हैं।

नागार्जुन ने 'नेवला' जैसी कविता भी लिखी हे जो मुख्यतः गद्य में है, लम्बी कविता, पर वर्णनात्मक, मुक्तिबोध या धूमिल जैसी नहीं। यह इतिवृत्त जैसी है। दूसरी तरफ लोकगीतों या धुनों का भी भरपूर उपयोग किया है। खासतौर से राजनीतिक कविताओं में, जैसे 'आओ रानी हम ढोएँगे पालकी' या 'तीनों बंदर बापू के'। उन्होंने नारों को भी कविता में बदल दिया है - 'बस सविर्स बंद रही/ तीन दिन तीन रात/ तीन दिन तीन रात' । उनकी एक प्रसिद्ध कविता 'चना जोर गरम' की तर्ज पर तो दूसरी एक भजन के तर्ज पर है - 'रानी गाय ब्राह्मण दान, हर गंगे भई हर गंगे'। इसी प्रकार 'लाल भवानी प्रगट हुई है सुना कि तेलंगाने में' या 'जय हो बंभोला' या 'पता नहीं दिल्ली की देवी गोरी है या काली' जैसी पंक्तियों और धुनों का इस्तेमाल कर नागार्जुन नें सर्वथा नये रूपों की रचना की है। और ठीक इसके विपरीत 'खड़े तीनों काल/ देवदारू विशाल' या 'अमल धवल गिरि के शिखरों पर' जैसी कविताएँ भी हैं जो शास्त्रीय छंदों का प्रयोग करती हुई चिरपरिचित भावों को नये तरीके से प्रगट करती हैं। और अब इस कविता को देखिए। शीर्षक है 'पिछली रात'।

पिछली रात

ठीक 3.22 पर एक हादसा हुआ ....
मई-जून की वो भरी-पूरी झेलम
नील-निर्मल प्रवाहों वाली वो 'वितस्ता
मेरे ऊपर से होकर गुज़री - पिछली रात।
लगातार - आधा घंटा तक, नहीं 45 मिनट लगे होंगे।

-प्रवाहित होती रही मुझ पर से
मैं लेटा रहा, निमीलित-नेत्र ....
मन-ही-मन जागरूक, मोद-मग्न ....
आशीष की मुद्रा में मेरे होंठ हिलते रहे
जी हाँ, झेलम को हड़बड़ी थी -
वो सिंध से मिलने जा रही थी, सीमा पर जाना था उसे।

अब आप इन प्रश्नों पर विचार करें :

(क) 'ठीक 3.22' देने का प्रयोजन क्या है?
(ख) 'हादसा' क्या है? बताएँ
(ग) 'लगातार आधा घंटा तक, नहीं 45 मिनट लगे होंगे।' - इसमें आधा घंटा कह कर फिर 45 मिनट क्यों कहा गया?
(घ) पूरी कविता में इतने सारे 'डेश' या 'डाट' का प्रयोग क्यों किया गया है?
(ङ.) क्या यह कविता गद्य में है?
(च) क्या यह कविता आपको पूरी तरह से स्पष्ट है?

नागार्जुन ने मुक्तिबोध की तरह अथवा उन्हीं जैसी लम्बी कविता नहीं लिखी। मुक्तिबोध फंतासी का उपयोग करते हैं, यथार्थ के प्रत्यक्ष संबंधों को तोड़ते-बदलते एक नये स्वप्न-संसार की रचना करते हैं। पौराणिक मिथ में, प्रतीकों का इस्तेमाल भी करते हैं। इसके विपरीत नागार्जुन प्रायः इतिवृतात्मक कविता करते हैं, विशेषकर लम्बी कविता के संबंध में यह कहा जा सकता है। शमशेर भी वस्तुओं के आपसी संबंध को ज्यों-का-त्यों न रखकर कुछ छोड़ते, कुछ खाली जगहें बनाते हुए लिखते हैं जैसे 'टूटी हुई बिखरी हुई'। नागार्जुन की लंबी कविताएँ उस काल में प्रचलित लम्बी कविता की शैली से सर्वथा भिन्न शैली की कविताएँ हैं, ऐसा लगता है। आप खुद पढ़कर देखें और तय करें। चाहे वह 'नेवला' हो, चाहे 'चनाजोरगरम', चाहे 'भस्मांसुर'। परंतु 'हरिजन गाथा' एक ऐसी कविता है जिसमें नागार्जुन फंतासी रचने का प्रयास करते हैं, मिथकों की रचना करते हैं। विषय की नवीनता और भविष्य के प्रति गहरी आस्था के कारण ही ऐसा हुआ है। फिर भी रूप-प्रयोग की दष्टि से भी 'हरिजन-गाथा' एक महत्वपूर्ण लंबी कविता है जो वर्णनात्मक एवं मिथकीय शैलियों का सम्मिश्रण कही जा सकती है! 'प्रेत का बयान' जैसी कविता में 'हरिजन-गाथा' के शिल्प की झाँकी अवश्य मिलती है, परंतु 'हरिजन-गाथा' गद्य-पद्य के मिश्रण, मिथकों, प्रतीकों एवं फंतासी के इस्तेमाल के लिए अलग से विचार करने योग्य है।

इस तरह हम देखते हैं कि नागार्जुन ने अनेक प्रकार के प्रयोग किए हैं। लिखने का कोई एक तरीका, कोई एक शिल्प नहीं है। अनेक विधियाँ हैं। नागार्जुन के लिए कुछ भी त्याज्य या अस्पृश्य नहीं है, जैसे कथ्य में वैसे ही रूप में। एक बात अवश्य है कि नागार्जुन के रूप-प्रयोग कहीं भी क्लिष्ट या समझ के बाहर नहीं हैं। गंभीर बात को वह इस तरह से कहते हैं कि साधारण लोग भी समझ सकें। वह उन थोड़े से कवियों में हैं जिनकी कविताएँ सर्वसाधारण तक पहुँची हैं। जैसा कि डॉ0 रामविलास शर्मा कहते हैं - 'नागार्जुन ने लोकप्रियता और कलात्मक सौंदर्य के संतुलन और सामंजस्य की समस्या को जितनी सफलता से हल किया है, उतनी सफलता से बहुत कम कवि- हिंदी से भिन्न भाषाओं में भी - कर पाये हैं।

नागार्जुन का रचना-विधान यदि उनके ही समकालीन अन्य कवियों, जैसे शमशेर, मुक्तिबोध या अज्ञेय से भिन्न है तो उसका मूल कारण क्या है? आप खुद भी इस पर विचार करें। यदि हम इस पर गौर करें तो पाते हैं कि एक कारण तो विषयों की विविधता है, यानी काव्य-वस्तुओं की विविधता जिस कारण प्रत्येक विषय को नया और पृथक रचना-विधान या रूप चाहिए। दूसरा कारण यह है कि नागार्जुन अपनी बात अधिक से अधिक लोगों तक अधिक से अधिक सुगम तरीके से पहुँचाना चाहते हैं। इसलिए भी उनका शिल्प ज्यादा खुला हुआ, विविध और अपेक्षाकृत सरल है। बहुत से लोग इसी 'सरलता' के कारण उन्हें 'सरल' अथवा 'सामान्य' कवि समझ बैठते हैं। परंतु उनका शिल्प भी बहुस्तरीय जटिल और विशिष्ट है। यदि आसान लगता है तो सिर्फ इसलिए कि नागार्जुन ने उसे वैसा ही बनाना चाहा था और यही उस रचना-विधान की सफलता है। सबसे सफल रचना-विधान अथवा शिल्प वही है जो सबसे अच्छे ढंग से विषय-वस्तु को अभिव्यक्त कर दे।

2.4 सारांश

तो, अभी इस पाठ में हमने नागार्जुन की कविताओं के रचना-विधान की चर्चा की। यानी रचना कैसे बनी है, उसका गठन कैसा है। इस सिलसिले में हमने उनकी भाषा और शब्दावली का विश्लेषण करते हुए पाया कि नागार्जुन साधारण शब्दों के साथ-साथ तत्सम शब्दों का भी प्रयोग करते हैं और भाषा के सम्पूर्ण पटल का इस्तेमाल करते हैं। हमने नाटकीयता की भी चर्चा की। नागार्जुन का शिल्प एक स्थिति की सम्पूर्ण नाटकीयता यानी द्वंद्व को व्यक्त करता है। नागार्जुन अनेकानेक छंदों और रूपों का इस्तेमाल करते हैं। व्यंग्य का तत्व उनके यहाँ प्रबल है। संभवतः कबीर और निराला के बाद वह हिंदी के अकेले बड़े व्यंग्य-कवि भी हैं। उन्होंने कुछ कविताओं में मिथक, फंतासी का भी प्रयोग किया है। उनकी कविताएँ प्रायः छोटी हैं, लेकिन कुछ लंबी कविताएँ भी उन्होंने लिखी हैं। उनका शिल्प प्रायः इतिवृत्तात्मक है। नागार्जुन के रचना-विधान की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह 'सरल' पर संश्लिष्ट है। उनकी कविता अधिक से अधिक लोगों को समझ में आने लायक है जिसका कारण 'सरल' रचना-विधान है। उनके बिंब भी सुगठित, मूर्त और स्पष्ट होते हैं।

2.5 प्रश्न

1. रचना-विधान से आप क्या समझते हैं?
2. कथ्य और रूप में क्या संबंध है? सोदाहरण बताएँ
3. कौन सी कविता आपको अधिक अच्छी लगती है - श्रेष्ठ कथ्य वाली अथवा सुगठित रचना विधान वाली? अथवा इनसे भिन्न कोई कोटि आप बनाएँगे?
4. नागार्जुन की कौन-सी कविता आपको सर्वाधिक प्रिय है?
5. क्या नागार्जुन की कविताएँ सपाट हैं? यदि हाँ, तो कैसे? यदि नहीं, तो कैसे?
6. इन पंक्तियों को पढ़ें :

   नदी कर ली पार, उसके बाद
   नाव को लेता चलूं क्यों पीठ पर मैं लाद
   सामने फैला पड़ा शतरंज-सा संसार
   स्वप्न में भी मैं न इसको समझता निस्सार
   इसी में भव, इसी में निर्वाण
   इसी में तन-मन इसी में प्राण।

   अब उत्तर दें :

   क) बिंबों को चुनें
   ख) पहली दो पंक्तियों का अर्थ क्या है?
   ग) 'शतरंज-सा संसार' कवि ने क्यों कहा?
   घ) तुक योजना बताएँ।
   ङ.) यह किस कविता का अंश है?
7. नागार्जुन, शमशेर, मुक्तिबोध और अज्ञेय के रचना-विधान की तुलना करें।
8. 'नागार्जुन-काव्य का रचना-विधान यथार्थवादी हैं', इसकी व्याख्या करें एवं अपनी टिप्पणी भी दें।

इकाई 3 मुक्तिबोध का जीवन-दर्शन और उनकी काव्य दृष्टि (जीवन प्रक्रिया और रचना प्रक्रिया के संदर्भ में)

इकाई की रूपरेखा

3 .0 उद्देश्य
3 .1 प्रस्तावना
3 .2 मुक्तिबोध : जीवन दर्शन और काव्य दृष्टि
3 .3 कला की स्वायत्तता और कलात्मक अनुभूति तथा जीवनानुभूति का संबंध
3 .4 पक्षधरता : साहित्य और राजनीति के संदर्भ में
3 .5 मुक्तिबोध कृत वर्तमान सभ्यता-समीक्षा
3 .6 काव्य की रचना-प्रक्रिया
3 .7 मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया
3 .8 सारांश
3 .9 प्रश्न

3 .0 उद्देश्य

इस इकाई क अध्ययन करने के बाद आप :

- गजानन माधव मुक्तिबोध के जीवन-दर्शन और काव्य दृष्टि से परिचित हो सकेंगे,
- कला की स्वायत्तता, कलात्मक अनुभूति और जीवनानुभूति का क्या संबंध होता है, यह जान सकेंगे,
- साहित्य में पक्षधरता के क्या मानी हैं और साहित्य और राजनीति के संदर्भ में पक्षधरता क्या है - इससे परिचित हो सकेंगे,
- सभ्यता-समीक्षा का किसी कलाकार और उसकी रचना के संदर्भ में क्या अर्थ और मूल्य है - यह जान सकेंगे,
- काव्य की रचना-प्रक्रिया के सामान्य संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण कर सकेंगे।

3 .1 प्रस्तावना

मुक्तिबोध प्रगतिशील कविता के प्रमुख कवियों में से एक हैं। अन्य प्रगतिशील कवियों से आधारभूत वैचारिक समानता के बावजूद मुक्तिबोध का काव्य भिन्न और अपनी वैयक्तिक विशिष्टता लिए हुए है। जीवन और साहित्य और कला संबंधी प्रश्नों पर मुक्तिबोध ने स्वतंत्र रूप से चिंतन मनन कर जो विचार अभिव्यक्त किए हैं और जो काव्य रचना की है उसे समझने के लिए इस पाठ्यक्रम में मुक्तिबोध पर केंद्रित इस इकाई में हम मुक्तिबोध की जीवन-प्रक्रिया और रचना प्रक्रिया के संदर्भ में मुक्तिबोध के जीवन दर्शन और काव्य दृष्टि पर विश्लेषणात्मक रूप से विचार करेंगे।

मुक्तिबोध कवि कर्न को शुद्ध कवि कर्म नहीं मानते अपितु उसे गहरे सामाजिक सरोकारों से जोड़ कर देखते हैं। यह भी एक कारण रहा है कि गहरे सामाजिक सरोकारों की काव्य अभिव्यक्ति को सफल बनाने के लिए जिस काव्य पद्धति को उन्होंने चुना, निर्माण किया -- उसकी दुरूहता को लेकर उनकी जीवन-दृष्टि और काव्य-दृष्टि के बारे में काफी विवादास्पद स्थिति पैदा होती रही। उन्हें विश्लेषित करने के क्रम में उन्हें मार्क्सवादी, अस्तित्ववादी, रहस्यवादी, भाववादी, यथार्थवादी आदि परस्पर विरोधी मान्यताओं से युक्त अंतर्विरोधों का कवि भी सिद्ध किया गया। किंतु बाद में यह निर्विवाद रूप से साबित हो गया कि मुक्तिबोध एक प्रतिबद्ध और अपने समय से जूझते जागरूक कवि हैं। इस इकाई में उनकी जीवन-दृष्टि और काव्य दृष्टि के विभिन्न पहलुओं के विश्लेषण के अध्ययन से यह बात आप स्वयं महसूस करेंगे। जीवन जगत के बारे में, समाज के बारे में, साहित्य और कला के बारे में एक कवि की जो दृष्टि और विचार होते हैं, मौटे तौर पर उन्हें ही हम कवि की जीवन-दृष्टि और काव्य-दृष्टि कहते हैं। और यह दृष्टि जीवनानुभवों, जीवनानुभूतियों के घात-प्रतिघात से विकसित होती और रूपाकार

धारण करती है। इस इकाई में आप मुक्तिबोध की जीवन-दृष्टि और काव्य-दृष्टि के बारे में अध्ययन करते हुए, साहित्य कला और जीवन के उन प्रश्नों से भी साक्षात्कार करेंगे, जिनसे जूझते हुए और जिनका समाधान खोजते हुए मुक्तिबोध की जीवन-दृष्टि का व्यापक रूप से विकास हुआ। कला की स्वायत्तता और कलात्मक अनुभूति तथा जीवनानुभूति के संबंधों की जाँच-पड़ताल, पक्षधरता का प्रश्न, सभ्यता-समीक्षा का प्रश्न या काव्य की रचना-प्रक्रिया का संबंध ऐसे ही कुछ प्रश्न हैं, जिनका मुक्तिबोध के हवाले से विस्तारपूर्वक विश्लेषण करना अपेक्षित है।

तो आइए, हम अध्ययन की शुरुआत करें।

3.2 मुक्तिबोध : जीवन दर्शन और काव्य दृष्टि

सामान्य परिवार के साथ एक सर्वसामान्य, अभाव-ग्रस्त ज़िंदगी बसर करते हुए मुक्तिबोध ने अ. जीवन दर्शन का निर्माण किया था। बावजूद इसके कि उन पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव था और उसके प्रकाश में उन्होंने अपने जीवनानुभवों को संशोधित संपादित किया था, जीवन दर्शन के संबंध में उनकी स्पष्ट मान्यता रही है कि ''किसी-न-किसी रूप में हमारे पास व्यापक जीवन दर्शन आवश्यक है। इसमें अगर कुछ भी न हो तब भी वे बुनियादी बातें तो हों, जिन्हें साधारण जन अपने हृदय में अनुभव करते हैं, जैसे अन्याय का प्रतिकार, मानव सभ्यता की स्थापना के प्रयत्न, विकृत स्वार्थवाद और भ्रष्टाचार का विरोध, समझौतापरस्ती के खिलाफ लड़ाई और साधारण भारतीय जनमत के प्रति भक्ति और अनुराग (क्या ये बातें किसी व्यापक जीवन दर्शन में नहीं आ सकतीं। क्या जीवन दर्शन के लिए हमें पश्चिमी सूक्ष्मताओं की पच्चीकारियों तक जाना होगा।'' (नयी कविता का आत्म संघर्ष .... पृ० 185)।

इसी प्रकार तत्कालीन परिस्थितियों में, नयी कविता के व्यक्तिवादी दौर में भी कविता के बारे में उन्होंने एक विशिष्ट धारणा बना रखी थी। कविता को जीवन की अत्यंत मानवीय सृष्टि मानते हुए मुक्तिबोध ने एक विशिष्ट कथन प्रणाली का विकास किया था। जीवन और कविता का अत्यंत विशुद्ध और विस्तृत खुलासा उन्होंने अपनी ''चकमक की चिनगारियाँ'' शीर्षक कविता में इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

> ''कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
> सभी प्रश्नोत्तरी की तुंग प्रतिमाएँ
> गिराकर तोड़ देता हूँ हथौड़े से
> कि वे सब प्रश्न कृत्रिम और
> उत्तर और भी छलमय
> समस्या एक -
> मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
> सभी मानव सुखी सुन्दर व शोषण मुक्त कब होंगे?''

अधूरी और सतही ज़िंदगी के गर्म रास्तों (चकमक की चिनगारियाँ) पर चलते हुए मुक्तिबोध ने आत्म-संघर्ष और आत्म साक्षात्कार के माध्यम से इस ''एक'' मूल समस्या का संधान किया है — सब की शोषण से मुक्तता, सबके लिए समान सुख-सुविधा के विधान की समस्या का संधान। समस्त मानव चिन्तन, धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान इस ''एक'' समस्या से उलझा है और इसकी चुनौती को स्वीकार करते हुए अलग-अलग ढंग से इसके समाधान का मार्ग भी प्रस्तुत किया गया है। लेकिन मुक्तिबोध ने एक मार्क्सवादी चिन्तन के रूप में इस समस्या को ''प्रशोषण सभ्यता की दुष्टता'' के समक्ष रखकर देखा है और एकमात्र समाधान वर्ग संघर्ष पर आधारित जन क्रांति में खोजा है। ''चकमक की चिंगारियाँ'' कविता में कई स्थलों पर उन्होंने इसका संकेत भी किया है। अपनी ''अन्तःकरण का आयतन'' शीर्षक कविता में भी उन्होंने दो टूक ढंग से इस तथ्य को प्रस्तुत किया है :

> ''सुकोमल काल्पनिक तल पर
> नहीं है द्वन्द्व का उत्तर
> तुम्हारी स्वप्न वीथी कर सकेगी क्या?
> बिना संहार के, सर्जन असंभव है,
> समन्वय झूठ है,
> सब सूर्य फूटेंगे
> वा उनके केंद्र टूटेंगे

व मेरे कारणों से सकुच जाती है
कि मैं अपनी अधूरी बीड़ियाँ सुलगा
खयाली सीढ़ियाँ चढ़ क्रर
पहुंचता हूँ
निखरते चाँद के तल पर,
अचानक विकल होकर तब मुझी से लिपट जाती है।''

स्पष्ट है कि मुक्तिबोध के अनुसार कविता ''आवेगत्वरित'' (आवेशात्मक) होते हुए भी, ''काल-यात्री'' (निरंतर गतिशील प्रक्रिया) है। स्वयं कवि उसका कर्ता, पिता या पोषक नहीं होता। उसे कवि की मानस पुत्री भी नहीं माना जा सकता। (यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि जब हरिऔध जी से 'प्रिय प्रवास'' की कुछ पंक्तियों का आशय स्पष्ट करने के लिए कहा गया था तो उन्होंने इससे इंकार क्रते हुए कहा था कि प्रिय प्रवास मेरी पुत्री है, उसके सौंदर्य का पान दूसरे कर सकते हैं, मैं नहीं। मुक्तिबोध यहाँ इस मान्यता को अस्वीकार किया है) वास्तव में अपनी स्वाधीन प्रकृति और ज्ञान सम्पन्नता के कारण कविता वर्तमान के साथ ही भविष्य के लिए भी प्रचुर संकेत लिए होती है। अपनी इस प्रकृति के कारण वह व्यक्ति चरित्री न होकर जन चरित्री होती है। इसीलिए वह व्यक्ति की सम्पदा न होकर जन सम्पदा बन जाती है। नये अध्याय-प्रकरण के रूप में उसमें कलाकार के नए अनुभव और संवेदन भी जुड़ते चलते हैं। लेकिन ये सब सामान्यीकृत होने के बाद, सब के बनने के बाद ही कविता के विषय बन पाते हैं। और यदि ये संवेदन, अनुभव नितांत वैयक्तिक ही रह जाएँ, आवेशात्मक क्षण के घेरे में बंधे रहे तो कलाकृति का क्षेत्र अत्यंत संकुचित रह जाता है, व्यक्तिवादी रह जाता है। इसे मुक्तिबोध ने ''तुम्हारे कारणों से जगमगाती है। व मेरे कारणों से सकुचा जाती है'' - कह कर स्पष्ट किया है। निखरते चाँद के तल पर पहुँचना, वस्तुत: ''स्व'' की घेरेबंदी को तोड़ कर निर्वैयक्तिकता की स्थिति को प्राप्त करना है। मुक्तिबोध के यहाँ निर्वैयक्तिकता अज्ञेय की तरह पूर्ण तटस्थता की स्थिति न होकर परम तल्लीनता की स्थिति है — आत्मपक्ष से तटस्थता और परपक्ष से परम तल्लीनता की स्थिति। इसे मुक्तिबोध की काव्य की रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में विस्तार से स्पष्ट किया जाएगा।

उप्रर्युक्त विवेचन-विश्लेषण द्वारा अत्यंत संक्षेप में हमने मुक्तिबोध के जीवन-दर्शन और उनकी कला-दृष्टि को रेखांकित किया है। आपने देखा होगा कि इस क्रम में मुक्तिबोध के जीवन के बाहरी विवरणों से अधिकांशत: बचते हुए हमने उनकी समीक्षात्मक कृतियों और कविताओं के आधार पर ही उनके व्यक्तित्व और काव्य-दर्शन पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इस संबंध में यह बात रेखांकित करने योग्य है कि यद्यपि वे प्रखर मार्क्सवादी चिंतक अवश्य थे, लेकिन अपने आत्मानुभवों की कसौटी पर कस कर उन्होंने मार्क्सवादी चिंतन की उपलब्धियों को अपनी अंतरात्मा का अंग बना लिया था। केवल एक कविता - ''चकमक की चिनगारियाँ'' के मात्र तीन उद्धरणों से मुक्तिबोध के सामाजिक सरोकार, जनोन्मुख चिंतन, काव्य-दृष्टि आदि की विशेषताएँ आपके सम्मुख रखी गई हैं। इसमें केवल मुक्तिबोध को समझने का ही नही वरन् ''चकमक की चिनगारियाँ'' कविता के समुचित मूल्यांकन का भी प्रयास किया गया है।

3.3 कला की स्वायत्तता और कलात्मक अनुभूति तथा जीवनानुभूति का संबंध

कला की पूर्ण स्वायत्तता (आटोनामी) की स्थापना के लिए जब हिंदी के नए कवि-समीक्षकों ने कलात्मक अनुभूति और जीवनानुभूति के अलगाव या भिन्नता की मान्यता को प्रचारित-प्रसारित किया तो मुक्तिबोध को इस मान्यता के पीछे एक गहरा षडयंत्र दिखाई दिया था। उन्हें लगा था कि इस विलगाव के पीछे कलाकार को अपने व्यक्तित्व से ही नहीं वरन् समाज से भी पूरी तरह काटने की एक गहरी साजिश रची जा रही है। कलावादियों ने कला की निरपेक्ष स्वायत्तता को स्थापित करने के लिए यहाँ तक कह डाला कि कवि-कलाकार जब तक कलाकार की हैसियत से रचना कर रहा है, तब तक न वह पुत्र है न पिता, न पति है, न पत्नी, न सरकारी कर्मचारी है, न सामाजिक कार्यकर्त्ता। तब तक वह केवल कवि है। उसे एक विशेष क्षण में जो अनुभूति पैदा हुई है, उसमें बंध कर ही उसे रचना करनी चाहिए। उस विशिष्ट अनुभूति के क्षण से बाहर जाना या अन्य अनुभवों को उससे जोड़ना न केवल कला की स्वायत्तता को भंग करना है, वरन् अपनी सर्जनात्मक ईमानदारी को भी खंडित करना है। इस विचार-प्रक्रिया में ही कलावादियों ने जीवनानुभव और सौंदर्यनुभूति या कलात्मक अनुभूति को

मैं गया भूख के घर व प्यास के आंगन में''

वस्तुत: इस कविता में ''नत होकर उन्नत होने की जो बेचैनी है, उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति अत्यंत उत्कर्ष पर पहुंची हुई है।

इस प्रकार मुक्तिबोध ने कला के प्रश्नों को जीवन के प्रश्नों के साथ जोड़ने का सफल प्रयास किया। अन्य प्रगतिशील कवियों ने भी कविता को जीवन के साथ जोड़ कर देखा है, लेकिन उसकी सापेक्ष स्वायत्तता की सीमा का अतिक्रमण कर वे अधिक सपाट बन गए हैं। नयी कविता के अधिकांश कवि दुख, निराशा, हताशा, संत्रास आदि मनोदशाओं को शाश्वत और अपरिहार्य मानकर चले हैं। अपनी इस प्रवृत्ति को उन्होंने कला की पूर्ण स्वायत्तता और सौंदर्यानुभूति तथा जीवनानुभूति की विलगतों के सिद्धांत द्वारा ढांकने की कोशिश की है। लेकिन मुक्तिबोध ने इन्हें यथार्थ और वास्तविक मानते हुए भी इनका निदान या समाधान प्रस्तुत करते हुए एक आशावादी परिप्रेक्ष्य अपनाया है। इसलिए वे अस्तित्ववाद की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए एक प्रगतिकामी कलाकार की भूमिका अदा करते हैं।

''कला की स्वायत्तता और कलात्मक अनुभूति तथा जीवनानुभूति का संबंध'' वस्तुत: नयी कविता के मंच से उछाले गए ये दोनों ऐसे कला-सिद्धांत हैं, जिनके माध्यम से कविता को मानव जीवन के व्यापक संदर्भों से पूरी तरह काट देने का षडयंत्र किया गया था। मुक्तिबोध ने इन दोनों सिद्धांतों की पुनर्व्याख्या कर यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि कला जीवन की समस्याओं से अलग-थलग रहकर न अस्तित्व में आ सकती है और न ही जीवंत हो सकती है। कला की स्वायत्तता के संदर्भ में हमने इस तथ्य को विशेष रूप से रेखांकित किया है कि कवि-व्यक्तित्व सामाजिक होता है और कला यदि व्यक्तित्व के साथ जुड़ी है तो उसकी स्वायत्तता भी समाज सापेक्ष ही होगी। अपनी वास्तविक प्राण शक्ति के लिए उसे समाज पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। जहाँ तक सौंदर्यानुभूति और जीवनानुभूति के विलगाव या अलगाव का प्रश्न है, इसका खंडन करते हुए मुक्तिबोध ने विस्तार के साथ यह स्थापित किया है कि सौंदयानुभूति जीवनानुभूति का ही एक गुणात्मक रीति से परिवर्तित रूप है। वह वास्तविक जीवन की मनुष्यता है। सौंदर्यानुभूति को जब निर्वैयक्तिता की स्थिति बताते हुए उसे तटस्थता के साथ जोड़ा गया तो मुक्तिबोध ने उसे परम तल्लीनता का एक आवश्यक सोपान माना। निर्वैयक्तिकता की स्थिति अपने से परे जाने, आत्मबद्धता के दायरे को तोड़ने की स्थिति है, जिसमें मनुष्य मन अपने आपसे उदास होकर दूसरों के साथ विलीन होने लगता है। अत: निर्वैयक्तिकता आत्म संकोच नहीं, आत्म-विस्तार की स्थिति है। अत: इसमें उत्पन्न सौंदर्यानुभूति भी आत्म-विस्तार की ही स्थिति है।

3.4 पक्षधरता : साहित्य और राजनीति के संदर्भ में

प्रगतिशील साहित्यान्दोलन के आरंभ से लेकर साहित्य में कलाकार की पक्षधरता का प्रश्न अब तक एक ज्वलंत प्रश्न बना हुआ है। कला को व्यक्तिगत कार्य घोषित करते हुए जब नयी कविता के मंच से कविता के सामाजिक दायित्व से इनकार किया गया तो मुक्तिबोध को इसका विरोध करना आवश्यक लगा। अपने कला चिंतन के साथ ही उन्होंने कविताओं में भी अपनी पक्षधरता को घोषित किया है :

"धरती के विकासी द्वन्द्व-क्रम में एक मेरा छटपटाता वक्ष।
स्नेहाश्लेष या संगर कहीं भी हो
कि धरती के विकासी द्वन्द्व-क्रम में एक मेरा पक्ष
मेरा पक्ष, नि:संदेह।।'' (अन्त:करण का आयतन)

अपने संपूर्ण मनन-चिंतन और आग्रह-अनुरोधों की दृष्टि से मुक्तिबोध एक प्रतिबद्ध और पक्षधर कलाकार-चिंतक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनकी वास्तविक प्रतिबद्धता शोषित उत्पीड़ित विश्व जनता के उद्धार के महान लक्ष्य से जुड़कर एक अत्यंत व्यापक आधार ग्रहण करती है। इस संबंध में उनका स्पष्ट आग्रह रहा है :

मेरे मित्र
कुहरिल गत युगों के अपरिभाषित
सिंधु में डूबी
परस्पर जो कि मानव पुण्य धारा है,
उसी के क्षुब्ध काले बादलों को साथ लायी हूँ

उड़ेगें खंड
बिखरेंगे गहन ब्रह्मांड में सर्वत्र
उनके नाश में तुम योग दो।''

दरअसल अपनी सहस्रों पीढ़ियों की यात्रा में मानव ने विश्व का जो रमणीयतम स्वप्न देखा था, वह **समन्वय और कल्पना** की तंग गलियों में भटक कर खो गया। संभवत: इसका मूल कारण है, जीवन और जगत के द्वंद्वात्मक रहस्य को ठीक से न समझ सकना। समाज की ऐतिहासिक विकास की यात्रा में इस द्वंद्व का उत्तर अधिकांशत: समन्वय और कल्पना के द्वारा ही प्रस्तुत किया गया है। निर्माण के पूर्व ध्वंस के वास्तविक सौंदर्य पर केवल द्वंद्वात्मक भौतिकवादियों की ही दृष्टि गई है। ''बिना संहार के सर्जन असंभव है - उसके नाश में तुम योग दो'' कहकर मुक्तिबोध अपनी एक निश्चित दृष्टि का परिचय देने के साथ ही एक सही कार्य दिशा का संकेत भी करते हैं। उन्होंने इस निश्चित दृष्टि और दिशा को मार्क्सवादी चिंतन मात्र से न प्राप्त कर अपने जीवनानुभवों से भी पुष्ट किया था। आत्म-शोध और आत्मालोचन की प्रवृत्ति मुक्तिबोध में अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक दिखाई देती है। इस संबंध में ''चकमक की चिनगारियाँ'' कविता का दूसरा उदाहरण है :

''कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
उमग कर जन्म लेना चाहता फिर से
कि व्यक्तित्वांतरित होकर
नये सिरे से समझना और जीना
चाहता हूँ सच।''

''सत्य को नये सिरे से समझने के लिए उसे स्वयं जीने की भी आकांक्षा होनी चाहिए अन्यथा सत्य या यथार्थ से वास्तविक साक्षात्कार असंभव है। इस कार्य के लिए व्यक्तित्व में लगातार परिवर्तन और संशोधन करते रहने की ज़रूरत है, अपने आपको बदलते रहने की ज़रूरत है। क्योंकि सत्य या यथार्थ निरंतर गतिशील रहते हैं। भौतिक-सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के साथ वह निरंतर बदलता रहता है। इस परिवर्तन के साथ बने रहने के लिए एक अत्यन्त सरल मार्ग का उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध ने अपनी ''एक साहित्यिक की डायरी'' में लिखा है, ''हमें अपने को एक विद्यार्थी मानकर चलना चाहिए - कालेज या विश्वविद्यालय का नहीं, बल्कि प्रायमरी पाठशाला का, जिसके हाथ में स्लेट-पट्टी होनी चाहिए, जिस पर लगातार लिखना, फिर मिटाना, फिर लिखना — यह प्रक्रिया जीवनपर्यन्त चलती रहनी चाहिए। तभी हम अपने युग के वास्तविक सत्य को पकड़ पाएंगे।'' इस मान्यता को ध्यान में रख कर ही उन्होंने स्वीकार किया है कि परिवर्तनशील यथार्थ को व्यक्त करने वाली कविता कभी पूरी नहीं हो सकती। क्योंकि वह जिस छोर पर जाकर समाप्त होती है, यथार्थ उसके आगे बढ़ जाता है। इस दृष्टि से देखें तो मुक्तिबोध की अधिकांश कविताएँ अधूरी प्रतीत होती हैं - पाठक और कवि दोनों की दृष्टि से। एक विशेष कविता के संदर्भ में उन्होंने ''एक साहित्यिक की डायरी'' में लिखा है, ''इधर वह कविता मेरा पिंड नहीं छोड़ रही थी। अगर वह कविता भावावेशपूर्ण होती तो एक बार उसकी आवेशात्मक अभिव्यक्ति हो जाने पर मेरी छुट्टी हो जाती। लेकिन वैसा हो सकना असंभव है। क्योंकि भावावेश किसी बात को लेकर होता है और वह बात किसी दूसरी बात से जुड़ी होती है और दूसरी बात किसी तीसरी बात से। इसलिए कविता समाप्त करने की कला मुझे नहीं आती। मेरी अधिकांश कविताएँ लम्बी होने के बावजूद अधूरी हैं।'' ''चकमक की चिनगारियाँ'' कविता का अंतिम अंश उपर्युक्त तथ्य के साथ ही कविता के स्वरूप, उसकी प्रकृति, उसकी स्वाधीनता, कवि और समाज से उसके संबंध आदि के साथ ही मुक्तिबोध की काव्य दृष्टि को भी इस प्रकार उद्घाटित करता है :

''नहीं होती, कहीं भी कविता खतम नहीं होती
कि वह आवेगत्वरित काल यात्री है
व मैं उसका नहीं कर्ता
पिता-धाता
कि वह कभी दुहिता नहीं होती
परम स्वाधीन है, वह विश्व शास्त्री है
गहन गंभीर छाया आगमिष्यत की
लिए, वह जन चरित्री है
नये अनुभव व संवेदन
नये अध्याय प्रकरण जुड़
तुम्हारे कारणों से जगमगाती है

भी एक दूसरे से अलग सिद्ध करने का प्रयास किया। मुक्तिबोध ने इस मान्यता का अपने कला चिंतन के साथ ही काव्य-रचना में भी तीव्र विरोध किया है।

कला की स्वायत्तता (आटोनामी) के इस असामाजिक स्वरूप को ध्यान में रखकर मुक्तिबोध ने कला की स्वायत्तता पर पुनर्विचार किया। इसके लिए उन्होंने सामाजिक सावयविकता (आर्गेनिज्म) के आधार पर सापेक्षता या परस्पर निर्भरता का प्रश्न सामने रखा। जो वस्तु जीवन की, सामाजिक जीवन की अंग है, अर्थात् जो वस्तु ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया (प्रासेस) का अंग बन कर आती है, उसकी स्वायत्तता निरपेक्ष (ऐबसोल्यूट) नहीं हो सकती। इस तथ्य की पुष्टि के लिए मुक्तिबोध ने एक उदाहरण दिया है, "फूल के विकास और ह्रास के अपने नियम और कार्य हैं। किंतु फूल अपने अस्तित्व के लिए सारे वृक्ष पर निर्भर है, मूल पर, स्कन्ध पर, शाखा पर -यहाँ तक कि पत्तियों पर भी। फूल की अपनी (सापेक्ष) स्वतंत्रता है। किंतु उसका पृथक अस्तित्व अन्य-निर्भर है। यह निर्भरता उसके पृथक अस्तित्व के निर्वाह के लिए, उसके प्राण-पोंषण के लिए अनिवार्य है।" (नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ0 152) इस संबंध में मुक्तिबोध की मान्यता है कि जिस प्रकार फूल वृक्ष की मूल प्राण शक्ति से कट कर निर्जीव हो जाता है, ठीक उसी प्रकार कलाकार का व्यक्तित्व, जो कि सामाजिक है, उस से कट कर कविता निष्प्राण हो जाती है। अत: अपनी जीवन शक्ति के लिए, वैभव सम्पन्नता के लिए कला, कवि-जीवन सापेक्ष्य है, समाज सापेक्ष्य है। इस वास्तविकता को मुक्तिबोध ने अत्यंत संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "कला का अपना स्वायत्त-स्वतंत्र राज्य है। किंतु उसकी यह स्वायत्तता और स्वतंत्रता सापेक्ष्य है। अपने अस्तित्व के लिए, अपने जीवन तत्वों के लिए, प्राण वैभव के लिए, कला-बाह्य यह जो अपार विस्तृत जीवन है, उस पर निर्भर है।" (नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ0 151)

इसके साथ ही मुक्तिबोध ने नए कवि समीक्षकों की सौंदर्यानुभूति और जीवनानुभूति की पृथकता की मान्यता पर भी पुनर्विचार किया है। दोनों के स्वरूप और प्रकृति में अंतर मानते हुए भी सौंदर्यानुभूति को जीवनानुभूति के ठोस आधार पर उन्होंने प्रतिष्ठित किया है। इस संबंध में उन्होंने लिखा है, "सौंदर्यानु-भूति जीवनानुभवों के गुणात्मक रीति से परिवर्तित रूप का नाम है। .... इन दोनों का सार रूप एक ही है। फिर भी दोनों में महान भेद है।" इन दोनों के भेद को स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध ने सौंदर्यानुभूति के दो लक्षण बताए हैं - 1. आत्मबद्धता की दशा का परिहार और 2. आनन्दात्मक अनुभव। सामान्य अनुभव या वास्तविक जीवनानुभूति की यह विशेषता नहीं होती। क्योंकि इसमें व्यक्ति अपने वैयक्तिक राग-द्वेष से बंधा होता है, आत्मबद्धता की स्थिति में रहता है। अत: सौंदर्यानुभूति की सबसे बड़ी विशेषता आत्म-बद्धता की स्थिति से मुक्ति है। सौंदर्यानुभूति की इस विशेषता पर प्रकाश डालते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है, "संक्षेप में सौंदर्यानुभूति की अधिकतमता और बारंबारता जिस व्यक्ति में अधिक होगी, वह अधिक मनुष्य होगा। ...अतएव सौंदर्यानुभूति वास्तविक जीवन की मनुष्यता है। अपने से परे उठने और परे जाने की मनुष्य-क्षमता से उसका पूरा और सीधा संबंध है।" (नयी कविता का आत्म संघर्ष, पृ0 151)

मुक्तिबोध की यह स्पष्ट मान्यता रही है कि सौंदर्यानुभूति का क्षण अनिवार्य रूप से रचना का क्षण भी हो, यह आवश्यक नहीं है। चलते-फिरते, उठते-बैठते, काम करते हुए किसी भी समय वह उपस्थित हो सकता है, जो सिर्फ कलाकार की ही बपौती नहीं है। वह किसी में भी, किसी भी समय उपस्थित हो सकता है। और यह भी आवश्यक नहीं है कि उससे कविता, कहानी, चित्र आदि का ही निर्माण हो। अपितु इसी से प्रेरित होकर विश्व की महान विभूतियों ने विश्व-हित, राष्ट्रहित और जनहित के बड़े-बड़े कार्य संपन्न किए हैं। महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह, हज़रत मुहम्मद से लेकर आज तक ऐसी विभूतियों की एक श्रृंखला ही है। वस्तुत: सौंदर्यानुभूति परम सक्रियता की स्थिति है, निष्क्रियता या तटस्थता की नहीं। इसकी मूल विशेषता पर प्रकाश डालते हुए ए.एस.वास्केत्स ने लिखा है, "दि ऐस्थेटिक सेंसिबिलिटी इज़ बोथ ए स्पेसिफिक फार्म आफ ह्यूमन सेंसिबिलिटी ऐंड ए सुपीरियर फार्म आफ दिस ह्यूमन सेंसिबिलिटी, इज़ ऐज़ मच ऐज़ इट कंफर्म्स दि एसेंशियल ह्यूमन लेबर।" (आर्ट एंड सोसायटी, पृ0 78)। अपने इस रूप में सौंदर्य-बोध संपूर्ण मानवीय विकास का फल है, मानवीय श्रम की सारभूत विशेषता है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है, "अपने से परे उठने, परे जाने की जो यह प्रवृत्ति है, उसकी एक विशेष शाखा है - सौंदर्यानुभूति। यह सौंदर्यानुभूति केवल कलाकार की विशेषता नहीं है, वरन् वह उन सबकी विशेषता है, जिन्हें हम मनुष्य कहते हैं। ...जिसकी सहायता के बिना वास्तविक जीवन सुकर तथा सुगम नहीं होगा, जिसके बिना ...हम दूसरों से घुल-मिल सकने के आनंद को सघन नहीं कर सकेंगे।" - (नयी कविता का आत्म संघर्ष..., पृ0 167)

मुक्तिबोध को सौंदर्यानुभूति के क्षण की अखंड सत्ता का खंडन इसलिए करना पड़ा क्योंकि उसके माध्यम से नए कवि-समीक्षकों ने कविता को कवि के समग्र व्यक्तित्व से, उसके सामाजिक-राजनीतिक अनुभवों से काटकर अलग करने का प्रयास किया था। वस्तुत: सौंदर्यानुभूति शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में शुद्ध और अखंडित न रहकर अन्यान्य जीवनानुभवों से संशोधित-संपादित होती हुई पर्याप्त भिन्न रूप धारण कर लेती है। कवि-कलाकारों ने एक-एक कविता पर, एक-एक चित्र पर जो महीनों और वर्षों तक का समय लगाया है, वह इस बात का प्रमाण है कि कला एक क्षणिक आवेग की अभिव्यक्ति मात्र नहीं होती। वह एक लम्बे मनन चिंतन का परिणाम होती है। उसमें कवि-कलाकार के वैयक्तिक से लेकर सामाजिक अनुभव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाए रहते हैं। आखिर कोई कलाकृति युगान्तरकारी और महत्वपूर्ण क्यों होती है? क्या सौंदर्यानुभूति की विशिष्टता, उसकी अखंडता या उसकी अपनी स्वायत्तता के कारण? इसका स्पष्ट उत्तर है, नहीं। कोई भी कलाकृति मूल्यवान या महत्वपूर्ण इसलिए होती है कि उसमें संवेदन-क्षमता होती है, जीवनगत तथ्यों की संवेदन-क्षमता, जीवनगत मूल्यों की संवेदन-क्षमता और सबसे बढ़कर जीवनगत लक्ष्यादर्शों के अनुरोधों की संवेदन-क्षमता।

यहाँ आपके सामने कला की स्वायत्तता और सौंदर्यानुभूति तथा जीवनानुभूति के संबंध पर मुक्तिबोध की मान्यताओं को प्रस्तुत करने का एक उद्देश्य उनकी कविताओं को सही ढंग से समझने के लिए भूमि तैयार करना भी है। मुक्तिबोध की कविताओं में जीवन के प्रश्नों के साथ ही उनके समाधान की भी कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है। अत: उनकी कविताओं की मूल विशेषता को समझने के लिए उनके कला चिंतन को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। अपनी बदहाली से चोट खाकर वे शोषण-उत्पीड़न और दुख का केवल चित्रण करके नहीं रह जाते। उसकी कारक शक्तियों का विवेचन-विश्लेषण करते हुए उसके समाधान का मार्ग भी प्रस्तुत करते हैं। वे प्रश्न करते हैं - ''सभी मानव सुखी, सुंदर व शोषण मुक्त कब होंगे। (चकमक की चिनगारियाँ) इसे जिज्ञासा का रूप देते हुए उन्होंने लिखा है :

''क्यों मानव के
इस तुलसी वन में आग लगी
क्यों मारी-मारी फिरती है
मन की गहरी सज्जनता
दुख के कीड़ों ने खायी क्यों
ये जुही पत्तियाँ जीवन की''   (चाँद का मुंह टेढ़ा है)

इन प्रश्नों के उत्तर के लिए वे जीवन के प्रखर समर्थक की तरह उत्पीड़न की तह में जाते हैं। ''जब प्रश्न चिह्न बौखला उठे'' शीर्षक कविता में इस बात को आसानी से समझा जा सकता है, जब वे कहते हैं :

''संघर्ष विचारों का लोहू।
पीड़ित विवेक की शिरा-शिरा
में उठा गिरा
मस्त्रिक तंतुओं में प्रदीप्त
वेदना यथार्थों की जागी
मेरे सुख-दुख ने, अकस्मात भावुकतावश
सुख-दुख के चरणों की
मन-ही-मन
यों की पालागी।''

वस्तुत: यहाँ तक तो प्रसरणशील सहानुभूति की ही बात हुई, लेकिन आगे आत्म-विस्तार की यह स्थिति परिवार, ग्राम, पुर और उसके समूचे प्राकृतिक परिवेश में रमते हुए राष्ट्र और विश्व मानवता के व्यापकतम छोरों का स्पर्श करती है। कवि केवल दुखी के प्रति सहानुभूति दिखा कर ही नहीं रह जाता। वह आगे कहता है :

''जब इसी गली के नुक्कड़ पर
मैंने देखी
वह फक्कड़ भूख, उदार प्यास
नि:स्वार्थ तृषा
जीने-मरने की तैयारी

बशर्ते तय करो, किस ओर हो तुम, अब
सुनहले ऊर्ध्व आसन के
दबाते पक्ष में, अथवा
कहीं उससे लुटी टूटी
अंधेरी निम्न कक्षा में तुम्हारा मन,
कहाँ हो तुम? (चकमक की चिंगारियाँ)

मानवीय सामाजिक विकास के समूचे इतिहास में और वर्तमान युग में प्रमुख पक्ष दो ही रहे हैं। एक ''सुनहले ऊर्ध्व आसन पर'' विराजमान शोषक-शासक वर्ग का पक्ष और दूसरा उसके बोझ से आक्रांत ''अंधेरी निम्न कक्षा में'' कराहता हुआ शोषित उत्पीड़ित बहुसंख्यक वर्ग का पक्ष। 1935 में विश्व स्तर पर प्रगतिशील लेखक संघ का गठन हुआ था और द्वितीय विश्व युद्ध के समय विश्व और सोवियत रूस के बहुत सारे कलाकर्मी युद्ध के मोर्चे पर गए थे। भारत की स्वातंत्र्योत्तरकालीन परिस्थितियों में मुक्तिबोध ने इस प्रश्न को अत्यंत मानवीय और नैतिक बनाकर प्रस्तुत किया है। इस प्रकार का प्रश्न प्रगतिशील लेखक संघ के माध्यम से हिंदी में पहले भी उठा था - ''कस्मै देवाय हविषं विधेम'' के रूप में। ''हमें किस देवता की पूजा करनी चाहिए'' के प्रश्न को प्रगति-विरोधी खेमे से उच्च एवं निम्न वर्ग की पक्षधरता का प्रश्न बनाते हुए ''सबके लिए साहित्य-रचना'' की बात कही गई थी। लेकिन मुक्तिबोध ने इसे शोषक-शोषित, उत्पीड़क-उत्पीड़ित वर्ग का प्रश्न बना कर रखा है। वस्तुत: यहाँ एक नैतिक अनुरोध व्यक्त हुआ है, जो सामाजिक विकास की ''मानव पुण्यधारा'' का प्रश्न है, बहुसंख्यक मानव समाज के शोषण से मुक्ति का प्रश्न है। यह वह मानव समाज है, जिसके विषय में भाव-विह्वल होकर मुक्तिबोध ने लिखा है :

"जिनके स्वभाव के गंगाजल ने,
युगों-युगों को तारा है,
जिनके कारण यह हिंदुस्तान हमारा है
कल्याण-व्यथाओं में घुलकर
जिनके लाखों हाथों-पैरों ने यह दुनिया
पार लगाई है
जिनके कि पूत-पावन चरणों में
हुलसे मन - किए निछावर जा सकते
सौ-सौ जीवन'' (जब प्रश्न चिह्न बौखला उठे)

साधारण जनता के प्रति मुक्तिबोध की यह कल्पनाशील और बोधयुक्त सहानुभूति उनके लिए ''हृदय दान की बेला'' बनकर आती है। उनके लिए यही वास्तविक सौंदर्यानुभूति का क्षण है, जिसे वे मनुष्यता की निशानी मानते हैं। इस मानव रूप की प्राप्ति के लिए वे औरों से भी निवेदन करते हैं :

"अरे कब तक रहोगे आप अपनी ओट
कहाँ मिल पाओगे उनसे
कि जिनमें जनम ले निकले
तुम्हारी मुक्ति उनके प्रेम से होगी
कि तद्‌गत लक्ष्य में से ही हृदय के नेत्र जागेंगे,
व जीवन लक्ष्य उनके प्राप्त
करने की क्रिया में से
विकसते जाएँगे निजके
तुम्हारे गुण
कि अपनी मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते'' (चकमक की चिंगारियाँ)

यहाँ स्वयं अपने से ही नहीं वरन् समस्त शिक्षित मध्यवर्गीय जनता से मुक्तिबोध का अनुरोध व्यक्त हुआ है। उन्होंने आत्ममुक्ति के लिए जनमुक्ति को आवश्यक मानने के साथ ही आत्मविकास के लिए जन जीवन के विकास को पहली शर्त माना है। शोषित-उत्पीड़ित जनजीवन के लक्ष्यादर्शों की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले कर्म से मनुष्यता के गुण विकसित होते हैं। अत: अपनी मुक्ति का एक मात्र रास्ता है, जनमुक्ति। वस्तुत: इस प्रकार की गंभीर चिंता मुक्तिबोध के अंदर तत्कालीन भारतीय राजनीतिक-साहित्यिक परिस्थिति के कारण आयी है। 1950 के बाद के दशक में नयी कविता के मंच से इस बात को विशेष रूप से उठाया गया कि कवि-कलाकार सौंदर्य का उपासक होता है। सुंदर-सुंदर कृतियों का

निर्माण करना ही उसका धर्म है। उसे तटस्थता की स्थिति में रहना चाहिए। किसी विशेष समुदाय का पक्षधर या विरोधी नहीं होना चाहिए। कलाकर्म व्यक्तिगत कार्य है - उसे सामाजिक परिवर्तन का हथियार नहीं समझना चाहिए। यह कार्य नितांत अकेले में नि:संगता की स्थिति में होता है। इन सभी चुनौतियों को मुक्तिबोध ने ध्यान में रखकर कलाकर्म और उसकी पक्षधरता की पुनर्व्याख्या करते हुए उसे अंतरात्मा की पक्षधरता के साथ जोड़ा है, ''पक्षधरता का प्रश्न हमारी आत्मा का, हमारी अंतरात्मा का प्रश्न है। मैं उस आत्मा का, उस अंतरात्मा का पक्षधर हूँ। और, चूँकि मेरी अंतरात्मा की हलचल और बेचैनी आपकी अंतरात्मा की हलचल और बेचैनी से मिलती-जुलती है इसलिए जहाँ तक अंतरात्मा का प्रश्न है, मैं आपका भी पक्षधर हूँ और आप मेरे भी पक्षधर हैं। और चूंकि हम आप जैसे अंतरात्मा वाले बहुत से लोग इस संसार में हैं, इसलिए हम सब उन सबके और वे हम सब के पक्षधर हैं। ...संक्षेप में हम सब एक प्रवृत्ति हैं, एक धारा हैं - भावधारा, विचारधारा, जीवनधारा - और, हम बिना इस पक्षधरता के, अपने-आप को अपूर्ण, मूल्यहीन और निरर्थक पाते हैं।'' (नयी कविता का आत्म संघर्ष..., पृ0 109) मुक्तिबोध की यह पक्की धारणा रही है कि आज के जमाने में प्रत्येक व्यक्ति जाने-अनजाने एक शिविर बन गया है, तमाम अपने जैसे लोगों के साथ। इस प्रकार एक संघर्ष चला हुआ है - व्यक्ति और व्यक्ति के नहीं - दो विरोधी शिविरों, दो विरोधी वर्गों का। यह संघर्ष वर्तमान युग की कठोर वास्तविकता है, शोषक और शोषित अथवा पूंजीवाद और समाजवाद के रूप में। इससे जो इनकार करता है, वह या तो धोखे में है या दूसरों को धोखा देना चाहता है। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी यह वास्तविकता समान रूप से दिखायी देती है। हिंदी के प्रगतिवाद और नयी कविता के संघर्ष को मुक्तिबोध ने इसी रूप में देखा है, जिसके मूल में दो विरोधी सामाजिक हित, दो विरोधी रुख-रुझान निहित थे।

वस्तुत: नयी कविता के मंच से राजनीतिक-सामाजिक पक्षधरता के विरोध के लिए कला की स्वायत्तता और सौंदर्यानुभूति तथा जीवनानुभूति की पृथकता का सिद्धांत लाया गया था। इनके माध्यम से कविता को राजनीति के खुरदरे प्रभाव से बचाकर उसके स्वतंत्र विकास का बहाना बनाया गया। पक्षधरता और प्रतिबद्धता को वामपंथी राजनीति से जोड़कर प्रगतिशील कविता को साहित्य के क्षेत्र से खदेड़ने का प्रयास मुक्तिबोध को एक षडयंत्र की तरह लगा। फलस्वरूप उन्होंने राजनीति और कविता या कला के संबंध पर पुनर्विचार किया। ''ध्यान में रखने की बात है कि एक कला-सिद्धांत के पीछे एक विशेष जीवन दृष्टि होती है, उस जीवन दृष्टि के पीछे एक जीवन दर्शन होता है और उस जीवन दर्शन के पीछे, आजकल के जमाने में एक राजनीतिक दृष्टि लगी रहती है।'' (नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ0 57) यह मान्यता प्रगतिशील कविता के विषय में जितनी सत्य है, उतनी ही नयी कविता के विषय में भी। क्योंकि नयी कविता में जो राजनीति-विरोध का स्वर है, वह राजनीति से ही प्रेरित है। वह यथास्थितिवाद को बढ़ावा देते हुए शोषणमूलक पूँजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने का एक षडयंत्र तो है ही, व्यक्ति मानव में निहित क्रांतिकारी परिवर्तन की क्षमता को कुंठित करने का प्रयास भी है।

मुक्तिबोध मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण से मुक्ति के जिस आदर्श को लेकर कला चिंतन की ओर अग्रसर हुए हैं, वह राजनीतिक चेतना से अछूता रहकर कभी पूरा नहीं हो सकता। इस संबंध में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि ''संपूर्ण मानव-सत्ता का निर्माण करने का एक मात्र मार्ग राजनीति है, जिसका सहायक साहित्य है।'' (मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, पृ0 62) इसका और अधिक विस्तृत खुलासा करते हुए उन्होंने लिखा है, ''जनता की राजनीति और जनोन्मुख साहित्य का स्रोत एक ही है और वह है आज का यथार्थ। ...यदि हमारी काव्य-प्रेरणा वस्तुत: जनजीवन से उद्भूत हुई हो तो जनजीवन की वर्तमान परिस्थितियों और कष्टों का कारण भी हमारी अनुभूति क्षेत्र का अंग होगा। अर्थात् इनसानियत को तबाह करने वाले रावणों, उनके सिपहसालारों और दासों के जनविरोधी षडयंत्र भी हमारी अनुभूति के अंग होंगे। ...राजनीति और साहित्य मात्र अभिव्यक्ति में भिन्न हैं। उनका मूल है आज का यथार्थ यानी जनजीवन का यथार्थ, उसके लक्ष्य, उसके अभिप्रेत, उसके संघर्ष।'' ऐसी स्थिति में मुक्तिबोध ने राजनीति को काव्य के लिए विजातीय न मानकर परम आवश्यक सिद्ध किया है। अपने समीक्षात्मक लेखों के साथ ही उन्होंने अपनी कविताओं को भी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से जोड़कर अधिकाधिक राजनीतिक तेवर प्रदान किया है। ''ज़िंदगी का रास्ता'', ''चकमक की चिंनगारियाँ'', ''डूबता चांद कब डूबेगा'', ''ओ काव्यात्मक फणिधर'', ''चम्बल की घाटी में'', ''अंधेरे में'' आदि अधिकांश महत्वपूर्ण कविताओं में मुक्तिबोध ने अपने सामाजिक राजनीतिक रुख-रुझान को पूरे आग्रह-अनुरोध के साथ संवेदनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है।

पूंजीवादी व्यवस्था असहाय जनता का शोषण करके ही अपना काम नहीं चलाती, बरन् बड़े-बड़े बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों, नेताओं और यशस्वी कलाकर्मियों से भी अपनी चाकरी करवाती है। इस

व्यवस्था में बुद्धिजीवी कलाकारों की दुर्दशा पर अपनी ज़िंदगी का रास्ता'' शीर्षक कविता में मुक्तिबोध ने लिखा है :

"टूटे हुए होल्डर में लगी हुई
अच्छी सी निब-सी
केवल अहलकार का काम करती हुई
अच्छे कई व्यक्तियों की शक्तियाँ
गहरे न्यस्त स्वार्थों से अनुशासित होती हैं।

ऐसी स्थिति में ''ज़िंदगी का रास्ता'' का काव्य नायक अनुभव करता है :

''रामू ने देखा कि
दुनिया के पेंदे में
पूंजीवादी छेदों से
आधुनिक जीवन बुद्धिजीवियों का
ठीकरे सा लगता।''

अत: इस व्यवस्था में कलाकार और साहित्य की स्थिति का खुलासा करते हुए काव्य नायक रामू स्पष्ट शब्दों में कहता है :

''पूंजीवादी उल्लू के साहित्यिक पट्ठे
....बेचते हैं आत्मा को
वेश्या के देह-सा व्यभिचार के लिए।
....खाते हैं, सुख की आराम की वे
बासी मिठाइयाँ
पूंजीवादी चोट्टों के घर की
स्वार्थी भी चाहते हैं औचित्य, संगति
सामंजस्य,
सुविधा की डोर से वे शोषण के तर्कों को बांध कर
फिराते हैं घुमाकर विचारों के पत्थर
शोषण की बर्बर शाखाओं पर लटकाकर
फाँसी के झूलों में मानव
चाहते हैं छूना वे मानव के सत्य को।''

कुण्ठा, हताशा, ग्लानि, संत्रास, निरर्थकता, दुख आदि के रूप में पूँजीवादी व्यवस्था के अनुचर बुद्धिजीवी कलाकार जिस अटल मानवी सत्य को स्थापित करना चाहते हैं, उसकी अमानवीय क्रूरता यहाँ अच्छी तरह स्पष्ट हो गई है। लेकिन काव्य नायक रामू इससे निराश नहीं होता :

''बीसवीं सदी के इस पचासवें चरण के प्रयास में
जन-जन के दमन के काले अंधकार बीच
गगन में उठते गरीबों के हाहाकार बीच,
रामू के सोये हुए हृदय को
...अकस्मात् किसी ने
सत्य की शक्ति दी
औ, हिम्मत की राह दी
पूंजीवादी झूठ के विराट अत्याचार बीच।''

(मुक्तिबोध रचनावली भाग-1, पृ0 251)

रामू स्वयं तो इस व्यवस्था को बदल नहीं सकता लेकिन उसे दृढ़ विश्वास है कि ''कदाचित मेरो अस्थि कभी किसी काम आ जाए/ जनों के हाथों में खिलाफ जानवरों के।'' विश्व की बहुसंख्यक अभावग्रस्त उत्पीड़ित जनता के प्रति यह अशेष समर्पण मुक्तिबोध में ऐसे ही नहीं आया है। समस्त भौतिक मूल्यों के रचयिता को समाजेतिहास की विकास-प्रक्रिया का कर्णधार मानते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है :

''ज़िंदगी नशा बन घुमड़ी है
ज़िंदगी नशे सी छायी है

नव-वधुका बन
यह बुद्धिमती
ऐसी तेरे घर आयी है
रे, स्वयं अगरबत्ती से जल,
सुगंध फैला जिन लोगों ने
अपने अंतर में घिरे हुए
गहरी ममता के अगरुधूम
के बादल सी
मुझको अथाह मस्ती प्रदान की
वह हुलसी, वह अकुलायी
इस हृदयदान की बेला में मेरे भीतर
उन जन-जन का दुर्दान्त रुधिर
मेरे भीतर, मेरे भीतर'' - (जब प्रश्न चिह्न बौखला उठे)

वस्तुत: इस प्रकार की कल्पनाशील सहानुभूति सौंदर्यानुभूति का विशिष्ट रूप है। इसे राजनीतिक पक्षधरता का नाम देकर कविता के क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता।

वस्तुत: मुक्तिबोध ने पक्षधरता के प्रश्न को एक मानवीय नैतिक प्रश्न बनाकर उसे रचनाकार के मानवतावाद से भी जोड़ा है। इस संबध में, उनकी स्पष्ट मान्यता है कि यदि आज के संदर्भ में मानवतावाद का कोई अर्थ हो सकता है तो ''क्या लेखक के लिए यह परम आवश्यक नहीं है कि वह विश्व जनता के अभ्युत्थान को देखे और आज की उत्पीड़न करने वाली शक्तियों से सचेत हो और उसके प्रति विद्रोह करने वाली ताकतों से सहानुभूति रखे।'' (नये साहित्य का सौंदर्य शास्त्र, पृ0 37) क्या इस प्रकार की अपेक्षा की पूर्ति से कोई रचनाकार अपने कलात्मक या साहित्यिक स्तर से नीचे गिर जाएगा? वस्तुत: विश्व जनता से मुक्तिबोध का आशय यहाँ उस बहुसंख्यक साधारण जन से है, जो समस्त भौतिक मूल्यों की आधारशिला होने के बावजूद मनुष्योचित जीवन से वंचित है। मुक्तिबोध की दृष्टि से यह ''साधारण मनुष्य सल्तनत नहीं चाहता, मनुष्य की स्वाभाविक गरिमा के अनुरोधों के अनुसार वह जीवन चाहता है और उस जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो जाने की स्थिति चाहता है।'' (एक साहित्यिक की डायरी, पृ. 132) अत: रचनाकार का एक प्रकार से नैतिक दायित्व बन जाता है कि वह शोषित-उत्पीड़ित बहुसंख्यक जनता की आशा-आकांक्षा, उसकी भूख-प्यास को संवेदनात्मक रूप से अपनी आशा-आकांक्षा का अभिन्न अंग बनाए। यही मुक्तिबोध की पक्षधरता का स्वरूप है।

संक्षेप में एक सामाजिक सरोकार से युक्त प्रगतिकामी कलाकार के रूप में पक्षधरता को कलाकार के लिए अत्यंत मानवीय कर्म के रूप में मुक्तिबोध ने प्रस्तुत किया है। मुक्तिबोध की पक्षधरता की प्रकृति को यदि एक पंक्ति में रेखांकित करना हो तो कहा जा सकता है कि ''मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण से मुक्ति'' ही उनकी पक्षधरता की मूल प्रकृति रही है।

यहाँ तक आपने मुक्तिबोध के जीवन-दर्शन और काव्यदृष्टि पर कतिपय बिंदुओं के अंतर्गत विचार कर लिया है, जिनमें कवि की जीवन दृष्टि, कविता का स्वरूप और उसकी प्रकृति, कला की स्वायत्तता और जीवनानुभूति तथा सौंदर्यानुभूति के संबंध, पक्षधरता-प्रतिबद्धता और उसका मानवीय-राजनीतिक स्वरूप आदि मुख्य रूप से आए हैं। किंतु अभी उनके चिंतन और काव्य-जगत से संबद्ध दो पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है। इनमें से एक है उनकी सभ्यता-समीक्षा और दूसरा काव्य की रचना-प्रक्रिया। वस्तुत: इन पर विचार किए बिना मुक्तिबोध के काव्य-जगत का विश्लेषण अधूरा रह जाएगा।

3 .5 मुक्तिबोध कृत वर्तमान सभ्यता-समीक्षा

कला और साहित्य के अंतर्गत कलाकार की सभ्यता-समीक्षा या समाज-समीक्षा को मुक्तिबोध ने विशेष महत्व दिया है। नयी कविता के अन्यान्य पहलुओं की भांति ही वे उसकी सभ्यता-समीक्षा से भी पर्याप्त असंतुष्ट थे। इस संबंध में उन्होंने लिखा है कि ''यह ध्यान में रखने की बात है कि नयी कविता वर्तमान ह्रासग्रस्त, अध:पतनशील सभ्यता की असलियत को जब तक पहचानती नहीं, सभ्यता के

मूलभूत प्रश्नों से अपने को जब तक जोड़ नहीं लेती है, मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष से जब तक वह स्वयं को संयोजित नहीं कर पाती, जब तक उत्पीड़ित और शोषित मुखों के बिम्ब उसमें दिखाई नहीं देते, तब तक हमारा कार्य अधूरा रहेगा।'' -(नयी कविता का आत्म संघर्ष..., पृ0 19) वस्तुत: मुक्तिबोध ने अपने समीक्षात्मक लेखों में नयी कविता की सामाजिक सभ्यता संबंधी मान्यताओं पर गहरा आक्षेप किया है। अस्तित्ववाद के गहरे प्रभाव के कारण उनमें व्यक्त निराशा, ग्लानि, संशय, संत्रास, अर्थहीनता आदि को जो एक शाश्वत समस्या का रूप देते हुए प्राय: मूल्य का दर्जा दिया गया है, उसे मुक्तिबोध ने गलत माना है। इनके अंत:करण में यह बहस लगातार छिड़ी रहती है :

''सहसा वह बहस छेड़ देता
मानव समाज-रूपांतर विधि
की धाराओं में मग्न
मानवी प्राणों के
मर्मों की व्यथा-कथा... अगांर तपस्या पर
मानव स्वभाव के प्रश्नों पर
मानव सभ्यता समस्या पर'' (मेरे सहचर मित्र)

अपनी कविताओं में अनेक स्थलों पर परोक्ष रूप से मुक्तिबोध ने नयी कविता की भाववादी-व्यक्तिवादी दृष्टि पर आक्षेप किए हैं। स्थान के अभाव के कारण यहाँ उदाहरण तो नहीं दिए जा सकते लेकिन ''अंधेरे में'' कविता के ''सिर फिरे पागल'' के गान ''ओ मेरे आदर्शवादी मन'' से लेकर ''जीवित रह गए तुम'' तक के अंश को आप देख लें। यह अंश नयी कविता के व्यक्तिवादी भाववाद की प्रवृत्ति पर गंभीर आक्षेप माना जा सकता है। इसी प्रकार ''ओ, काव्यात्मन् फणिधर'' का नौवाँ खंड भी आप अवश्य देखें।

वस्तुत: मुक्तिबोध के लिए कविकृत सभ्यता-समीक्षा मूल्यांकन के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण आधार रही है। ''कामायनी : एक पुनर्विचार'' नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने प्रसाद कृत सभ्यता समीक्षा को ही कामायनी के मूल्यांकन का प्रमुख आधार बनाया है। अपने गहन सामाजिक सरोकार के कारण मुक्तिबोध ने वर्तमान सभ्यता - जो मूलत: पूंजीवादी-औद्योगिक और व्यावसायिक सभ्यता है -- के संबंध में अपनी संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं। ये प्रतिक्रियाएँ ही उनकी वर्तमान सभ्यता-समीक्षा है।

मुक्तिबोध स्वयं वर्तमान सभ्यता-समीक्षा की ओर एक निश्चित लक्ष्य के साथ उन्मुख हुए हैं। इसके लिए उन्होंने आज की औद्योगिक-व्यावसायिक सभ्यता के मूल में निहित और शोषण की नींव पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था पर सर्वाधिक आघात किया है। समाज में फैली सारी विकृतियों -- स्वार्थ, उत्पीड़न, अवसरवाद, भ्रष्टाचार, ग्लानि, क्षोभ, हताशा आदि की मूलकारक शक्ति के रूप में पूंजीवादी शोषण के भयानक परिणामों को चित्रित करते हुए उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि :

'शोषण की अति मात्रा
स्वार्थों की सुख-यात्रा
जब जब सम्पन्न हुई
आत्मा से अर्थ गया, मर गयी सभ्यता'' - (एक स्वप्न-कथा)

यह ह्रासोन्मुख सभ्यता कला, संस्कृति, चिंतन, दर्शन एवं ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में प्रवेश कर उन्हें विकृत कर देती है। ''ब्रह्मराक्षस'' कविता में इसका उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध ने कहा है कि :

''किंतु - युग बदला व आया कीर्ति - व्यवसायी
...लाभकारी कार्य में से धन
व धन में से हृदय-मन,
और धन-अभिभूत अंत:करण में से
सत्य की झाई निरंतर चिल-चिलाती थी''

इस हृदयहीन वातावरण में एक झूठी कला, एक झूठे दर्शन और निरर्थक आविष्कारों का अम्बार खड़ा होने लगता है। यह स्थिति हर क्षेत्र में सभी को विवश और अवाक कर देती है, जिसकी ओर संकेत करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है :

''सब चुप, साहित्यकार चुप और कविजन निर्वाक

चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं
...रक्तपायी वर्ग के नाभिनाल-बद्ध ये सब लोग
नपुंसक भोग शिरा-जालों में उलझे
प्रश्न की उथली सी पहचान
राह से अनजान
...गढ़े जाते संवाद
गढ़ी जाती समीक्षा
गढ़ी जाती टिप्पणी
...बौद्धिक वर्ग क्रीतदास
किराये के विचारों का उद्‌भास'' - (अंधेरे में)

''डूबता चांद. कब डूबेगा'' और ''ओ काव्यात्मन फणिधर'' जैसी लम्बी कविताओं में मुक्तिबोध ने पूंजीवादी सामाजिक सभ्यता के क्रूरतम प्रभाव का विस्तार से चित्रण करते हुए अंत में उससे छुटकारा पाने वाले मार्ग की ओर भी स्पष्ट संकेत किया है। अपनी ''ओ, काव्यात्मन फणिधर'' कविता के माध्यम से वे पूरे समाज का निरीक्षण-परीक्षण करते हुए अपने नवजात शिशु अर्थात् सर्वहारा की नयी चेतना के प्रति विश्वस्त भाव प्रकट करते हुए कहते हैं :

''पर शोक मत करो नागात्मन्...
आ गए तुम्हारी अनुपस्थिति में लोग
प्रतीक्षा जिनकी थी
उनके प्रकाश में
दीख सकेगा भीषण मुख...
वह भीषण मुख उस ब्रह्म देव का
जो रहकर प्रच्छन्न स्वयं
निज अंकशायिनी दुहिता-पत्नी सरस्वती
या विवेक-धी
के द्वारा ही
उद्दाम स्वार्थ या सूक्ष्म आत्मरति का प्रचार
कर भटकाता
विक्षुब्ध जगत को, उसके अपने मन से ही
काटकर अलग,
फेंक कर पृथक
उन दोनों को दूर परस्पर से, तुरंत
अपने को स्वयं चूम जाता
उस ब्रह्मदेव का टेढ़ा मुख
जग देख चुकेगा पूरा ही
उस ब्रह्मदेव का दर्शन सभी कर सकेंगे
जिसकी छत्रच्छाया में रह
अधिकाधिक दीप्तिमान होते
धन के श्री मुख,
पर, निर्धन एक-एक सीढ़ी नीचे गिरते जाते
उस ब्रह्मदेव का विवेक-दर्शन
होगा उद्‌घाटित पूरा''

यहाँ ''आत्मज शिशु'' प्रकाशमान रत्न के रूप में सर्वहारा से संपर्क करने के बाद अपना प्रभाव घर-घर में फैलाने वाला है। वस्तुत: यह शिशु अनुभव प्रसूत सर्वहारा की विचारधारा है, जो ब्रह्मदेव (पूंजीपति) की काली छाया से उसकी मुक्ति का मार्ग प्रस्तुत करेगी। ब्रह्मदेव वर्तमान पूंजीवादी व्यावसायिक सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक है, जो स्वयं प्रच्छन्न रहकर अपनी दुहिता (पुत्री) सरस्वती अर्थात् ज्ञान-विज्ञान, कला आदि की उपलब्धियों को ''निज अंकशायिनी'' (रखैल) के रूप में बदलकर समाज में आत्मबद्धता, स्वार्थ, अलगाव, आत्म निर्वासन, निरर्थकता आदि का प्रचार-प्रसार करता है। पूंजीवाद मानवी संबंधों से, उसके मूल्यवान आशयों को समाप्त कर एक घटिया स्पर्धा और कृत्रिम उपभोक्ता प्रवृत्ति को जन्म देता है। यह प्रवृत्ति शोषण और भ्रष्टाचार के निर्मम चक्र को तेज करने में सहायक

बनती है। अपनी विज्ञापन बाजी, जन संचार एवं प्रसारण के शक्तिशाली माध्यमों — पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो-टेलीविजन आदि के द्वारा पूंजीवाद एक ऐसा उपभोक्ता समूह पैदा करता है, जिसमें आत्मा, बुद्धि और चिंतन शक्ति पूर्णत: कुंठित हो जाती है। उपभोक्ता समूह की पसंद-नापसंद की दिशाएँ, उसके उपभोग का स्वरूप, उसका दृष्टिकोण, रुख-रुझान आदि सभी कुछ व्यवस्था के माध्यम से तैयार किया जाता है। सब कुछ को अपने में लपेट लेने वाला यह अमूर्तन पूंजीवाद की चारित्रिक विशेषता है, जो किसी को भी कहीं का नहीं रहने देती। इस भावधारा, जीवनधारा या विचारधारा का कारगर विरोध करने वाली एकमात्र विचारधारा के रूप में मुक्तिबोध ने सर्वहारा की विचारधारा को स्वीकार किया है। यह विचारधारा जब साधारण जनता की विचारधारा का अंग बनेगी तभी ''ब्रह्मदेव'' के विवेक-दर्शन के झूठ का पर्दाफाश हो सकेगा। इस प्रकार मुक्तिबोध वर्तमान अमानवीय व्यावसायिक सभ्यता की गतिहीनता से ऊपर उठकर उसे एक नया और गतिशील परिप्रेक्ष्य (पर्सपेक्टिव) प्रदान करते हैं। (''ओ, काव्यात्मन् फणिधर'' कविता को पढ़ते हुए आप देखें कि आरंभ से अंत तक मुक्तिबोध किस प्रकार पूंजीवाद के भयावह छद्म (झूठ) की पोल को खोलते हुए अंत में अपने ''काव्यात्मन् फणिधर'' को आश्वासन देते हैं :

''ओ, नागात्मन
संक्रमण काल में धीर धरो
ईमान न जाने दो
...ओ भूगर्भ-शास्त्री भीतर का बाहर का
व्यापक सर्वेक्षण कर डालो''

वस्तुतः यह कार्य मुक्तिबोध ने अपनी अन्यान्य कविताओं के माध्यम से सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है, जिसे आप ''चकमक की चिनगारियाँ'' ''अंधेरे में'' जैसे कविताओं में भी देख सकते हैं।

संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया की भांति ही मुक्तिबोध ने काव्यालोचन में कविकृत सभ्यता-समीक्षा को पर्याप्त महत्व दिया है। अपने आलोचनात्मक लेखों के साथ ही अपनी कविताओं में भी विस्तार से मुक्तिबोध ने वर्तमान युग के संदर्भ में अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं को प्रस्तुत किया है। वस्तुत: ये प्रतिक्रियाएँ ही उनकी वर्तमान सभ्यता-समीक्षा है। इसके अंतर्गत पूंजीवादी सामाजिक शोषण की क्रूरतम स्थितियों की भयावहता को अंकित करते हुए उन्होंने समाजवादी व्यवस्था की अनिवार्यता को रेखांकित किया है। लेकिन यह कार्य मुक्तिबोध ने इतने कलात्मक ढंग से सम्पन्न किया है कि उनके विरोधी भी, उन पर उंगली उठाने में संकोच और शर्म का अनुभव करते हैं।

3 .6 काव्य की रचना प्रक्रिया

हिंदी काव्यालोचन में रचना-प्रक्रिया पर सबसे अधिक और गंभीर विचार मुक्तिबोध ने किया है। यही नहीं, उन्होंने रचना-प्रक्रिया को देखे-समझे बिना की गयी आलोचना को अपूर्ण और आलोचक के अहंकार का परिणाम माना है। इस तथ्य को रेखांकित करते हुए उन्होंने आचार्य शुक्ल, पं. नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ0 राम विलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान की आलोचना पद्धति पर आक्षेप करते हुए लिखा है, ''वह आलोचना, जो रचना प्रक्रिया को देखे बिना की जाती है, आलोचक के अंहकार से निष्पन्न होती है। भले ही वह अहंकार से आध्यात्मिक शब्दावली में प्रकट हो चाहे कलावादी शब्दावली में, चाहे प्रगतिवादी शब्दावली में।'' (नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ0 92)। ''कामायनी एक पुनर्विचार'' में मुक्तिबोध ने ''कामायनी'' के मूल्यांकन का आधार ही प्रसाद की रचना-प्रक्रिया को बनाया है। छायावादी कवियों, विशेषत: पंत पर विचार करते हुए उनकी रचना-प्रक्रिया का संकेत मुक्तिबोध ने इस प्रकार किया है, ''पहली बात तो यह है कि पंत जी की वास्तवोन्मुखता की जितनी भी, जो भी प्रवृत्ति है, वह लालन-पालन, परिवार, वर्ग, स्वयं के जीवनानुभव, परिस्थिति आदि से सीमित तो है ही, साथ ही वह मनोरचना से भी सीमित है। जीवन-अस्तित्व की रक्षा तथा विकास के घनघोर संघर्ष में पड़कर यह मनोरचना अधिकाधिक वास्तवोन्मुख भी हो सकती थी। प्रसाद और उससे अधिक निराला के जीवन-संघर्ष के अपने-अपने ढंग के अनुभव हैं। ...इससे पृथक पंत जी में वास्तव के प्रति जो संवेदन क्षमता है, उस पर मूलत: अपना निज का बोझ नहीं होने से वास्तव के प्रति उनका संबंध द्वंद्वात्मक-संघर्षात्मक नहीं रहा। ...इसके विपरीत निराला और प्रसाद को अपने-अपने ढंग से, अपनी-अपनी दिशा में द्वंद्वात्मक स्थिति में आना पड़ा। वास्तविक जीवनानुभवों की जितनी सम्पन्नता निराला और प्रसाद में है, उतनी, उस हद तक, उस मात्रा में पंत जी के पल्ले नहीं पड़ी।'' - (नयी कविता का आत्म संघर्ष..., पृ0 77-78)

यहाँ यह लम्बा उद्धरण देने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि आप यह समझ सकें कि कला या कविता की रचना-प्रक्रिया का सीधा संबंध जीवन-प्रक्रिया से है। इसलिए मुक्तिबोध की यह मान्यता रही है कि आलोचना के लिए कवि की रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण और रचना-प्रक्रिया के लिए रचनाकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण आवश्यक है। अत: कृति की आलोचना अथवा उसका प्रभाव-ग्रहण, कृतिकार के व्यक्तित्व का भी प्रभाव ग्रहण है। इस प्रकार कृति की राह से गुज़रना कृतिकार के व्यक्तित्व की राह से गुज़रना है। मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया पर विचार करने से पूर्व उनकी रचना-प्रक्रिया संबंधी मान्यताओं पर विचार कर लेना आवश्यक है।

मुक्तिबोध ने रचना-प्रक्रिया पर ''एक साहित्यिक की डायरी'', ''नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध'', ''नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र'' और ''कामायनी : एक पुनर्विचार'' शीर्षक अपने चारों आ...भिक ग्रंथों में विस्तार से विचार किया है। उपर्युक्त तीन रचनाओं में रचना-प्रक्रिया पर स्वतंत्र लेख के साथ ही अन्य समीक्षात्मक लेखों में भी रचना-प्रक्रिया के महत्व को रेखांकित किया गया है। ''कामायनी : एक पुनर्विचार'' में रचना-प्रक्रिया के व्यावहारिक प्रयोग का स्पष्ट उदाहरण मिलता है। ''एक साहित्यिक की डायरी'' में ''तीसरा क्षण'' में वस्तुत: मुक्तिबोध ने अपनी रचना-प्रक्रिया को ही अधिक रेखांकित किया है। इसमें कला के तीन क्षणों की चर्चा करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है, ''कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट-तीव्र अनुभव-क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने दुखते-कसकते मूलों से अलग हो जाना और एक फैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानों वह फैंटेसी अपनी आंखों के सामने खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था की गतिमानता। शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में भीतर जो प्रवाह बहता रहता है, वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। प्रवाह में वह फैंटेसी अनवरत रूप से विकसित परिवर्तित होती हुई आगे बढ़ती जाती है। इस प्रकार वह फैंटेसी अपने मूल रूप को बहुत कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण कर लेती है।'' (एक साहित्यिक की डायरी, पृ0 20) इस मान्यता से हमारे सामने कई तथ्य आते हैं। पहला और सबसे महत्वपूर्ण तथ्य तो यह कि किसी कलाकृति के निर्माण के लिए केवल अनुभव ही पर्याप्त नहीं है। अपने नितांत वैयक्तिक अनुभवों को ही ''समझ'' मानकर सत्य के रूप में उसकी प्रतिष्ठा करने वाले नयी कविता के रचनाकारों पर मुक्तिबोध ने गहरा आक्षेप किया है। उनकी दृष्टि में एक जीते-जागते सामाजिक प्राणी के आत्मानुभव में कभी विशुद्ध अनुभव हो ही नहीं सकते। इसलिए उन्होंने आत्मानुभवों को इतिहास की विकास-प्रक्रिया और समसामयिक परिवेश में रखकर उनकी जाँच-परख पर बल दिया है। इस प्रक्रिया से गुज़र कर विशिष्ट अनुभव अपने मूल स्रोत से अलग होते हुए संवेदना और ज्ञान का रूप धारण करते हैं तथा व्यापक सत्य के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

रचना-प्रक्रिया की उपर्युक्त मान्यता मुक्तिबोध की अपनी रचना-प्रक्रिया को भी उद्घाटित करती है, क्योंकि उन्होंने फैंटेसी को अपने लिए एक विशेष शिल्प के रूप में स्वीकार किया है। फैंटेसी के वास्तविक अर्थ को अगली इकाई में विस्तार से स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा। यहाँ आप इतना ही समझ लें कि फैंटेसी मुक्तिबोध के लिए एक प्रकार का मनोस्वप्न है, जिसे दिवास्वप्न भी कहा जा सकता है। सभी कवि-कलाकार इस शिल्प को नहीं अपनाते, अत: रचना-प्रक्रिया से संबद्ध अपने अन्य लेखों में मुक्तिबोध ने फैंटेसी का उल्लेख नहीं किया है और न इसे रचना-प्रक्रिया की मध्य स्थिति ही माना है।

''नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबंध'' शीर्षक अपनी दूसरी रचना में उन्होंने रचना-प्रक्रिया पर विचार करते हुए ''डायरी'' के प्रथम, द्वितीय और तृतीय क्षण को भिन्न शब्दावली में स्पष्ट किया है। इसमें उन्होंने ''मूलभूत आभ्यंतर वास्तविकता के संवेदनात्मक साक्षात्कार'' को रचना का प्रथम स्तर या क्षण माना है। वस्तुत: ''डायरी'' का यह ''उत्कट तीव्र अनुभव क्षण'' है। कलाकार का दायित्व है कि इस स्तर पर वह भावों का संशोधन-सम्पादन करे। इस प्रक्रिया में पहले उपस्थित भाव या कथ्य में ऐसे तत्व जुड़ जाते हैं, जो आरंभ में कथ्य नहीं होते। इस नवीन तत्व के आगमन का कारण भाव-संपादन के साथ ही शैली संबंधी आग्रह भी है। यह कला का द्वितीय स्तर या क्षण है, जिसमें रचनाकार अपने मूल कथ्य के साथ ही एक विशेष रचना-रूप या शिल्प को स्वीकार कर चुका होता है। रचना का तृतीय स्तर या क्षण शब्दाभिव्यक्ति का क्षण है, जिसमें रचनाकार की वस्तु एवं शिल्प संबंधी पुरानी आदतें और अभ्यास बाधक बनते हैं। इसलिए आवश्यक है कि वह अपने अंत:तत्वों के साथ ही अपनी अभिव्यक्ति के सांचों का भी निरंतर विकास करता जाए। इस प्रकार मुक्तिबोध की दृष्टि में रचना-प्रक्रिया अत्यंत मानवीय प्रक्रिया है, जिसे उन्होंने सामाजिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के साथ ही एक

सांस्कृतिक प्रक्रिया भी माना है। रचना-क्षणों में विभिन्न संदर्भों से जुड़ते-कटते हुए रचनाकार आत्म संस्कार के साथ आत्म निर्माण भी करता है। लेकिन यह तभी संभव है, जब रचनाकार आत्म-संघर्ष, आत्म-साक्षात्कार और आत्म-संस्कार के प्रति एक तीव्र लक्ष्योन्मुखता से भी प्रेरित हो।

मुक्तिबोध द्वारा काव्य की रचना-प्रक्रिया का अत्यंत विस्तृत और प्रौढ़तम विश्लेषण "नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र" में हुआ है। इसके अंतर्गत उन्होंने "डायरी" के द्वितीय क्षण अर्थात् फैंटेसी के क्षण को कला का प्रथम क्षण अर्थात् सौंदर्यानुभूति का क्षण माना है। उत्कट-तीव्र जीवनानुभवों पर आधारिंत होते हुए भी उसकी सापेक्ष स्वतंत्र सत्ता होती है, जिस पर हमने "सौंदर्यानुभूति और जीवनानुभूति के संबंध" विषयक शीर्षक के अंतर्गत इसी इकाई में पहले ही विचार कर लिया है। सौंदर्यानुभूति का यह क्षण केवल कलाकार को ही नहीं, वरन् उन सबको प्राप्त होता है, जिन्हें हम मनुष्य कहते हैं। 'नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में कला का दूसरा क्षण कलात्मक अभिव्यक्ति का क्षण माना गया है, जो केवल कलाकार को ही प्राप्त होता है। शब्दाभिव्यक्ति के समय या अपने मूल मर्म को भाषा-प्रवाहित करते समय कवि के लिए एक नये और अत्यंत भीषण संघर्ष की शुरूआत होती है। भाषा एक सामाजिक सम्पदा है, जिसे मनमाने ढंग से तोड़ा-मरोड़ा नहीं जा सकता। उसके शब्द-संयोग एक भाव-परंपरा से जुड़े होते हैं। अत: अपने मूल अभिप्राय को अविकल रूप में व्यक्त करने के लिए कवि को नए सिरे से शब्द-साधना करनी पड़ती है। इस साधना में नए शब्द-संयोग बनते हैं, जिससे कवि के लिए नये अर्थ-संयोग विकसित होते हैं। अभिव्यक्ति-संघर्ष के दौरान आवश्यक नहीं कि गृहीत वस्तु-तत्व भाषा के नव-निर्मित शब्द-संयोगों द्वारा विकसित अर्थ-संयोगों के कटघरे में पूरी तरह "फिट" ही हो जाएं। यह भाषा और भाव का संघर्ष कवि का मानसिक संघर्ष बन जाता है, जिसमें एक तरफ भाषा की प्रचलित अर्थ-परंपरा उसके नवीन जीवन-तत्वों की कतर-ब्यौंत करते हुए उसे चुनौती देती हैं तो दूसरी ओर मार्मिक जीवन-तत्वों के स्पन्दन भाषा की काट-छाँट, तोड़-मरोड़ करते हैं। इस बीहड़ प्रक्रिया में जीवन-तत्वों का मर्म कट कर संकुचित ही हो यह आवश्यक नहीं। सामाजिक निधि होने के कारण भाषा मूल मर्म को विस्तृत और संपन्न भी कर सकती है और संकुचित तथा विपन्न भी। यहाँ सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कवि कितनी जागरूकता और ईमानदारी से इस संघर्ष को झेलता है और कितनी सजगता से इस संघर्ष को अपने अनुकूल मोड़ पाता है।

मुक्तिबोध सांस्कृतिक प्रक्रिया की भांति ही रचना-प्रक्रिया को एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भी मानते हैं। अत: उन्होंने कवि कलाकार के अंतजर्गत को भी, उसके व्यक्तित्व को भी आलोचना का विषय बनाया है। "एक साहित्यिक की डायरी" के "विशिष्ट और अद्वितीय" शीर्षक के अंतर्गत उन्होंने इसी आधार पर अपने समसामयिक साहित्यकारों की जीवन-पद्धति पर आक्षेप किया है। नयी कहानी और नयी कविता की व्यक्तिवादी अन्तर्मुखता, आत्मबद्धता, असामाजिकता, अद्वितीयता, अलगाव, अजनबीयत आदि के कारणों को मुक्तिबोध ने रचनाकारों की संपूर्ण मनोवैज्ञानिक स्थिति में देखा है। इस संबंध में उन्होंने लिखा है, "वे अपने असंग संवेदनशील प्रतिभाशालित्व को अद्वितीया कहते हैं। और मैं कहता हूँ कि समय पर विवाह न होने से उनके सुकोमल तंतुओं का विस्तार नहीं हुआ है और वे सुकोमल तंतु समाज की विभिन्न संस्थाओं से, समाज के विभिन्न रूपों से घनिष्ठ रूप से जुड़ नहीं पाए हैं। इसलिए समाज का वास्तविक प्रत्यक्ष संवेदनात्मक बोध, समाज के भीतर व्यक्ति मानवता, जो उसकी विभिन्न संस्थाओं के भीतर से ही किसी-न-किसी मात्रा में व्यक्त होती है - का हार्दिक परिचय उन्हें नहीं है। उनके लिए समाज केवल आत्मप्रक्षेप है, रेत का ढेर है, ढोरों की खटपट करती हुई भीड़ है।" - (एक साहित्यिक की डायरी, पृ0 101) इससे स्पष्ट है कि मुक्तिबोध ने रचनाकार की सामाजिक चेतना के विकास के लिए उसके पारिवारिक जीवन को महत्वपूर्ण माना है। स्त्री-बच्चों के सुख-दुख, उनकी शिक्षा दीक्षा, उनके उदरपूर्ति के संघर्ष के माध्यम से कलाकार समाज से सही ढंग से जुड़ पाता है। परिवार और समाज के साथ जुड़कर ही वह सुख-दुख, अच्छा-बुरा, न्याय-अन्याय, यथार्थ-आदर्श आदि का बोध प्राप्त करता है। अपनी पारिवारिक समस्याओं के माध्यम से ही वह सामाजिक समस्याओं — शोषण, बेरोजगारी, मंहगाई, भ्रष्टाचार आदि से परिचित हो पाता है। इससे स्पष्ट है कि मुक्तिबोध काव्यालोचन को प्रकारान्तर से जीवन की आलोचना भी मानते हैं, उस जीवन की, जो एक कवि-कलाकार जीता है। रचना-प्रक्रिया के अध्ययन में ये सारी बातें आ जाती हैं।

संक्षेप में मुक्तिबोध ने रचना-प्रक्रिया के संबंध में यह विशेष रूप से स्थापित किया है कि कला-रचना के लिए मात्र अनुभव ही पर्याप्त नहीं है। अपने अंतर्जगत में विद्यमान तमाम सारे अनुभवों के मध्य रख कर जब तक विशिष्ट अनुभव की जाँच-परख नहीं कर ली जाती, उसे सामान्य नहीं बना लिया जाता तब तक वे काव्य-रचना के विषय नहीं बन सकते। फलस्वरूप वे रचना-प्रक्रिया के तीन क्षणों को निर्धारित करते हैं। रचना का पहला क्षण है जीवन का उत्कट-तीव्र अनुभव क्षण तथा दूसरा क्षण है

आत्मानुभवों का अपने मूल से हटकर, अपनी विशिष्टता को त्याग कर सर्वसामान्य रूप धारण करना। वस्तुत: निर्विशेषीकरण या साधारणीकरण की यह प्रक्रिया एक लम्बी और जटिल प्रक्रिया है, जो आत्म संघर्ष और आत्म साक्षात्कार के बाद ही पूरी होती है। इस क्षण को मुक्तिबोध ने कलात्मक अनुभूति का क्षण माना है। इस कलात्मक अनुभूति के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया रचना का तीसरा क्षण है। शब्दाभिव्यक्ति के इस क्षण में भाव और भाषा का द्वंद्व प्राय: रचनाकार के मानसिक द्वंद्व का रूप ले लेता है। फलस्वरूप अपने अंतिम रूप में कलाकृति एक विशिष्ट रूप धारण करती है।

3.7 मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया

रचना-प्रक्रिया से संबद्ध उपर्युक्त मान्यताओं और उनके विवेचन विश्लेषण के प्रकाश में हम मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया को आसानी से समझ सकते हैं। यहाँ इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रत्येक कवि की नहीं, वरन् प्रत्यैक युग के काव्य की सृजन-प्रक्रिया में भी अंतर होता है। क्योंकि कवि-दृष्टि, कवि-स्वभाव, काव्य-वस्तु के साथ ही रचनाकार की जीवन-पद्धति, सामाजिक स्तर, रुचि-अरुचि, वर्ग-स्थिति, पारिवारिक स्थिति आदि की भिन्नता के कारण रचना-प्रक्रिया में अंतर आना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से देखें तो मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया छायावादी और नयी कविता के कवियों से ही नहीं, वरन् नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल जैसे प्रगतिशील कवियों से भी नितान्त भिन्न है। इस भिन्नता के लिए उपर्युक्त अन्यान्य कारणों के साथ ही दो और कारण भी माने जा सकते हैं। पहला तो यह कि उन्होंने आत्म-संघर्ष से आत्म-साक्षात्कार और फिर जगत-साक्षात्कार की एक बहुत ही जटिल प्रक्रिया को स्वीकार किया था और दूसरा यह कि उन्होंने काव्य-रचना के लिए एक अत्यंत कठोर मान-दंड स्वीकार किया था। इन दोनों तथ्यों को उनकी रचना-प्रक्रिया में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसके लिए ''अन्त:करण का आयतन'', ''जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे'', ''चकमक की चिनगारियाँ'', ''अंधेरे में'' आदि किसी एक कविता का संपूर्ण विश्लेषण आवश्यक है। ''चकमक की चिनगारियाँ'' और ''अंधेरे में'' - दोनों कविताएँ तो आपने पढ़ ही ली होंगी। ''अंधेरे में'' कविता का विस्तृत अध्ययन आप इससे आगे की किसी इकाई में करेंगे ही। अत: यहाँ मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए अत्यंत संक्षेप में ''चकमक की चिनगारियाँ'' कविता को आधार बनाना अधिक संगत प्रतीत होता है।

''चकमक की चिनगारियाँ'' कविता के रचना-प्रक्रियात्मक विश्लेषण से पूर्व शीर्षक के तात्पर्य पर विचार कर लेना आवश्यक है। चकमक एक विशेष प्रकार का पत्थर होता है, जिस पर चोट करने से चमकीली और ज्वलनशील चिनगारियाँ निकलती हैं। यहाँ चकमक से मुक्तिबोध का अभिप्राय उस शिलावत व्यक्तित्व से है, जिसमें जीवनानुभवों के पुंज के साथ ही संस्कार रूप में युग-युगान्तर की मानव चिन्ताधारा और विचार-परंपरा सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। ये जीवनानुभव और अर्जित ज्ञानराशि अवचेतन या अर्ध-चेतन में पहुँच कर अनुपयोग के कारण निष्क्रिय पड़ी रहती है। ऐसी स्थिति में जीवन-यात्रा के दौरान इनका समुचित उपयोग नहीं हो पाता। संवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित बाह्य मन और अन्तरात्मा (गुप्त) मन के संघर्ष से अनुभव चकमक की चिनगारियों की भाँति प्रगट होकर जीवन को ज्ञान का प्रकाश देते हैं। इनके प्रकाश में जहाँ एक ओर अन्तर और बाह्य की दूरी कम होती है, आचार और विचार की दूरी भी कम हो जाती है, वहीं दूसरी ओर मूल्य भावना भी दृढ़ होती है। इस मूल्य-भावना के सहारे व्यक्ति अपने युग और समाज के साथ सार्थक ढंग से जुड़ पाता है। इस कविता को आत्मपरक से वस्तुपरक और जगतपरक होने की प्रकिया का सुंदर उदाहरण माना जा सकता है। इसके विश्लेषण से मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया के साथ ही निजी व्यक्तित्व, उनकी जीवन-दृष्टि, कला-दृष्टि, सामाजिक मूल्य-भावना आदि सभी कुछ प्रगट हो जाएगा।

''चकमक की चिनगारियाँ'' कविता में स्पष्टत: तीन स्तर या स्थितियाँ हैं। प्रथम तो जीवन का उत्कट-तीव्र अनुभव क्षण है, जिसे हम आत्मभोग का स्तर कह सकते हैं। दूसरा क्षण है, आत्मबद्धता की स्थिति की समाप्ति से उत्पन्न सौन्दर्यानुभूति या फैन्टेसी का क्षण। तीसरा क्षण है, कलात्मक अभिव्यक्ति का क्षण। ये तीनों क्षण परस्पर इतने मिले-जुले हैं कि इन्हें एक दूसरे से आसानी से अलग नहीं किया जा सकता। लेकिन कविता के विश्लेषण में उनकी पृथकता की ओर आसानी से संकेत किया जा सकता है। कविता का आरंभ भोगी गयी ज़िंदगी के कटुतिक्त अनुभवों की पीड़ा से इस प्रकार होता है:

''अधूरी और सतही ज़िंदगी के गर्म रास्तों पर
हमारा गुप्त मन
निज में सिकुड़ता जा रहा

आत्मालोचनात्मक स्वर प्रखर हो।''
(मूल कविता आप स्वयं देख लें)

प्राय: प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कितना भी महान क्यों न हो, जब अपने बिताए गए जीवन से अपनी अन्तरात्मा की तुलना करता है तो उसे जीवन सतही और अधूरा ही प्रतीत होता है। एक ओर निम्न-मध्यवर्गी परिवार की अभाव ग्रस्त ज़िन्दगी और दूसरी ओर कवि-कलाकार के रूप में एक उच्च मानवीय नैतिक दायित्व दोनों में ज़मीन आसमान का अंतर दिखायी देता है। फलस्वरूप यहाँ बाह्य मन और गुप्त मन (अन्तरात्मा) के अंतराल के माध्यम से पीड़ित व्यक्ति का चित्रण है। बाह्य मन, जो प्राय: दुनियादार होता है और गुप्त मन की पारस्परिक स्थिति को व्यक्त करने के लिए, मुक्तिबोध ने दो उपमानों का सहारा लिया है, जो मात्र उपमान न होकर विश्व की दो व्यापक उत्पीड़न मूलक स्थितियाँ हैं। बहुत से गोरों के बीच एक हब्शी की स्थिति और सरकारी पाबंदी के मध्य, कीमती मजमून, गैर कानूनी किताब जब्तपरचों में संजोये, अभिव्यक्ति के लिए छटपटाते बेचैन सत्य की स्थिति दुनियादार मन से आक्रांत गुप्त मन की अवस्था को पूरी तरह उद्घाटित करती है। एक सामान्य सुविधा भोगी और एक नैतिक दायित्व बोध से युक्त व्यक्ति में पर्याप्त अंतर होता है। एक है, जो अपने किए पर कुछ सोचता ही नहीं, या फिर सोचता है तो उसका औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। लेकिन दूसरा अपनी कुछ कमियों के कारण ही अपने को ''अंधे दौर से गुज़रा'' समझकर आत्मालोचन की ओर प्रवृत्त होता है। इस आत्मालोचन की भयानक वेदना को कविता के दूसरे खंड में प्रस्तुत किया गया है। जिससे स्पष्ट है कि जीवन का उत्कट-तीव्र क्षण इतना भयानक और शर्मनाक है कि :

''हर पल चीखता हूँ शोर करता हूँ
कि वैसी चीखती कविता बनाने में मैं लजाता हूँ''

दूसरे खंड को देखकर मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया और उनके व्यक्तित्व से अपरिचित पाठक को यह लग सकता है कि मुक्तिबोध आत्म ग्लानि से अत्यधिक पीड़ित थे। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए उन्होंने दमन, शोषण और उत्पीड़न का सहारा लिया था। किंतु इसे पूरी कविता और उनके व्यक्तित्व के संदर्भ में परखें तो हम पाएंगे कि यहाँ कवि के एक ऊंचे मानवी-नैतिक दायित्व का बोध व्यक्त हुआ है। ''अचानक सनसनी भौंचक'' यहाँ और कुछ नहीं, वरन् संवेदनात्मक उद्देश्य हैं, जिन्हें मुक्तिबोध ने जीवन-पद्धति के साथ ही रचना-प्रक्रिया में भी अत्यधिक महत्व दिया है। ये संवेदनात्मक उद्देश्य जीवन मार्ग पर उत्पन्न होकर एक तरफ जीवन यात्रा को सार्थक बनाते हैं तो दूसरी ओर सौंदर्यानुभूति के क्षण में उत्पन्न होकर रचना-प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं। प्रत्येक कवि की रचना-प्रक्रिया की भिन्नता के बावजूद मुक्तिबोध ने उसके चार अनिवार्य तत्व स्वीकार किए हैं - पहला संवेदनात्मक उद्देश्य, दूसरा कल्पना, तीसरा भावना और चौथा बुद्धि। अनुभव क्षण से लेकर शब्दाभिव्यक्ति के क्षण तक इस संवेदनात्मक उद्देश्य की स्थिति बराबर बनी रहती है। कविता के इस दूसरे खंड में ये संवेदनात्मक उद्देश्य मनन-चिंतन द्वारा आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया को पूर्ण करते हैं। इसे मुक्तिबोध कलात्मक अनुभव या सौंदर्यानुभूति का क्षण मानकर जीवन प्रतीति का क्षण मानते हैं। यही कारण है कि अपने अंतर के नितांत वैयक्तिक यथार्थ को, अपनी चीख-पुकार को, ज्यों का त्यों कविता में व्यक्त करने में मुक्तिबोध लज्जा का अनुभव करते हैं।

''चकमक की चिनगारियाँ'' कविता के तीसरे खंड में वैयक्तिकता का परिहार होने के बाद ही सौंदर्यानुभूति का क्षण उपस्थित होता है। यह कार्य भी संवेदनात्मक उद्देश्य के ''कनपटी पर जोर से आघात'' के माध्यम से होता है। ''कंधे से सिर का गायब होना'' अपने ''अहम्'' या ''स्व'' की घेरेबंदी का टूटना है, इस निर्वैयक्तिकता की स्थिति में पहुँचकर ही कविता का नायक महसूस कर पाता है कि:

''अरे कब तक रहोगे आप अपनी ओट
.... कहाँ मिल पाओगे उनसे
कि जिनमें जनम ले निकले''

कविता के तीसरे खंड से लेकर पाँचवे खंड तक यह निर्वैयक्तिकता की स्थिति बराबर बनी रहती है, जिसमें संवेदनात्मक उद्देश्य के हस्तक्षेप से लगातार मनन-चिंतन चलता रहता है और कविता के पाँचवे खंड के अंत में यह निष्कर्ष सामने आता है कि :

''अपनी मुक्ति के रास्ते
अकेले में नहीं मिलते''

कविता के छठवें से लेकर आठवें खंड तक आत्म-साक्षात्कार से जगत साक्षात्कार के अन्यान्य पहलू रेखांकित हुए हैं। इनमें अभ्यंतर (अन्त:करण) के बाह्यीकरण और बाह्य के आभ्यंतरीकरण की अत्यंत उलझी हुई प्रक्रिया का बहुविध चित्रण हुआ है। इस प्रक्रिया के महत्व पर प्रकाश डालते हुए मुक्तिबोध ने अन्यत्र लिखा है, ''बाह्य का आभ्यंतरीकरण और आभ्यंतर का बाह्यीकरण एक निरंतर चक्र है। यह आभ्यंतरीकरण और बाह्यकरण मात्र मनन जन्य नहीं है, वरन् कर्म जन्य भी है।'' (नयी कविता का आत्म संघर्ष ...... पृ0 8) इस कर्मजन्यता की पृष्ठभूमि उपर्युक्त तीनों खंडों में स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। अत: यहाँ निर्वैयक्तिकता की स्थिति पूर्ण तटस्थता की स्थिति न होकर परम तल्लीनता, अपने को अपने जैसे सभी लोगों के साथ लय कर देने की स्थिति है। इस कार्य के पीछे संवेदनात्मक उद्देश्य की महत्वपूर्ण भूमिका को मुक्तिबोध ने कविता के तीनों खंडों में अच्छी तरह रेखांकित किया है। रचना-प्रक्रिया में संवेदनात्मक उद्देश्य की स्थिति को स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है, ''संवेदनात्मक उद्देश्य विद्युत की वह धारा है, जो अन्तर्व्यक्तित्व से प्रसूत होकर जीवन-विधान करती है, कला विधान करती है, अभिव्यक्ति-विधान करती है। आत्मचरितात्मक ये संवेदनात्मक उद्देश्य हृदय में स्थित जीवनुभवों को एक ओर (एक दिशा में) प्रवाहित कर देते हैं।'' (नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ0 90)

ये संवेदनात्मक उद्देश्य हमेशा छाया की तरह अन्तर्जगत में सक्रिय रहते हैं। कविता के छठे खंड में वे ''मनो-आकार-चित्रा सुनेत्रा'' के रूप में दिखाई दे रहा है तो कविता के सातवें खंड में वह ''अंधेरे में, अकेली एक छाया-मूर्ति'' के रूप में टायपिस्ट का कार्य करते हुए ''लुमुम्बा, अलजीरिया, लाओस, क्यूबा'' से संबद्ध स्थितियों का निरीक्षण-परीक्षण कर रहा है। वस्तुत: लुमुम्बा की हत्या, अलजीरिया, लाओस, क्यूबा आदि देशों पर साम्राज्यवादी शक्तियों के क्रूरतम आक्रमण मुक्तिबोध के अन्तर्जगत के अंग हैं। ये घटनाएँ नितान्त वस्तु-तथ्यात्मक न होकर अपना प्रतीकार्थ भी रखती हैं, जिनके मूल में जाकर मुक्तिबोध उनके उन्मूलन की मानवीय समस्या पर विचार करते हैं। ''चकमक की चिनगारियाँ'' कविता के आठवें खंड में संवेदनात्मक उद्देश्य ''मानव-पुण्य धारा'' और ''मानव-न्याय-संवेदन'' का वास्ता दिलाकर यह चुनौती उपस्थित करता है, ''बशर्ते तय करो, किस ओर हो तुम अब''। इस निर्णय के बाद लम्बे अध्याय के रूप में कविता के नवें खंड का प्रारंभ होता है। यह खंड मुक्तिबोध के कवि स्वभाव, उनकी ''स्थानान्तरगामी'' (मायग्रेशन) प्रवृत्ति और नाटकीय कौशल का सूचक है। इस खंड में एक ओर कवि ने अपने बीहड़ मनोलोक की झाँकी अत्यंत रहस्यात्मक ढंग से प्रस्तुत की है तो दूसरी ओर ''प्रशोषण सभ्यता की दुष्टता के भव्य देशों'' की गरीब जनता की सूचनाओं में तल्लीन होकर ''जगत संवेदनों से आगमिष्यत् का सही नक्शा बनाने की भी बात की है। इसमें एक ओर शोषण-उत्पीड़न के सारे यंत्र-तंत्र हैं तो दूसरी ओर ''पहाड़ों-जंगलों में मुक्तिकामी लोक सेवाएँ हैं, जो शत्रुओं पर भयानक वार करती हैं। सब मिलाकर कविता के इस खंड के अंत में गरीबी, शोषण उत्पीड़न, भूख, बदहाली का ऐसा जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो क्रांति की अनिवार्यता को रेखांकित करता है।

कविता का दसवाँ खंड कविकृत आत्म-साक्षात्कार से जगत-साक्षात्कार के अंतिम निष्कर्ष से संबद्ध है, जिसमें पहले खंड की ''अधूरी और सतही ज़िंदगी'' की पीड़ा से उबरने और जीवन के आकर्षक रूप की वास्तविक पहचान को इस प्रकार रेखांकित किया गया है :

''कि मानो या न मानो तुम ....
अधूरी और सतही ज़िंदगी में भी
जगत पहचानते, मन जानते
जी-माँगते तूफान आते हैं,
उनके धूल-धुंधले, कर्ण-कर्कश
गद्य छंदों में
तड़पते भान, दुनिया छान-आते हैं।''

एक दायित्व वाले व्यक्ति के लिए ज़िंदगी अपने अधूरे और सतहीपन के बावजूद आकर्षक लगती है, उसे पूर्ण और सुंदर बनाने के लिए प्रेरित करती है। प्रत्यय या बोध के इस क्षण में उसे सर्वत्र क्रांति की बू आती है और ''मानव भविष्यत युद्ध में रत'' साधारण जनता के प्रति प्यार की भावना का उदय होता है।

कविता के ग्यारहवें खंड का आरम्भ क्रांति की ''बारुदी धुएँ की झार (बू)'' और साधारण जनता के प्रति प्यार से होता है। यहाँ कवि मानवता के विकास के सारे प्रश्नों और उनके उत्तरों को कृत्रिम और छलपूर्ण मानते हुए केवल एक समस्या को सामने रखता है :

समस्या एक -
मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी, सुंदर व शोषण-मुक्त
कब होंगे

इस एक समस्या के समाधान की अनिवार्यता को रेखांकित करते हुए भी मुक्तिबोध अपनी ओर से कोई समाधान न देकर केवल एक मानवीय आग्रह और अनुरोध मात्र प्रस्तुत करते हैं। लेकिन वर्तमान जीवन की वास्तविकता को, उसके परिवर्तनशील यथार्थ को सही ढंग से समझ कर ये आग्रह और अनुरोध प्रस्तुत किए जा सकें, इसके लिए वे कवि-कलाकार के व्यक्तित्वान्तरण को आवश्यक मानते हैं:

''कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
उमग कर
जन्म लेना चाहता फिर से
कि व्यक्तित्वान्तरित होकर
नये सिरे से समझना और जीना
चाहता हूँ, सच!!''

(इस अंश के विश्लेषण के लिए आप इस इकाई के आरंभ में ''जीवन-दर्शन और काव्य-दृष्टि'' वाले अंश को देख लें)

वस्तुत: यह कविता इस ग्यारहवें खंड तक ही समाप्त हो जानी चाहिए थी। इसका बारहवाँ खंड अलग से जोड़ा हुआ प्रतीत होता है। बावजूद इसके यह खंड कविता के स्वरूप, उसकी प्रकृति, स्वाधीनता, कवि और समाज के साथ उसके संबंध आदि के साथ ही मुक्तिबोध की काव्य-दृष्टि को भी उद्घाटित करता है।

'नहीं होती कहीं भी कविता खतम नहीं होती तब मुझी से लिपट जाती है'' ''जीवन-दर्शन और काव्य-दृष्टि'' शीर्षक के अंत में दी गई इसकी व्याख्या भी इस संदर्भ में देख लें। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस अंश में मुक्तिबोध ने कला के तीनों क्षणों - उत्कट-तीव्र अनुभव क्षण, उसके फैण्टेसी या सौंदर्यानुभव में परिवर्तित होने के क्षण के साथ ही शब्दाभिव्यक्ति के क्षण को एक साथ अत्यंत कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि रचना-प्रक्रिया मूलत: एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो रचना के कार्य-कारण संबंधों को प्रकाश में लाने के साथ ही रचना और रचनाकार के व्यक्तित्व-विश्लेषण को समान महत्व देती है। इसलिए मुक्तिबोध ने जीवन-प्रक्रिया या रचनाकार की जीवन पद्धति को रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण में विशेष महत्व दिया है। इसकी जानकारी के लिए रचनाकार का वैयक्तिक पारिवारिक स्तर, उसकी सामाजिक स्थिति-परिस्थिति, बाह्य परिवेश के साथ उसका संबंध, उसकी वर्गीय स्थिति आदि सभी पहलुओं पर ध्यान देना आवश्यक है। इस विषय में उनकी स्पष्ट मान्यता है कि ''कृति की आलोचना अथवा प्रभाव ग्रहण, कवि के व्यक्तित्व का भी प्रभाव-ग्रहण है।'' मूलत: व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मानते हुए भी मुक्तिबोध ने रचना-प्रक्रिया को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया भी माना है। इसलिए उसके साथ आत्म संस्कार से लेकर समाज संस्कार के कार्य भी जुड़े हुए हैं। अतः रचना-प्रक्रिया के अध्ययन की ओर वे एक विशेष उद्देश्य से प्रवृत्त हुए थे। वह उद्देश्य एक ओर अपनी विशेष काव्य-प्रवृत्ति का औचित्य सिद्ध करना था तो दूसरी ओर किसी कृति का समुचित मूल्यांकन करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहाँ वे एक ओर सौंदर्य संबंधी एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुंच सके हैं, वहीं दूसरी ओर उन्होंने आगे के लिए सृजनशील साहित्य का मार्ग भी प्रशस्त किया है।

रचना-प्रक्रियै़ा के तीन क्षणों की अलग-अलग पहचान वस्तुत: मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया की पहचान के साथ ही उनके समुचित मूल्यांकन के लिए भी आवश्यक है। अगर आप नागार्जुन के काव्य पर

विचार करते हुए इस मान्यता को ज्यों-का-त्यों लागू करेंगे तो उनके साथ गंभीर अन्याय होगा। मुक्तिबोध के काव्य में आभ्यंतर के बाह्यीकरण और बाह्य के आभ्यंतरीकरण के साथ अन्तर्जगत के संशोधन संपादन की जो जटिल प्रक्रिया है, वह अन्य प्रगतिशील कवियों के यहाँ नहीं है। अत: मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया में जिन विशेष बिंदुओं को रेखांकित किया गया है, वे मूलत: उनके काव्य की सही समझ के लिए ही हैं।

3 .8 सारांश

सब मिलाकर मुक्तिबोध एक महत्वपूर्ण प्रगतिशील कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। हिंदी काव्य जगत में आने वाली अगली पीढ़ी के लिए उन्होंने एक नयी जमीन दी है। अपनी समीक्षाओं के साथ ही अपनी कविताओं के माध्यम से उन्होंने जबरन दफनाए गए प्रगतिशील आंदोलन को अच्छी तरह सहेज कर, अत्यंत सावधानीपूर्वक कब्र से बाहर निकाल कर नवजीवन प्रदान किया है। आज का प्रमुख साहित्यान्दोलन-जनवादी साहित्यान्दोलन इस बात को सिद्ध करता है कि मुक्तिबोध एक रुके हुए ''जबरदस्त कार्यक्रम'' और ''आगे ढकेली गयी महत्वपूर्ण प्रतीक्षित तिथि'' थे। अपनी कविताओं के माध्यम से उन्होंने ''कविता के आगमिष्यत'' के साथ समाज के भविष्य-निर्माण का एक सही नक्शा, आगे आने वाली पीढ़ी के लिए एक महान स्वप्न के रूप में दिया है। यह नक्शा और स्वप्न अपनी कुछ अस्पष्टता और धुंधलेपन के बावजूद आज के समूचे प्रगतिकामी कवियों के लिए प्रेरणा-बिंदु का कार्य कर रहा है।

3 .9 प्रश्न

1. काव्य की रचना-प्रक्रिया में रचनाकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण क्यों आवश्यक है?
2. रचना-प्रक्रिया में आने वाले क्षणों के पारस्परिक संबंधों को स्पष्ट करें।
3. काव्यालोचन में रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण की सार्थकता को स्पष्ट करें।
4. मुक्तिबोध के जीवन-दर्शन और उनकी काव्य-दृष्टि के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट करें।
5. मुक्तिबोध की कविताओं में व्यक्त उनकी प्रतिबद्धता के स्वरूप और प्रकृति को स्पष्ट करें।
6. मुक्तिबोध कृत वर्तमान सभ्यता-समीक्षा की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए उसके महत्व पर प्रकाश डालें।
7. ''मुक्तिबोध ने अपनी जीवन दृष्टि को अत्यधिक कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।'' इस कथन के आशय को स्पष्ट करें।
8. मुक्तिबोध को लम्बी, किंतु अधूरी कविताओं का कवि कहा गया है। क्यों?
9. कला की स्वायत्तता और जीवनानुभूति तथा सौंदर्यानुभूति के संबंधों पर मुक्तिबोध को पुनर्विचार करने की आवश्यकता क्यों महसूस हुई?

9\. 'मुक्तिबोध के लिए प्रतिबद्धता और पक्षधरता की समस्या राजनीतिक होने की अपेक्षा मानवीय और नैतिक अधिक है।' इसे स्पष्ट करें।

इकाई 4 मुक्तिबोध का काव्य शिल्प : फैंटेसी के संदर्भ में

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 फैंटेसी का स्वरूप और उसकी प्रकृति
4.3 फैंटेसी के शिल्प की शक्ति और सीमा
4.4 फैंटेसी : कविताओं के विश्लेषण के संदर्भ में
4.5 भाववादी शिल्प का यथार्थवादी दृष्टि से उपयोग
4.6 मुक्तिबोध द्वारा प्रयुक्त उपमा, रूपक, प्रतीक, मिथक और बिंब
4.7 काव्य भाषा, शब्दावली और विराम चिह्न
4.8 कुछ कविताओं के शीर्षकों का आशय - अभिप्राय
4.9 सारांश
4.10 प्रश्न

4.0 उद्देश्य

यह इकाई गजानन माधव मुक्तिबोध के काव्य शिल्प के अध्ययन से संबंधित है। मुक्तिबोध के काव्य शिल्प को फैंटेसी के विशेष संदर्भ में समझाने का प्रयास इस इकाई में किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- काव्य शिल्प के रूप में फैंटेसी के महत्व को समझ सकेंगे,
- फैंटेसी के स्वरूप और प्रकृति की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- फैंटेसी के शिल्प की विशेषताएँ जान सकेंगे,
- मुक्तिबोध ने फैंटेसी शिल्प का अपनी काव्य-रचना में किस प्रकार सर्जनात्मक उपयोग किया है - यह समझ सकेंगे, और
- फैंटेसी के संदर्भ में मुक्तिबोध के काव्य शिल्प की अन्य विशेषताएँ जान सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अंतर्गत हम मुक्तिबोध के काव्य-शिल्प पर विस्तार से विचार करेंगे। मुक्तिबोध ने अपने लिए फैंटेसी के शिल्प को चुना था, जिसमें मिथक, प्रतीक, रूपक, उपमा, बिंब आदि अभिव्यक्ति के विभिन्न उपकरण घुल-मिलकर आए हैं। अत: इस इकाई के अंतर्गत ही उपर्युक्त उपकरणों के महत्व पर भी प्रकाश डाला जाएगा। वस्तुत: "फैंटेसी'' आपके लिए एक नया शब्द है, जो हिंदी का अपना न होकर अंग्रेज़ी का शब्द है। अत: इसके अर्थ के साथ ही फैंटेसी के स्वरूप, उसकी प्रकृति के विषय में मनोविश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिकों, क्रिस्टोफर काडवेल जैसे समर्थ साहित्यिक चिंतकों की मान्यताओं पर भी विचार करना ज़रुरी है। फैंटेसी का मुक्तिबोध-सम्मत अर्थ ''एक साहित्यिक की डायरी'' के ''तीसरा क्षण'' शीर्षक निबंध और ''कामायनी : एक पुनर्विचार'' शीर्षक समीक्षात्मक ग्रंथ में विस्तार से स्पष्ट हुआ है। यहाँ उसे संक्षेप में ही प्रस्तुत किया जाएगा। लेकिन इससे पूर्व विषय-वस्तु, रूप या शिल्प के संबंध को लेकर मुक्तिबोध की मान्यताओं से आपका परिचय होना आवश्यक है। कथ्य और शिल्प के पारस्परिक संबंध के विषय में मुक्तिबोध की यह मान्यता रही है कि इन दोनों को एक-दूसरे से पूरी तरह अलग-थलग कर के हम इनका वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर सकते। इस तथ्य को समझने के लिए उनकी समीक्षात्मक कृतियों के हवाले की अपेक्षा एक कवितांश को उद्धरण के रूप में विवेचित विश्लेषित करना अधिक व्यावहारिक होगा :

''अधूरी और सतही ज़िन्दगी के गर्म रास्तों पर
हमारा गुप्त मन
निज में सिकुड़ा जा रहा

जैसे कि हब्शी एक गहरा स्याह
गोरों की निगाहों से अलग ओझल
सिमिट कर सिफर होना चाहता हो जल्द।।
मानो कीमती मजमून
गहरी गैर कानूनी किताबों, जब्त पर्चों को
कि पाबंदी लगे से भेद सा बेचैन
दिल का खून
जो भीतर
हमेशा टप्प टप कर टपकता रहता
तड़पते से खयालों पर
यही कारण कि सिमटा जा रहा सा हूँ
स्वयं की छाँह की भी छाँह सा बारीक
होकर छिप रहा सा हूँ
समझदारी व समझौते
विकट गड़ते।
हमारे आप के रास्ते अलग होते।
व पल भर, मात्र
आत्मलोचनात्मक स्वर प्रखर होता।'' (चकमक की चिनगारियाँ'' पहला बंद)

यहाँ कवि ने बाह्यमन, जो अधिकांशत: दुनियादार होता है, उस के दबाव से गुप्त मन (अन्तरात्मा) के संकुचित होने, छिप जाने को बहुत से गोरों की निगाहों से बचने-छिपने वाले हब्शी की स्थिति और सरकारी पाबंदी लगे हुए सत्य की अभिव्यक्ति की छटपटाहट की स्थिति जैसे दो उपमानों द्वारा प्रस्तुत किया है। आप गौर करें कि यद्यपि अंतिम दोनों स्थितियाँ जो अभिव्यक्ति का उपकरण बन कर आयी हैं, अप्रस्तुत हैं, और प्रस्तुत का बिंब-ग्रहण कराने के लिए इनकी योजना की गयी है, फिर भी ये उपकरण कथ्य का अभिन्न अंग बनकर उसे और अधिक सम्पन्न करते हैं। इनके माध्यम से मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष, उसकी दिशा, दृष्टि और मूल्य-भावना भी संकेतित हुई है। यदि इन दोनों उपमानमूलक उपकरणों को काव्यांश से निकाल दिया जाए तो भी लाक्षणिक प्रयोगों और बिंबात्मक शिल्प के माध्यम से मूल कथ्य की अभिव्यक्ति तो हो जाती है। लेकिन इन्हें निकाल देने पर मुक्तिबोध की निजी वेदना और छायावादी कवियों, नयी कविता के कवियों की वेदना के मध्य जो अंतर है, वह पूरी तरह समाप्त हो जाएगा। ''गोरों की निगाहों से छिपकर सिफर होने वाला हब्शी'' आज के विश्व-व्यापी उत्पीड़न और शोषणचक्र का एक सत्य है, जो कवि के गहन सामाजिक सरोकार से भी जुड़ा हुआ है। ''गैर कानूनी किताबों और जब्त परचों में छिपा हुआ ''कीमती मजमून'' केवल आज की दुनिया भर की सच्चाई ही नहीं, वरन् मुक्तिबोध के व्यक्तिगत अनुभव का भी एक अंग है। सन् 52 में ''कामायनी'' पर लिखी गई उनकी प्रथम समीक्षात्मक रचना मुद्रित होकर भी प्रकाशक की अनुदारता से प्रकाश में नहीं आई और दूसरी रचना ''भारत:इतिहास और संस्कृति'' सन् 62 ई0 में मध्य प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा पाठ्यक्रम में निर्धारित होने के बावजूद उसी सरकार के गृह मंत्रालय द्वारा गैर कानूनी (प्रतिबंधित) घोषित कर दी गई थी। अत: इन उपमानों का संबंध ''अधूरी और सतही ज़िंदगी के गर्म रास्तों पर चलने'' की व्यक्तिगत पीड़ा से भी है, जिसके संबंध में मुक्तिबोध ने लिखा है, ''उस पुस्तक में (क) क्रांतिकारी आह्वान नहीं है, (ख) हिंसा का प्रचार नहीं है, (ग) वह अश्लील भी नहीं है। फिर भी उसमें कुछ ऐसे महत्वपूर्ण सत्यांश हैं, जो नागवार गुज़रे।'' - (नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ0 156)। कहने का तात्पर्य यह है कि इस कवितांश में अभिव्यक्ति के उपकरण भी मुक्तिबोध के व्यक्तित्व के, जीवन के और उनकी निजी दृष्टि के संदर्भ लिए हुए हैं। मुक्तिबोध के सम्पूर्ण काव्य में वस्तु (कान्टेंट) और रूप (फार्म) का यह संबंध स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

4 .2 फैंटेसी का स्वरूप और उसकी प्रकृति

फैंटेसी मूलत: मनोविश्लेषण शास्त्र से संबद्ध शब्द है, जिसकी व्याख्या स्वप्न के संदर्भ में फ्रायड और युंग ने की है। यद्यपि इन दोनों मनोविश्लेषणवादियों ने स्वप्न से फैंटेसी को अलग करने का प्रयास किया है, लेकिन युंग ने ''अभिप्रेरित चिंतन'' (डायरेक्टेड थींकिंग) के रूप में विवेक द्वारा नियंत्रित सत्य के सामाजिक मानदंड के रूप में इसे स्वीकार किया है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक क्रिस्टाफर काडवेल ने इस व्याख्या को अंशत: स्वीकार किया है और इसे ''अभिप्रेरित अनुभूति'' (डायरेक्टेड

फीलिंग) सिद्ध करते हुए सौंदर्य या अच्छाई का सामाजिक मानदंड माना है। (इल्यूजन एंड रिएलिटी, पृ0 160-61) फैंटेसी विवेक-प्रक्रिया द्वारा अनुशासित न होकर हृदय या मन द्वारा अनुशासित होती है। फैंटेसी से संबद्ध विस्तृत जानकारी के लिए आप अशोक चक्रधर की पुस्तक ''मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया'' के पृष्ठ 72 से 84 तक अवश्य देख लें।

मुक्तिबोध ने फैंटेसी के संदर्भ में काडवेल की व्यवस्था को अधिकांशतः स्वीकार किया है किंतु ''अभिप्रेरित अनुभूति''(डायरेक्टेड फीलिंग) के स्थान पर उसे ''संवेदनात्मक उद्देश्य'' से नियंत्रित एक सक्रिय-सर्जनात्मक इकाई के रूप में ग्रहण किया है ''फैंटेसी डायनेमिक होती है। कला के प्रथम क्षण के अंतिम सिरे पर उत्पन्न होते ही उसकी गतिमानता शुरु हो जाती है।'' (एक साहित्यिक की डायरी, पृ0 20) कला के प्रथम क्षण अर्थात् ''जीवन के उत्कट तीव्र अनुभव क्षण'' के अंतिम सिरे और कला के दूसरे क्षण अर्थात् सौंदयानुभूति के आरंभिक सिरे पर उत्पन्न फैंटेसी वस्तुतः निर्वैयक्तिकता की ही एक स्थिति को संकेतित करती है। निर्वैयक्तिकता की यह स्थिति ही मुक्तिबोध द्वारा निरूपित कला का दूसरा क्षण अर्थात् फैंटेसी का क्षण है, जिसके संबंध में मुक्तिबोध ने लिखा है, ''जो फैंटेसी अनुभव की व्यक्तिगत पीड़ा से स्वतंत्र होकर, अनुभव के भीतर की ही संवेदनाओं के द्वारा उत्सर्जित और प्रक्षेपित होगी वह एक अर्थ में वैयक्तिक होते हुए भी निर्वैयक्तिक होगी। उस फैंटेसी में अब एक भावनात्मक उद्देश्य की संगति आ जाएगी, इस संवेदनात्मक उद्देश्य के द्वारा ही वस्तुतः फैंटेसी को रूप-रंग मिलेगा।''- (एक साहित्यिक की डायरी, पृ0 18)

''फैंटेसी'' के शिल्प की विशेषताओं का अत्यंत स्पष्ट और व्यावहारिक विवेचन मुक्तिबोध ने ''कामायनी : एक पुनर्विचार'' में किया है। फैंटेसी और जीवन के संबंध को स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है, ''फैंटेसी में प्रतिच्छायित जीवन-तथ्य फैंटेसी के अपने फ्रेम के अंग ही हों, यह आवश्यक नहीं। आवश्यक इतना ही है कि फैंटेसी के रंग जीवन-तथ्यों के रंग से मिलते-जुलते हों अथवा उन तथ्यों के रंग से अनुस्यूत हों।'' हम मनु के कथन का एक उदाहरण लें

> ''तुम हो कौन और मैं क्या हूँ
> इसमें है क्या धरा सुनो,
> मानस जलधि रहे चिर-चुम्बित,
> मेरे क्षितिज उदार बनो।''

''इस फ्रैंटेसी का फ्रेम, उसका ढाँचा वस्तुतः अध्यात्मवादी है। इसलिए प्रिय-सौंदर्य को क्षितिज कहा गया है। ''तुम कौन''? ''मैं कौन''? ये प्रश्न भारतीय दर्शन के अंग रहे हैं। इन प्रश्नों में आत्मा-परमात्मा का प्रश्न द्योतित है। किंतु उपर्युक्त काव्य-पंक्तियों की सारी अर्थ दीप्ति कहाँ से स्फुरित हुई है? प्रियतम और प्रेयसी के परस्पर संबंधों के जीवन-तथ्य से। संक्षेप में, कवि जीवन के प्रणय-तथ्य का उद्घाटन कर रहा है। ....तुम कौन हो मैं कौन हूँ, हमारी वास्तविक स्थिति और स्तर क्या है... इससे हमें मतलब नहीं। हम प्रेम करते हैं, इतना काफी है, ...इस फैंटेसी का ढांचा अध्यात्मवादी-रहस्यवादी है, किंतु उसका मूल तथ्य प्रणय-तथ्य है। निष्कर्ष यह है कि फैंटेसी का आकार (ढाँचा) तो अपना होता है, किंतु उसमें रंग जीवन-तथ्यों से उद्गत होते हैं।'' - (कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ0 8) यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि यहाँ प्रसाद जी ने केवल सामान्य जीवन-तथ्य ही नहीं प्रस्तुत किए हैं। प्रेम संबंधी परिकल्पना में अपनी जीवन-दृष्टि और विश्व-दृष्टि भी प्रस्तुत कर दी है। यह लम्बा उद्धरण फैंटेसी के स्वरूप और उसके व्यावहारिक उपयोग को अच्छी तरह स्पष्ट कर देता है। यह फैंटेसी के संदर्भ में मुक्तिबोध की शिल्पगत विशेषताओं के विवेचन-विश्लेषण में भी पर्याप्त सहायक होगा।

4.3 फैंटेसी के शिल्प की शक्ति और सीमा

मुक्तिबोध की शिल्पगत विशेषताओं पर विचार करने से पूर्व फैंटेसी के शिल्प की शक्ति एवं सीमाओं पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। मुक्तिबोध ने स्वयं इसे भाववादी बुर्जुआ शिल्प माना है। यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टि तथा भाववादी शिल्प और भाववादी दृष्टि के अंतर को स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है, ''यथार्थवादी शिल्प के अंतर्गत यथार्थ के बिंब, यथार्थ के स्वरूप और गति के नियमों में बंधकर प्रस्तुत होते हैं। दूसरे शब्दों में यथार्थवादी शिल्प के अंतर्गत विभाव-पक्ष (वस्तु-पक्ष या मूल कथ्य) का चित्रण होता है, उस पक्ष के आधार पर भाव-पक्ष का उद्घाटन। इसके विपरीत भाववादी रोमैंटिक शिल्प के अंतर्गत भाव-पक्ष का ही चित्रण होता है और विभाव-पक्ष (वस्तु-पक्ष) को नेपथ्य (पर्दे) में डाल दिया जाता है। ...संक्षेप में यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टिकोण में अंतर

है। यह बहुत संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत, जो भाववादी शिल्प है उस शिल्प के अंतर्गत जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी रही हो।''- (कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ0 6) जहाँ तक मुक्तिबोध का प्रश्न है, उन्होंने भाववादी शिल्प अर्थात फैंटेसी के शिल्प में अपनी यथार्थवादी दृष्टि के साथ ही अपनी द्वंद्वात्मक भौतिकवादी समझ को कुशलतापूर्वक प्रस्तुत किया है।

फैंटेसी और भाववादी शिल्प के संबंध में मुक्तिबोध की उक्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए यदि हम उनकी कविताओं का विश्लेषण करें तो हमें स्पष्ट पता चलेगा कि फैंटेसी के शिल्प का उन्होंने अपने ढंग से विकास किया है। वे कभी अपने अनुभूत जीवन-तथ्यों को सुदूर अतीत के साथ संबद्ध कर, फैंटेसी को स्वतंत्र दिक्काल (दिशा और समय) देते हुए, वर्तमान से आकर्षक दूरी पैदा करते हैं, तो कभी उसे वर्तमान के किन्ही अन्य तथ्यों या भिन्न स्थितियों के साथ संबद्ध कर मात्र स्थानगत (स्पेस) दूरी पैदा करते हुए एक रहस्यलोक की सृष्टि करते हैं। यही नहीं, वरन् कहीं-कहीं वे वर्तमान जीवन-तथ्यों को भविष्य के स्वप्निल आदर्श-लक्ष्यों के साथ जोड़ कर एक गहरी जिज्ञासा पैदा करते हैं। ये तीनों स्थितियाँ कभी अलग-अलग और कभी एक साथ भी बहुत सी कविताओं में मिलती हैं। फैंटेसी की इस बहुमुखी प्रकृति के कारण उनकी अधिकांश कविताओं में उनका पूरा व्यक्तित्व, सम्पूर्ण अनुभूत जीवन-सार और एक इच्छित जीवनादर्श ही नहीं समाविष्ट हुआ है, वरन् वह मानवी-सामाजिक संबंध क्षेत्र भी अभिव्यक्त हुआ है, जिसमें रहकर कवि ने सांस ली है और अपनी वर्ग दृष्टि के अनुकूल उन मानव-संबंधों के मूल्य-मानों को संशोधित-संपादित कर एक विश्व दृष्टि का रूप दिया है। इस ओर स्पष्ट संकेत करते हुए उन्होंने लिखा है :

> उपमाएँ उद्‌घाटित-वक्षा मृदु स्नेहमुखी
> एक टक देखतीं मुझको-प्रियतर मुसकातीं।
> ...वे जगत-समीक्षा करते से मेरे प्रतीक-रूपक सपने फैलाते
> आगामी के
> दरवाज़े दुनिया के सारे खुल जाते
> प्यार के किस्सों की
> उदास गलियाँ
> गम्भीर-करुण मुसकराहट में
> अपना उर का सब भेद खोलती हैं
> अनजाने हाथ मित्रता के
> मेरे हाथों में पहुँच ऊष्मा करते हैं
> मैं अपनों से घिर उठता हूँ
> मैं विचरण करता सा हूँ एक फैंटेसी में
> यह निश्चित है कि फैंटेसी कल वास्तव होगी।'' -(एक अंतर्कथा)

इस कविता में परंपरा का शोध करते हुए, उसके मूल्य को समझ लेने के बाद ये पंक्तियाँ आयीं हैं। इनमें आए अभिव्यक्ति के विभिन्न उपकरणों के साथ मुक्तिबोध ने एक गहरी आत्मीयता प्रकट की है। इसके साथ ही इन उपकरणों का आत्मानुभूत जीवन के साथ गहरा रिश्ता भी संकेतित हुआ है। कहने का अभिप्राय यह है कि मुक्तिबोध ने जिस प्रकार फैंटेसी को जीवन मर्मों के साथ लिपटी हुई माना है, उसी प्रकार उपमा, रूपक, प्रतीक, बिंब आदि को जीवन के गहरे स्पर्श से युक्त माना है। इस संबंध में अपनी धारणा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि ''ध्यान में रखने की बात है कि कोई प्रतीक तभी तक भावोत्तेजना की शक्ति रखता है, जब तक कि उसकी जड़ें सामाजिक-सामूहिक अनुभवों की धरती में समायी हुई हों। मात्र व्यक्तिगत धरातल पर तो हज़ारों प्रतीक खड़े किए जा सकते हैं।'' (नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ0 129) वस्तुत: यह बात सिर्फ प्रतीकों पर ही नहीं, उपमाओं, रूपकों, मिथकों, बिंबों आदि पर भी समान रूप से लागू होती है। इन सबको साथ लेकर ही फैंटेसी गतिशील होती है।

4.4 फैंटेसी : कविताओं के विश्लेषण के संदर्भ में

उपर्युक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए फैंटेसी के शिल्प की दृष्टि से ''अंत:करण का आयतन'' शीर्षक कविता के विश्लेषण द्वारा हम मुक्तिबोध की शिल्पगत विशेषताओं को आसानी से समझ सकते हैं।

''अंत:करण का आयतन'' कविता का आरंभ अत्यंत सहज, आत्मीय ढंग से, किंतु असंतोषपूर्ण आत्मस्वीकृति के माध्यम से इस प्रकार होता है :

''अन्त:करण का आयतन संक्षिप्त है
आत्मीयता के योग्य
मैं सचमुच नहीं।''

आगे भी अंत तक काव्य-नायक ''मैं'' के माध्यम से कविता आत्मकथन शैली में प्रस्तुत हुई है। काव्य-नायक ''मैं'' आरंभ में ही अपनी ''सर्वगामी छाया'' के माध्यम से एक रहस्यमय वातावरण की सृष्टि करता है :

''पर क्या करूँ यह छाँह मेरी सर्वगामी है।
हवाओं में अकेली सांवली बेचैन उड़ती है
कि श्यामल-अंचला के हाथ में
तब लाल कोमल फूल होता है
चमकता है अंधेरे में
प्रदीपित द्वंद्व चेतस् एक
सत्-चित्-वेदना का फूल
उसको ले
न जाने कहाँ किन-किन सांकलों को
खटखटाती वह।''

यहाँ तक उस रहस्यमय छाया रूप फैंटेसी का वास्तविक रूप यद्यपि पूरी तरह उद्घाटित नहीं हुआ है, फिर भी उसके हाथ में स्थित प्रकाशमान ''सत्-चित्-वेदना का द्वंद्व-चैतस फूल'' रहस्य के आवरण में से वास्तविकता का एक हलका सा आभास देने लगता है। यहाँ ''द्वंद्व-चेतस् वेदना का प्रदीपित फूल'' वस्तुत: द्वंद्वात्मक भौतिकवादी समझ है, जिसके प्रकाश में काव्य-नायक की छाया अपनी यात्रा सम्पन्न करती है। फैंटेसी की प्रकृति के अनुसार इसे संवेदनात्मक उद्देश्य की संज्ञा दी जा सकती है। काव्य-नायक ''मैं'' की छाया द्वारा सांकलों को खटखटाने के बाद भी :

''नहीं इनकार वाले द्वार खुलते, किंतु
उन सोतों हुओं के गूढ़ सपनों में
परस्पर विरोधों का उर-विदारक शोर होता है
विचित्र प्रतीक गुंथ जाते,
(अनिवार्य का भवितव्य)।
नीलाकाश
नीचे - और नीचे उतरता आता
उस नीलाभ छत से शीश टकराता
कि सिर से खून
चेहरा रक्त-धाराओं भरा।''

यहाँ दरवाज़ा बंद कर सोने वाले लोग वर्गीय विषमता से ग्रस्त समाज के प्रतीक हैं। उनके गूढ़ स्वप्न परस्पर-विरोधी आशाओं-आकांक्षाओं के प्रतीकाभास हैं, जिन्हें ''उर-विदारक'' शोर के रूप में सुनकर काव्य-नायक एक ''अनिवार्य भवितव्य'' (अवश्यंभावी घटना) का अनुभव करता है। यह अनिवार्य भवितव्य वस्तुत: वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता है, जिसका दबाव एक गंभीर दायित्व के रूप में काव्य-नायक ''मैं'' को आक्रांत करता है। नीलाभ आकाश से टकराकर सिर का फूटना चेहरे का रक्तस्नात् होना, उपर्युक्त तथ्य का संकेतक है। ''अंधेरे में'' कविता का कर्ता ''रक्तलोक-स्नात पुरुष'' भी ''आत्मा की प्रतिमा'' के रूप में प्रकट होकर काव्य-नायक ''मैं'' को अपने कठिन दायित्व का अनुभव कराता है। (''अंधेरे में'' कविता के प्रथम खंड के अंतिम अंश को देखें)

यहाँ आकर फैंटेसी की गति एक विराम लेती है, दूसरी दिशा में मुड़ने के लिए। इस तथ्य को पहले भी संकेतित किया जा चुका है कि फैंटेसी एक ''संवेदनात्मक उद्देश्य'' को लेकर गतिशील होती है, जिसमें प्रतीक, रूपक, बिंब आदि उसके अनुगत बन कर आते हैं। अत: फैंटेसी के विश्लेषण की प्रक्रिया में इनका भी विश्लेषण आवश्यक है। दूसरी बात यह कि मुक्तिबोध एक क्रांतिकारी चेतना के कवि हैं।

अत: उनके लिए सामाजिक अंतर्विरोधों का ज्ञान मात्र ही सामाजिक क्रांति की शर्त नहीं है। उस पर और अधिक सोचने-विचारने तथा वैमनस्यपूर्ण अंतर्विरोध के निषेध के लिए ''द्वंद्वात्मक निषेध'' की वास्तविकता से परिचित होना और उसके अनुकूल वातावरण के निर्माण का प्रयास भी आवश्यक है। सामाजिक अंतर्विरोधों के ''उर-विदारक शोर'' से जागृत चेतना चिंताक्रांत होकर सोचने के लिए विवश करती है :

''कि बेबीलोन सचमुच नष्ट होगा क्या?
प्रतिष्ठित राज्य संस्कृति के प्रभावी दृश्य
सुंदर सभ्यता के तुंग स्वर्ण-कलश
सब आदर्श
उनके भाष्यकर्त्ता ज्ञानवान महर्षि
ज्योतिर्विद्, गणितशास्त्री, विचारक, कवि,
सभी वे याद आते हैं।
प्रतापी सूर्य हैं वे सब प्रखर जाज्वल्य।''

''बेबीलोन'' सचमुच नष्ट होगा क्या? इस प्रश्न के माध्यम से फँटेसी यहाँ एक नया मोड़ लेती है। वैसे बेबीलोन यहाँ प्राचीन-मध्यकालीन सामाजिक शोषण पर आधारित राज्याश्रयी संस्कृति और सभ्यता का प्रतीक है, लेकिन अपनी रूपकीय मुद्रा के कारण वह पूँजीवादी शोषण पर आधारित आधुनिक राज्याश्रयी संस्कृति का प्रतीक भी बन जाता है। इस प्रकार मुक्तिबोध ने वर्तमान जीवन-तथ्यों और उसके मूलभूत प्रश्नों को सुदूर अतीत में प्रक्षेपित कर वर्तमान से एक आकर्षक दूरी पैदा की है। यही कार्य प्रसाद जी ने अपनी ''कामायनी'' में फँटेसी के माध्यम से किया है। यहाँ भी फँटेसी का अपना स्वतंत्र ढाँचा है, अपना स्वतंत्र दिक्काल और निजी इतिहास-भूगोल है, जो पूरी तरह प्राचीन-मध्यकालीन वातावरण पर आधारित है। यह कार्य कवि ने ''भाष्य कर्त्ता ज्ञानवान महर्षि, ज्योतिर्विद, गणित शास्त्री, विचारक, कवि'' आदि शब्दों के माध्यम से भी बखूबी सम्पन्न किया है। लेकिन इस ढांचे में भरे गए रंग वर्तमान जीवन-तथ्यों द्वारा उपस्थित किए गए हैं। आगे का चित्रण भी इस रहस्य को बनाए रखने में सहायक होता है :

''पर यह क्या? अंधेरे स्याह धब्बे सूर्य के भीतर
बहुत विकराल
धब्बों के अंधेरे विवर-तल में से
उभर कर, उमड़कर दल बांध
उड़ते आ रहे हैं गिद्ध
पृथ्वी पर झपटते हैं
निकालेंगे नुकीली चोंच से आंखें।
कि खायेंगे हमारी दृष्टियाँ ही वे।''

(इन पंक्तियों को निराला की कविता ''राजे ने अपनी रखवाली की'' से मिला कर यदि आप देखें तो इनका मूल आशय स्वयं स्पष्ट हो जाएगा) - यहाँ ''प्रखर सूर्य'' के भीतर स्याह धब्बों के अंधेरे विवर-तल से निकलकर पृथ्वी की ओर झपटने वाले गिद्धों की पंक्तियाँ'' जहाँ जन विरोधी प्राचीन-सामंतीय चिंतन के दूषित प्रभाव को संकेतित करती हैं, वहीं वर्तमान पूँजीवादी औद्योगिक सभ्यता और संस्कृति की छाया-माया में विकसित होने वाले तथाकथित महान चिंतन के जन-विरोधी स्वरूप को भी संकेतित करती हैं। वस्तुत: पूँजीवाद अपनी छत्र-छाया में पलने वाले सभी क्षेत्रों के चिंतकों-विचारकों की भावधारा, विचारधारा को अपने प्रचार-प्रसार के सशक्त माध्यमों द्वारा जिस प्रकार दृष्टिविहीन करता है, उसका स्पष्ट संकेत इन पंक्तियों में हुआ है। अत: उक्त ''प्रतापी सूर्यों'' की प्रखरता से उत्पन्न चिंताधारा के प्रति काव्य-नायक की प्रतिक्रिया है :

''मन में ग्लानि, गहन विरक्ति, मितली के बुरे चक्कर
भयानक क्षोभ
पीली धूल के बेदम बगूले, और
गंदे कागजों का मुन्सिपल कचरा।''

यहाँ मुक्तिबोध ने पूँजीवाद, उसकी औद्योगिक-व्यावसायिक सभ्यता का कहीं नाम नहीं लिया है। अत: व्याख्या में इन शब्दों के प्रयोग को देख कर आप चौंक सकते हैं और यह भी सोच सकते हैं कि हमने इन्हें अपनी ओर से मुक्तिबोध पर आरोपित कर दिया है। लेकिन ऐसा सोचना-समझना उचित नहीं

होगा। वस्तुत: फैंटेसी के शिल्प की, यह विशेषता है कि उसमें विभाव-पक्ष (वस्तु पक्ष या कथ्य) को नेपथ्य (पर्दे) में डाल दिया जाता है और कल्पना के माध्यम से उपमाओं, प्रतीकों, रूपकों, बिंबों आदि के सहारे-संक्षेप में कहना चाहें तो काल्पनिक घटनाओं, वस्तुओं, दृश्यों आदि के सहारे केवल भाव या प्रभाव-पक्ष का चित्रण किया जाता है। इसी कविता में आगे एक स्थान पर सर्वहारा की चेतना की विजय की घोषणा करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है, ''सब सूर्य फूटेंगे व उनके केंद्र टूटेंगे।'' ''अंधेरे में'' कविता में उन्होंने लिखा है :

> ''मुझे तो ज़िंदगी की सरहद
> सूर्यों के प्रांगण (आंगन) पार जाती सी दीखती है।''

इनका अभिप्राय है कि पूँजीवादी जीवन-दर्शन, कला-दर्शन संपूर्ण चिंतन-प्रणाली कोई शाश्वत और अकाट्य नहीं है। अपने जन विरोधी स्वरूप के कारण उसकी समाप्ति अवश्यंभावी है। यदि मुक्तिबोध यहाँ यथार्थवादी शिल्प का सहारा लेते तो यह कवितांश ''तार सप्तक'' में संग्रहीत उनकी ''पूँजीवादी समाज के प्रति'' शीर्षक कविता की तरह इस प्रकार होता

> ''इतने प्राण इतने हाथ, इतनी बुद्धि
> इतना ज्ञान, संस्कृति और अंत: शुद्धि
> इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छंद
> ....इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुंदर जाल -
> केवल एक जलता सत्य देने टाल
> ....तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
> तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र
> ....तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
> तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।''

इसे ''अंत:करण का आयतन'' कविता के उपर्युक्त अंश के साथ मिलाकर आप देखें तो भाववादी शिल्प और यथार्थवादी शिल्प के अंतर को समझने के साथ ही मुक्तिबोध की एक कलाकार के रूप में सही पहचान भी कर सकते हैं।

अपनी अधिकांश कविताओं की भांति मुक्तिबोध ने इस कविता को खंडों में विभक्त नहीं किया है, लेकिन विश्लेषण के दौरान वे खंड स्पष्ट रूप से दिखायी देते हैं। यहाँ से कवि की वाचक रूप फैंटेसी वर्तमान जीवन-तथ्यों से निष्कर्ष ग्रहण कर एक भिन्न दिशा में प्रवृत्त होती है :

> ''मेरी छाँह सागर-तरंगों पर भागती जाती,
> दिशाओं पर हलके पांव
> नाना देश-दृश्यों में
> अजाने प्रियतरों का मौन चरण स्पर्श, वक्ष स्पर्श करती मुग्ध
> घर में घूमती उनके,
> लगाती लैम्प, उनकी लौ बड़ी करती।
> व अपने प्रियतरों के उजलते मुख को मधुर एकांत में पाकर,
> किन्हीं संवेदनात्मक ज्ञान अनुभव के
> ...अचानक मुग्ध आलिंगन
> मनोहर बात, चर्चा, वाद और विवाद
> उनका अनुभवात्मक ज्ञान संवेदन
> समूची चेतना की आग
> पीती है।''

यहाँ पहुँच कर फैंटेसी की यथार्थमयी रहस्यमयता पूरी तरह उद्घाटित हो जाती है। वस्तुत: ''अंत:करण का आयतन'' कविता को समग्र रूप से समझने के लिए ''नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबंध'' शीर्षक ग्रंथ में दिया गया ''अंतरात्मा की पक्षधरता'' शीर्षक मुक्तिबोध का लेख पर्याप्त सहायक है। इसमें मुक्तिबोध ने लिखा है, ''हर एक समस्या का एक समाधान है - चाहे अधूरा ही क्यों न सही। इसलिए मैं अपने आस-पास के लोगों, अपने मित्रों, आत्म संबंधियों और अपने सहयोगियों तथा परिचितों में उसे ढूंढ़ने लगता हूँ। और, उनसे बहस छिड़ जाती है, और बहुत बार धरित्री अपने रत्न

उगल देती है, और मैं अपने अभाव में भी अत्यंत सम्पन्न अनुभव करने लगता हूँ। किंतु देश-विदेश में हो रहे प्रयत्नों की संभावना की उपेक्षा मैं नहीं कर पाता। और इस तरह मेरी छाया पृथ्वी पर भटकती रहती है। ''अंत:करण का आयतन संक्षिप्त है'' नामक एक मेरी कविता में मेरी इस प्रवृत्ति का चित्रण है। मेरे अपने लेखे उसमें एक लिरीसिज्म (प्रगीतात्मकता) है, एक यथार्थ-प्रवण रुमानी किस्म की कल्पनाशीलता है, एक आवेश है और अंतस में आत्मालोचन। इस प्रकार, मैं द्वंद्व-स्थिति में पड़कर मैत्री ही प्राप्त करता हूँ। - (नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ0 112-113) उपर्युक्त काव्य-पंक्तियों के संदर्भ में इस वक्तव्य को देखें तो यह आत्म-छाया कोई अन्य नहीं, अपनी चेतना या अन्तरात्मा ही है, जिसकी यात्रा या भ्रमण सोद्देश्य है। ''स्व'' से ऊपर उठकर, आत्मबद्धता की स्थिति से मुक्त होकर वह अपने जैसे अन्य लोगों के साथ एकाकार होती है, एक आत्मीय स्वजन की भांति उनके चरण का स्पर्श करती है, उन्हें सीने से लगाती है, उनके घर-आंगन में घूमते हुए उन्हें ज्ञान का प्रकाश देती है और इस प्रकाश में मुग्ध भाव से उनका आलिंगन करती है, उनसे चर्चा और वाद-विवाद करते हुए उन्हें शिक्षित करती है, उनसे स्वयं शिक्षा लेती है। वस्तुत: मुक्तिबोध ने निर्वैयक्तिकता की इस दशा को आत्म-प्रसार की स्थिति के रूप में स्वीकार किया है।

इस लम्बी कविता में कवि की वाचक आत्मछाया रूप फैंटेसी उन्मुक्त भाव से सहानुभूतिपूर्ण कल्पना के सहारे समूचे विश्व का भ्रमण करती है। वह खेतों-खलिहानों, खदानों, पहाड़ों, घाटियों में विचरण करते हुए :

> ''सिखाती-सीखती रहती,
> परखती, बहस करती और ढोती बोझ
> मेहनत से, ज़मीनें साफ करती है,
> दिवालों की दरारें परती-भरती,
> व सीती फटे कपड़े, दिल रफ़ू करती,
> किन्हीं प्राणांचलों पर वह कसीदा काढ़ती रहती
> स्वयं की आत्मा की फूल-पत्ती के नमूने का।''

इस प्रकार यह यात्रा सार्थक और सप्रयोजन है, जिस पर अपनी ओर से टिप्पणी न कर आपके सम्मुख मैं मुक्तिबोध की ही एक टिप्पणी प्रस्तुत करना चाहूँगा, ''आज एक ऐसे कवि-चरित्र की आवश्यकता है, जो मानवीय वास्तविकता का बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए सामान्य जनों के गुणों और उनके संघर्षों से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करें, उनके संचित जीवन-विवेक को स्वयं ग्रहण करे तथा उसे और अधिक निखार कर, कलात्मक रूप से उन्हीं की चीज को उन्हें लौटा दे। सामान्य जनों की अपार आध्यात्मिक और बौद्धिक क्षमता में यदि हमारा विश्वास है, हमारी आस्था है तो हम अपने ही पिता के सच्चे पुत्र होंगे। ...कवि-चरित्र के विकास का हमारा यह संघर्ष, युग की विवेक-चेतना बनने का हमारा यह मौन प्रयास अपने-आप में आध्यात्मिक महत्व रखता है, इससे कौन इनकार करेगा।'' - (नयी कविता का आत्म-संघर्ष... पृ0 21)

अपने व्यापक सर्वेक्षण की प्रक्रिया में छायाभास रूप फैंटेसी आत्मचेतस् से विश्वचेतस् बनते हुए एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचती है, जिसे कवि का वाचक ''मैं'' इस प्रकार प्रस्तुत करता है :

> ''मैं देखता क्या हूँ कि -
> पृथ्वी के प्रसारों पर जहाँ भी स्नेह या संगर
> वहाँ पर एक मेरी छटपटाहट है,
> ...एक मेरा भी वहाँ पर प्राण-प्रतिनिधि है
> अनुज, अग्रज, मित्र, कोई आत्म छाया-चित्र
> धरती के विकासी द्वंद्व-क्रम में एक मेरा छटपटाता वक्ष,
> ...स्नेहाश्लेष या संगर कहीं भी हो
> कि धरती के विकासी द्वन्द्व-क्रम में एक मेरा पक्ष,
> मेरा पक्ष नि:संदेह।''

यह दूसरा निष्कर्ष है। पहला निष्कर्ष था - वर्ग विभक्त समाज में द्वंद्व की स्थिति। लेकिन यहाँ उस द्वंद्व में अपने पक्ष का निर्धारण है। इस पक्षधरता को मुक्तिबोध ने किस प्रकार अपनी अंतरात्मा का प्रश्न बनाया है, इस पर हमने पिछली इकाई में विस्तार से विचार कर लिया है। यहाँ आपका ध्यान केवल इस तथ्य की ओर दिलाना है कि आरंभ में जो फैंटेसी ''सत्-चित्-वेदना का द्वंद्व-चेतस फूल'' लिए हुए

एक सांवली छाया के रूप में उपस्थित हुई थी, वह किस प्रकार चित्रों और परस्पर संबद्ध स्थितियों की एक सुसंगत पंक्ति बनाते हुए आगे बढ़ रही है। काव्य की इस जटिल शिल्प-विधि में वर्णनात्मकता और लाक्षणिकता, भाव-चित्रण और वस्तु-संकेत, आत्मकथन और संबोधन, प्रतीक-बिंब और रूपक-योजना, रहस्यमय वातावरण की सृष्टि आदि भाववादी शिल्प के अनेक परस्पर संबद्ध और असंबद्ध उपकरण गुंफित हुए हैं। इसके साथ ही मुक्तिबोध ने लक्षणा-व्यंजना, रूपक-उपमा, प्रतीक-बिंब-मिथक आदि के बने-बनाए शास्त्रीय ढांचे को छिन्न-भिन्न करके फैंटेसी के शिल्प के माध्यम से उन्हें एक नयी तरतीब और तहजीब प्रदान की है। वस्तुंत: इसे भाववादी बुर्जुआ शिल्प का जनवादी शिल्प में रूपांतरण भी कहा जा सकता है।

अपने पक्ष का निर्धारण करने के बाद कवि का वाचक "मैं" इस यथार्थ जगत को एक ममतामय, अत्यंत आकर्षक रूप में देखता है :

"मुझको तो समूचा दृश्य धरती की सतह से उठ
अनावृत अंतरिक्षाकाश-स्थित दीखता
...व उस आकाश में से बरसते मुझ पर
सुंगधित रंग-निर्झर और
छाती भीग जाती है, व आंखों में
उसी की रंग-लौ चमकती सी।"

इसे मुक्तिबोध ने "अपने ही जीवन के मूल स्रोतों का अमृत-पान" और "युग की विवेक-चेतना बनने का मौन प्रयास" कहा है। अपनी संपूर्ण अच्छाइयों और बुराइयों के साथ पृथ्वी का यह दृश्य स्वर्गीय आभा से जगमगाता हुआ दिखायी देता है।

यहाँ पहुँच कर फैंटेसी का दूसरा दौर समाप्त हो जाता है। आगे वह एक नये स्वप्न के रूप में उपस्थित होती है :

"रमणीयतम जो स्वप्न देखा था
वही
हाँ, वही
बिल्कुल सामने प्रत्यक्ष है।

यह "प्रतेजस आनना" कोई अन्य नहीं, वरन् काव्य-नायक "मैं" की अपनी "श्यामल अंचला" छाया ही है, जो अंतर्बाह्य और देश-देशांतर का परिभ्रमण करने के बाद "लावण्य से युक्त तेजस्विनी प्रतिभा" के रूप में उपस्थित हुई है। अपनी "द्वंद्व चेतस् वेदना" का अनुभव-निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए वह काव्य-नायक "मैं" को चुनौती देती है :

"मुझसे भागते क्यों हो,
तुम्हारी स्वप्न वीथी कर सकेगी क्या?
बिना संसार के सर्जन असंभव है,
समन्वय झूठ है,
सब सूर्य फूटेंगे
व उनके केंद्र टूटेंगे
उड़ेंगे खंड
बिखरेंगे गहन ब्रह्मांड में सर्वत्र
उनके नाश में तुम योग दो"

(मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण के क्रम में इस अंश की व्याख्या हो चुकी है - उसे देख लें) निर्माण से पूर्व ध्वंस के सौंदर्य से अभिभूत कवि का वाचक "मैं" "प्रतेजस आनना" से पूर्ण साक्षात्कार के लिए अंतर्गमन करता है। उसके रूप-स्वरूप का पूरा जायज़ा लेने के बाद एक नये बोध के साथ जब वह बाहर आता है तो :

"कि इतने में
अचानक कान में फिर से
नमोमय भूमिमय लहरा रहा सा

गंधमय संगीत
मानो गा रहा कोई पुरुष
आकाश के नीचे
खुले बेछोर क्षिप्रा (नदी विशेष) कूल पर उन्मुक्त।''

यहाँ ''बेछोर क्षिप्रा-कूल'' मूर्त जगत में प्रवेश का सूचक है, अतर्विरोध-ग्रस्त समाज में आगमन का संकेतक है - जहाँ पहुँच कर ''सुगंधित संगीत'' के वातावरण में काव्य-नायक ''मैं'' को एक नये सत्य का ज्ञान होता है :

''लेकिन विरोधात्मक चेतना मेरी
उसी क्षण सुन रही है
श्याम संध्या-काल मंदिर आरती आलाप बेला में
भयानक श्वान दल का ऊर्ध्व क्रन्दन
वह उदासी की ऊंचाई पर चढ़ा लहरा रहा रोना
सुन रहा हूँ आज दोनों को
कि है आश्चर्य!!''

वस्तु जगत में, समाज में एक तरफ मंदिर में संध्याकालीन आरती और दूसरी तरफ कुत्तों का ऊपर मुँह उठाए हुए रोना - शुभ और अशुभ के ये दोनों दृश्य एक साथ प्रस्तुत कर कवि ने समाज के वैमनस्यपूर्ण अन्तर्विरोध का, उसके मूल-द्वंद्व का संकेत किया है। समाज का यह अन्तर्विरोध काव्य-वाचक ''मैं'' के लिए चिर-प्रतीक्षित सौंदर्य के रूप में, निर्माण से पूर्व संहार के सौंदर्य के रूप में उपलब्ध हुआ है। इस संबंध में उसकी प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त हुई है :

''यह भी खूब
जिस सौंदर्य को मैं खोजता फिरता रहा
दिन-रात
वह काला लबादा ओढ़
पीछे पड़ गया था
रात-दिन मेरे।
कि उद्घाटित हुआ वह आज
कि अब सब प्रश्न जीवन के
मुझे लगते
कि मानो रक्त-तारा
चमचमाता हो
कि मंगल-लोक
हमको बुलाता हो
साहसिक यात्रा-पथों पर और
मेरा हृदय दृढ़ होकर धड़कता है''

वस्तुत: समाज के मूलभूत अंतर्विरोध की सही जानकारी ही विषमताग्रस्त समाज की बेहतरी का समुचित मार्ग प्रस्तुत करती है। यहाँ ''रक्त-तारा'' का चमचमाना युगान्तरकारी क्रांति की अनिवार्यता का प्रतीक है तो ''मंगल-लोक'' का आह्वान एक नयी और कल्याणकारी समाज-व्यवस्था को प्रतीकित करता है। लेकिन क्रांति कोई यंत्रवत स्वचालित प्रक्रिया नहीं है। उसके लिए परिपक्व भौतिक स्थितियों का होना भी आवश्यक है। जन चेतना का अंग बन जाने के बाद क्रांतिकारी विचारधारा के बिना क्रांति के दिशाहीन ही नहीं, विनाशकारी होने की संभावना भी बढ़ जाती है। लेकिन यहाँ वैचारिक उपकरण के रूप में ''सत्-चित-वेदना का द्वंद्व चेतस् फूल'' और मंगल-व्यवस्था के रूप में ''मंगल-लोक'' से जुड़कर क्रांति निर्माण के लिए संहार का अत्यंत मानवीय रूप धारण कर लेती है। क्रंतिकारी परिस्थितियों में बौद्धिक समुदाय की भी एक भूमिका होती है। उसके सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष को दृढ़ करते हुए वह क्रांतिकारी शक्तियों का सही निर्देश कर सकता है। प्रकारान्तर से कवि कलाकार की गणना भी बुद्धिजीवी समुदाय में ही होती है। एक बुद्धिजीवी के रूप में, उसकी भूमिका को कविता के अंत में काव्य-वाचक मैं के माध्यम से मुक्तिबोध ने इस प्रकार कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है :

''कि मैं तो एक आयुध/मात्र साधन/प्रेम का वाहन/
तुम्हारे द्वार पर आया हुआ मैं अस्त्र-सज्जित रथ/मेरे

चक्र दोनों अग्रगति के लिए व्याकुल हैं/व मेरी प्राण
त्रासदी तुम्हारी प्रतीक्षा में है/यहाँ बैठो, विराजो,/
आत्मा के मृदुल आसन पर/हृदय के, बुद्धि के ये अश्व
तुमको ले उड़ेंगे और/शैल-शिखरों की चढ़ानों पर
बसी ठण्डी हवाओं में/उसके पार/गुरु गंभीर मेघों
की चमकी लहर-पीठों पर/व उसके भी परे, आगे
व ऊँचे,/स्वर्ण-उल्का क्षेत्रों में रथ तुम्हें ले जाएगा!!/
नक्षत्र-तारक-ज्योति-लोकों में घुमा ले आएगा
सर्वत्र। रथ के यंत्र सब मजबूत हैं!/उन प्रश्न-
लोकों में यहाँ की बोलियाँ/तुम को
बुलाती हैं। कि उनको ध्यान से सुन लो।''

यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि रूप (फार्म या शिल्प) जिसके माध्यम से कला वास्तविकता को रूपायित करती है, वह सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति की दूसरी प्रतिविधियों या दूसरे अनुशासनों (दर्शन, राजनीति, धर्म, संस्कृति, विधि-विधान) और कला के मध्य किसी दृढ़ विभाजन-रेखा का औचित्य सिद्ध नहीं करता। यदि हम काव्य-कला के वस्तु-तत्व (कांटेंट) और उसके आग्रह-अनुरोधों की सर्वथा उपेक्षा करके केवल ''फार्म'' (शिल्प) की दृष्टि से कला का विश्लेषण करेंगे तो एक ज्ञान-विधा के रूप में उसकी शक्ति और उसके वैशिष्ट्य को समझने में निश्चित रूप से असमर्थ होंगे। आप देखेंगे कि छायावादी और नयी कविता के बहुत से कलावादी समीक्षक फार्म या शिल्प के विश्लेषण में रूपकों, प्रतीकों, बिंबों की बारीकियों को दिखाने में ही अधिकांशत: उलझकर रह गए हैं। ऐसी स्थिति में नये समीक्षकों को बनावट और बुनावट (स्ट्रक्चर और टेक्सचर) के मध्य का तनाव तो दिखाई देता है, लेकिन कथ्य और शिल्प के मध्य का तनाव न दिखाई देने के कारण रचना में व्यक्त कथ्य पूरी तरह उपेक्षित रह जाता है। इसलिए प्रस्तुत कवितांश में आए हुए आयुध (अस्त्र-शस्त्र), अस्त्र-सज्जित रथ, प्राण-आसंदी (बैठने का स्थान), आत्मा का मृदुल आसन, हृदय और बुद्धि के अश्व, शैल-शिखरों की यात्रा, मेघों की चमकती लहर-पीठ, स्वर्ण-उल्का-क्षेत्र, नक्षत्र-तारक-ज्योति-लोक, रथ के यंत्र आदि की लाक्षणिकता, रूपकीय प्रतीकात्मकता या प्रतीकात्मक बिंबात्मकता के निरपेक्ष विश्लेषण द्वारा मुक्तिबोध को आध्यात्मवादी-रहस्यवादी घोषित कर देने का खतरा उत्पन्न हो सकता है। वस्तुत: यहाँ मुक्तिबोध ने एक चिंतक कलाकार के रूप में क्रांतिकारी शक्तियों के प्रति पूर्ण आत्म-समपर्ण का भाव व्यक्त किया है। क्रांति के एक आयुध या शस्त्र के रूप में, एक साधक के रूप में वे अपने को क्रांतिकारी शक्तियों के हवाले कर देते हैं। यहाँ आयुध या शस्त्र अपने लक्षाणिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (इस अस्त्र-सज्जित रथ को यदि ''राम-चरितमानस'' में चित्रित राम के धर्म-रथ, दोहा सं0 79 की चौपाइयों के साथ मिलाकर देख लें तो आपके लिए इसकी विशेषताओं को समझना आसान हो जाएगा) वस्तुत: ''युग की विवेक चेतना बनने के इस मौन प्रयास'' का परीक्षण करने के लिए गृहीत वस्तु-तत्व या कथ्य को पूर्ण रूप से ध्यान में रख कर यदि एक अत्यन्त व्यापक फैंटेसी के अधीन उपर्युक्त कल्पना-चित्रों, बिंबों-प्रतीकों की रूपकीय योजना पर विचार करें तो सभी नयी समाज-व्यवस्था के उच्चादर्श/समन्वित मनोराज्योन्मुखता (यूटोपिया) की एक कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में दिखाई देंगे। यथार्थ के पुनरुत्पादन से हटकर यथार्थ जीवन की पुनर्रचना की इस प्रकृति का उद्घाटन करते हुए ए.एस.वास्केत्स ने लिखा है, ''द आर्टिस्ट सीज बिफोर हिम द इमीडिएट, गिवेन, कांक्रीट रिएलिटी, बट ही कैन नाट रिमेन आन दैट लेवेल, लिमिटिंग हिम सेल्फ टु रिप्रोड्यूसिंग इट। ह्यूमन रिएलटी रिवील्स इट्स सीक्रेट टु द आर्टिस्ट ओनली टु द एक्सटेंट दैट, स्टार्टिंग फ्राम द इमीटिएट ऐंड इंडिविडुवल, ही राइजेज टु ए यूनिवर्सल लेवेल, टु रिटर्न अगेन टु द कांक्रीट। बट दिस इंडिविडुवल ऑर अर्टिस्टिक कांक्रीटनेस इज प्रेसाइजली द फ्रूट ऑव ए प्रासेस ऑफ क्रिएशन, नाट ऑव इमीटेशन।'' - (आर्ट ऐंड सोसायटी, पृ0 32)

उपर्युक्त पंक्तियों में कला की रचना-प्रक्रिया के महत्व को रेखांकित करते हुए लेखक ने मानव यथार्थ की, ठोस यथार्थ की कलात्मक अभिव्यक्ति की स्थिति को अत्यंत कुशलता से उद्घाटित किया है। मुक्तिबोध द्वारा प्रतिपादित कला के तीन क्षणों को ध्यान में रखते हुए यदि हम इस कविता के प्रारंभिक बंद (स्टेंजा) :

''अंत:करण का आयतन संक्षिप्त है
आत्मीयता के योग्य
मैं बिलकुल नहीं''

पर विचार करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह अंत:करण का आयतन उनके अपने अंत:करण का, उनके अपने संचित अनुभवों का दायरा है। जब ये अनुभव अपने दुखते-कसकते मूलों (स्रोतों) से अलग होकर निर्वैयक्तिकता की स्थिति में पहुँचते हैं तो एक फैंटेसी का रूप ग्रहण करते हैं। अनुभव की व्यक्तिगत पीड़ा से उत्पन्न होने के कारण फैंटेसी में एक संवेदनात्मक उद्देश्य समाया रहता है। अन्यत्र फैंटेसी की स्थिति को मुक्तिबोध ने निर्वैयक्तिकता की स्थिति के रूप में सौंदर्यानुभूति का वास्तविक क्षण माना है। इस क्षण में जहाँ आत्म-पक्ष से तटस्थता होती है, वहीं परपक्ष के साथ गहन तन्मयता भी आ जाती है। इसी को ए.एस.वास्केत्स ने व्यक्तिगत स्तर से कलाकार के सार्वभौम स्तर तक उठने की संज्ञा दी है। इस स्तर तक पहुँचकर ही कलाकार यथार्थ जीवन की पुनर्रचना कर पाता है। फैंटेसी के शिल्प के माध्यम से मुक्तिबोध भी यही कार्य करते हैं।

4 .5 भाववादी शिल्प का यथार्थवादी दृष्टि से उपयोग

भाववादी शिल्प के कारण मुक्तिबोध के मूल्यांकन के संबंध में एक दूसरा विवाद उनकी मनोराज्योन्मुखता (युटोपिया) को लेकर है। यह ''युटोपिया'' जिस प्रकार ''कामायनी'' में प्रसाद ने प्रस्तुत किया है, ठीक उसी प्रकार अपनी अधिकांश कविताओं में मुक्तिबोध ने भी। दोनों ने इसकी सिद्धि फैंटेसी के शिल्प के माध्यम से की है। लेकिन जहाँ प्रसाद का ''यूटोपिया'' उनके अद्वैतवादी दर्शन और उनकी भाववादी आध्यात्मवादी जीवन-दृष्टि पर आधारित है, वहाँ मुक्तिबोध के ''यूटोपिया'' का आधार द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दर्शन और उनकी यथार्थवादी दृष्टि है। अत: केवल भाववादी शिल्प के आधार पर मुक्तिबोध को आध्यात्मवादी, रहस्यवादी, मनेविश्लेषणवादी, यहाँ तक कि अस्तित्ववादी घोषित कर देना अनुचित ही नहीं अनर्गल भी है। ''अंत:करण का आयतन'' कविता में मुक्तिबोध ने यथार्थपरक जीवन तथ्यों का जो अमूर्तीकरण किया है, वह यथार्थ को और अधिक मानवीय और ठोस बनाने के लिए ही किया है। अत: भाववादी शिल्प को ग्रहण करते हुए भी मुक्तिबोध एक यथार्थवादी-समाजवादी कलाकार के ही रूप में हमारे सामने आते हैं।

यथार्थवादी कला के लिए भाववादी शिल्प वर्जित नहीं है। दुनिया के बड़े-से-बड़े समाजवादी-यथार्थवादी कलाकारों ने भाववादी शिल्प का सार्थक उपयोग करके अपने कद को ऊंचा किया है। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए ए.एस.वास्केत्स ने लिखा है, ''इट इज नेस्सेसरी टु डिस्कवर न्यू मेथडस, एण्ड आई बिलीव दैट दिस इज नथिंग बट ए नेंचुरल प्रॉसेस। विदाउट दिस फ्रूटफुल एसिमिलेशन ऑव न्यू मेथड्स आव एक्सप्रेशन, द आर्टिस्टिक पर्सनैलटीज ऑव सोशलिस्ट आर्ट वुड हैव बीन स्टेंण्टेड इन देअर डेवलेपमेंट। मायकोवस्की वुड नाट हैव एग्जिस्टेड विदाउट फ्यूचरिज्म नॉर सिकारो (siqueiros) विदाउट मार्डन पेंटिंग, ब्रेख्त विदाउट एक्सप्रेशनिज्म, नरुदा, अरागाँ ऑर एलुआर्ड विदाउट सुर्रियलिज्म, ई.टी.सी.।'' - (आर्ट एडं सोसायटी, पृ0 37)। वस्तुत: साहित्यान्दोलन के रूप में (फ्यूचरिज्म), अभिव्यंजनावाद (एक्सप्रेशनिज्म), आधुनिक चित्रकला का प्रभाववाद (इम्प्रेसनिज्म), अति यथार्थवाद (सुर्रियलिज्म) आदि शिल्प संबंधी साहित्यान्दोलन एक भाववादी बुर्जुआ मनोवृत्ति से प्रेरित होकर अस्तित्व में आए थे। लेकिन बदलती हुई परिस्थितियों में मानवी यथार्थ की जटिलता की अभिव्यक्ति के लिए समाजवादी विचारधारा के कलाकारों ने भी इन शिल्प-विधियों को मौलिक ढंग से स्वीकार कर अपने अपेक्षित लक्ष्यों की अभिव्यक्ति के लिए इनका सार्थक उपयोग किया है। अपने फैंटेसी के शिल्प में मुक्तिबोध ने एक ''यूटोपिया'' प्रस्तुत करने के लिए भविष्यवाद, अपने अंतर्लोक का विश्लेषण करने के लिए अतियथार्थवाद यहाँ तक कि अभिव्यजंनावाद, प्रभाववाद आदि के शिल्प का भी यत्र-तत्र सहारा लिया है। लेकिन इस प्रक्रिया में उनकी जीवन-दृष्टि जनोन्मुखी और यथार्थवादी ही रही है। ''अंत:करण का आयतन'' कविता के आरंभ से अंत तक आत्मचेतस् से विश्वचेतस् बनते हुए कलाकार की विकास-प्रक्रिया का एक यथार्थ चित्र प्रस्तुत हुआ है, जो उन्हें यथार्थवादी-समाजवादी कलाकार सिद्ध करता है।

वस्तुत: एक विशेष प्रकार के शिल्प का चयन करने के पीछे मुक्तिबोध के सम्मुख एक गंभीर चुनौती रही है। जिस प्रकार अकलात्मकता के गलत आक्षेप द्वारा प्रगतिशील काव्य धारा को नयी कविता के मंच से साहित्य-क्षेत्र से निष्काषित करने का प्रयास किया गया, उसे लेकर वे काफी चिंतित थे। मुक्तिबोध ने कई स्थानों पर इस तथ्य की घोषणा की है कि ''कलात्मकता केवल नयी कविता की बपौती नहीं है। उसे हम प्रगतिशील कवि भी साध सकते हैं। इस भावना से प्रेरित होकर उन्होंने नयी-कविता की शिल्पगत उपलब्धियों को स्वीकार किंया तथा उसे भाववादी बुर्जुआ शिल्प मानते हुए भी, उसका अपनी प्रगतिशील जनवादी चेतना की अभिव्यक्ति के लिए अत्यंत सार्थक ढंग से उपयोग किया

है। इस प्रक्रिया में उन्होंने नयी कविता के समूचे तंत्र को, एक विशेष भावधारा की अभिव्यक्ति के अभेद्य दुर्ग को भीतर से तोड़ा है -- उसकी प्रतीक योजना, मिथक रचना, उपमा और रूपक-व्यवस्था, बिंब-विधान द्वारा निर्मित उसके दृढ़ प्राचीर को तोड़ते हुए, जनवादी चेतना के लिए उसका द्वार खोल दिया है। पाठ्यक्रम में निर्धारित नयी कविता के प्रतिनिधि कवि अज्ञेय द्वारा प्रयुक्त शिल्पगत उपकरणों को मुक्तिबोध द्वारा प्रयुक्त उपकरणों - मिथकों, प्रतीकों, रूपकों, बिंबों आदि से मिलाकर देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी। (आगे इस दृष्टि से मुक्तिबोध और अज्ञेय की यथास्थान संक्षिप्त तुलना भी की जाएगी)।

4.6 मुक्तिबोध द्वारा प्रयुक्त उपमां, रूपक, प्रतीक, मिथ और बिंब

फँटेसी के शिल्प का विश्लेषण करते हुए आपके सामने मुक्तिबोध के रूपक, उपमान-व्यवस्था, प्रतीकों, बिंबों आदि के महत्व को भी रेखांकित करने का प्रयास किया जा चुका है। लेकिन अभिव्यक्ति के उपर्युक्त उपकरणों पर अलग से संक्षेप में विचार कर लेना भी आपके लिए उपयोगी हो सकता है। यहाँ इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि मुक्तिबोध की उपमाएँ, रूपक, प्रतीक, बिंब आदि भी अभिप्रेरित-अनुभूति हैं अथवा संवेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित हैं। इस इकाई के आरंभ में "चकमक की चिनगारियाँ" शीर्षक कविता के पहले बंद को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर दो उपमाओं की विस्तृत व्याख्या करते हुए इस तथ्य को रेखांकित किया गया था कि उनसे प्रस्तुत या कथ्य का बिंबग्रहण ही नहीं होता, वरन् वे दोनों विश्वव्यापी सत्य को उद्घाटित करने वाले वस्तु तत्व या कथ्य भी बन जाते हैं। (उस व्याख्या को पुन: देख लें) इस संदर्भ में मुक्तिबोध की कविताओं से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनसे अभिव्यक्ति के इन उपकरणों के प्रयोग के संबंध में उनकी निजी-दृष्टि का भी पता लग जाएगा।

(1) "एक अन्तर्कथा" शीर्षक कविता में अत्यंत विह्वलता के क्षण में उन्होंने लिखा है :

"उपमाएँ उद्घाटित वक्षा मृदु स्नेह मुखी
एक-टक देखतीं मुझको-
प्रियतर मुसकाती
मूल्यांकन करते एक-दूसरे का
हम एक दूसरे को सँवारते जाते हैं
वे जगत-समीक्षा करते से
मेरे प्रतीक-रूपक सपने फैलाते हैं
आगामी के
दरवाजे दुनिया के सारे खुल जाते हैं
...मैं अपनों से घिर उठता हूँ
मैं विचरण करता सा हूँ एक फँटेसी में
यह निश्चित है कि फँटेसी कल वास्तव होगी।"

(इस उद्धरण पर हम पहले भी विचार कर चुके हैं, लेकिन यहाँ एक दूसरे संदर्भ में इस पर विचार करना आवश्यक है)

(2) "मुझे कदम-कदम पर" शीर्षक कविता में मुक्तिबोध जीवनानुभव के मध्य कहानी, उपन्यास, कविता के विषय को प्राप्त करते हुए यात्रा से जब वापस घर आते हैं तो :

"घबराए प्रतीक और मुसकाते रूप-चित्र(बिंब)
लेकर मैं घर पर जब लौटता...
उपमाएं, द्वार पर आते ही कहती हैं कि
सौ बरस और तुम्हें
जीना ही चाहिए।"

(3) "एक स्वप्न-कथा" शीर्षक कविता के अंतर्गत अत्यधिक व्याकुलता के क्षण में मुक्तिबोध ने अपने बिंबों की प्रकृति के विषय में लिखा है :

"इसी लिए, मेरी ये कविताएँ
भयानक हिडिम्बा हैं,

वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएँ
विकृताकृति बिंबा हैं।''

(4) ''चकमक की चिनगारियाँ'' शीर्षक कविता में मुक्तिबोध ने जीवन के यथार्थ को प्रतीकों और बिंबों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास इस प्रकार किया है :

''प्रतीकों और बिंबों के
असंवृत रूप में भी रह
हमारी ज़िंदगी है यह
जहाँ पर धूल के भूरे गरम फैलाव पर, पसरी लहरतीं चादरें
वे थाह सपनों की।
ज़हाँ पर पत्थरों के सिर,
गरीबी के उपेक्षित श्याम चेहरों की दिलाते याद।
टूटी गाड़ियों के सांवले चक्के
दिखें तो मूर्त होते आज के धक्के
भयानक बदनसीबी के।
जहाँ सूखे बबूलों की कंटीली पांत
भरती है हृदय में धुन्ध-डूबा दुख,
भूखे बालकों के श्याम चेहरों साथ
मैं भी घूमता हूँ शुष्क,
आती याद मेरे देश भारत की।''

पहले उदाहरण में उपमाओं के साथ कवि का अत्यंत आत्मीय संबंध प्रकट हुआ है। उपमाओं को संवारने की प्रक्रिया में कवि का स्वयं संस्कार होता है। प्रतीक और रूपक जगत-समीक्षा करते हुए भविष्य के लिए स्वप्नों का विस्तार करते हुए समूची दुनिया के दरवाज़े खोल देते हैं अर्थात् दुनिया की सच्चाइयों से अवगत कराते हैं। इस प्रकार कवि उपमाओं, प्रतीकों, रूपकों के माध्यम से विश्व के साथ आत्मीयता का अनुभव करता है। फलस्वरूप फैंटेसी में विचरण करता हुआ भी वह वास्तविक जगत से साक्षात्कार करता है।

दूसरे उदाहरण में भी ''घबराए प्रतीक'', ''भुसकाते रूप-चित्र (बिंब) और प्रतीक्षारत उपमाओं को जिजीविषा अर्थात् सौ वर्ष तक जीने की इच्छा उत्पन्न करने वाली बताकर कवि ने उनके साथ अपने आत्मीय संबंध को संकेतित किया है।

तीसरे उदाहरण में मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं को जीवन्त-यथार्थ से पूर्ण हिडिम्बा (एक विकट आकृति वाली देवी-भीम की पत्नी) की तरह भयानक और विकृत आकृति वाले बिंबों से युक्त बताया है। लेकिन मुक्तिबोध के बिंब-विधान की विशेषताओं को देखते हुए इसे एक मात्र सत्य नहीं माना जा सकता। उन्होंने कोमल और रागात्मक मानवीय भावों की अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त रमणीय बिंबों का पर्याप्त सहारा लिया है।

चौथे उदाहरण में मुक्तिबोध ने प्रतीकों और बिंबों को खुले क्षेत्र में ज़िंदगी के दर्द को अत्यंत कुशलता से अभिव्यक्त किया है। यहाँ कवि ने यथार्थ जगत के अन्यान्य तत्वों और दृश्यों को प्रतीकात्मक-बिंबात्मक रूप देकर वर्तमान जीवन की अपूर्ण आशा-आकांशा, उपेक्षा, गरीबी, दुख, बदनसीबी, भूख आदि का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में यह स्पष्ट रूप से दिखायी देता है कि अभिव्यक्ति के सभी उपकरण मुक्तिबोध के निजी और सामाजिक जीवन से गहरा रिश्ता रखते हैं और कभी-कभी वे जीवन तथ्यों से अभिन्नता भी स्थापित कर लेते हैं। लेकिन अधिकांशत: वे जीवनानुभूति को सजाते, संवारते और निखारते हुए स्वयं जीवनानुभूति के माध्यम से निखरते और संवरते भी हैं। इस प्रकार मुक्तिबोध ने वस्तु (कथ्य) और रूप (शिल्प) के मध्य एक द्वंद्वात्मक संबंध को स्वीकार किया है। इस दृष्टि से यदि आप अज्ञेय के शिल्प-विधान पर विचार करें तो स्पष्ट रूप से देखेंगे कि उनके यहाँ शिल्प प्राथमिक है, अर्थ या वस्तु-तत्व उसके बाद की अवस्था है। अर्थ को गौण रखकर शब्द को ही कविता का मूल तत्व मान लेना वस्तुत: अपने भाव जगत के संकोच को शब्दाडम्बर के माध्यम से छिपाने की एक चाल है। इस संबंध में उनका स्पष्ट कथन है कि ''काव्य सबसे पहले शब्द है। सारे कवि धर्म इसी परिभाषा से निसृत

होते हैं। ध्वनि, लय, छंद आदि के सभी प्रश्न इसी से निकलते हैं और इसी में विलय हो जाते हैं। इतना ही नहीं, सारे सामाजिक संदर्भ भी यहीं से निकलते हैं। इसी में युग सम्पृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिल सकता है।'' (तार सप्तक, पृ0 309) अज्ञेय की इस मान्यता को आप उनके काव्य में भी फलीभूत होते हुए देखेंगे। वैसे अज्ञेय नयी कविता के प्रतिनिधि चिंतक-कवि हैं। इन्होंने शिल्प के क्षेत्र में अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। ''कलगी बाजरे की'' शीर्षक कविता इस दृष्टि से उल्लेखनीय है, जिसमें पुराने उपमानों की अपर्याप्तता को घोषित करते हुए उन्होंने लिखा है :

''ये उपमान मैले हो गए हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।''

इस प्रक्रिया में वे प्रिया के लिए ''ललाती सांझ के नभ की अकेली तारिका'' या चांदनी में नहाई हुई प्रात: कालीन कुमुदनी अथवा ''चम्पे की ताज़ा कली'' के स्थान पर ''लहलहाती हवा में कलगी छरहरी बाजरे की'' अथवा ''बिछलती घास'' जैसे उपमानों का औचित्य सिद्ध करते हैं। लाक्षणिक प्रयोगों, ऐन्द्रिक (इंद्रियों से संबंधित-दृश्य, स्पृश्य, गंध, श्रव्य आदि) बिंबों और प्रतीकों के नये और सधे हुए प्रयोग की दृष्टि से अज्ञेय एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में सामने आते हैं। लेकिन ''कलगी बाजरे की'', ''नदी के द्वीप'', ''बावरा अहेरी'', ''यह दीप अकेला'', ''सोन मछली'', ''मैंने देखा एक बूंद'' ही नहीं, वरन ''असाध्य वीणा'' जैसी लंबी कविता में प्रयुक्त उपमानों, प्रतीकों, रूपकों और बिंबों में वह संश्लिष्टता या जीवन का व्यापक स्पर्श नहीं मिलेगा जो मुक्तिबोध के यहाँ दिखायी देता है। ''मैंने देखा एक बूंद'' या ''सोन मछली'' जैसी कविताओं के बिंब या उनकी प्रतीकात्मकता नवीन होने के कारण पाठक को विह्वल तो कर देती है, लेकिन उसे कोई दिशा नहीं देती। उदाहरण के लिए यहाँ संध्या का एक बिंब विचारणीय है :

''पति सेवा-रत साँझ
उझकता देख पराया चाँद।
ललाकर ओट हो गयी।''

यह संध्या के स्वरूप और उसकी प्रकृति का अत्यंत नया और व्यंजक चित्रांकन है लेकिन यहाँ बिंब की चकाचौंध में खोकर हम रह जाते हैं। लगभग यही स्थिति अज्ञेय के प्रतीकों की भी है, ''सोन मछली'' और ''मैंने देखा एक बूंद'' में आप इसे आसानी से देख सकते हैं। लेकिन मुक्तिबोध के प्रतीक, रूपक, बिंब ही नहीं, उनकी उपमाएँ भी पाठक को एक व्यापक जीवन-संदर्भ से जोड़ती हैं, उनके प्रतीक-रूपक जगत-समीक्षा करते हुए भविष्य के लिए एक नया स्वप्न देते हैं। (आप अज्ञेय और मुक्तिबोध के रूपकों, प्रतीकों और बिंबों के तुलनात्मक स्वरूप पर विचार अवश्य कर लें क्योंकि इस तरह के प्रश्न परीक्षा में पूछे जा सकते हैं।)

प्रतीकों, रूपकों, बिंबों और समूची उपमान-व्यवस्था की अपनी निजी विशिष्टता के साथ मुक्तिबोध मिथकों के प्रयोग में हिंदी काव्य-जगत में अद्वितीय हैं। वैसे तो मुक्तिबोध ने प्रतीकों-रूपकों के चयन के लिए वर्तमान जीवन तथ्यों पर ही अधिक निर्भर किया है, लेकिन वर्तमान जीवन की त्रासदी और उससे मुक्ति की समस्या के समाधान के लिए उनकी दृष्टि पौराणिक प्रतीकों की ओर भी गई है। इसके लिए कवि ने अन्यान्य पौराणिक प्रतीकों के साथ ही महाभारत पर सर्वाधिक निर्भर किया है। इस क्रम में उसने वैदिक ऋषि शुन:शेष, अजीगर्त, दधीचि, राम, रावण, हनुमान के साथ ही महाभारत के कौरव-पांडव संघर्ष और उसके विभिन्न पात्रों द्रोण, कर्ण, भीष्म, अर्जुन, कृष्ण आदि को अत्यन्त सार्थक मिथक का रूप दिया है। पौराणिक कृष्ण-कथा, कंस और उसके कारावासी वसुदेव-देवकी, कृष्ण-जन्म आदि मिथकीय पुरुषों और घटनाओं के माध्यम से आज की गंभीर समस्याओं का चित्रण करते हुए मुक्तिबोध ने एक तर्क-संगत समाधान भी प्रस्तुत किया है। जब कि अज्ञेय केवल आस्वाद तक ही सीमित रह गए हैं।

देवकी से कृष्ण-जन्म की पौराणिक मान्यता का आधार ग्रहण कर कोयलों की खदान में कार्यरत महिला के पीड़ादायक प्रसव का उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है :

''अभागिन किसी आत्मा ने
देवकी ने
अंधियारी-अत्याचारी जाने किस प्रहर-रात

जन्म दिया कृष्ण को अपार संताप में'' (भूरी-भूरी..., पृ0 58)

इस प्रसंग को ''डूबता चांद कब डूबेगा'' शीर्षक कविता में मुक्तिबोध ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

''जाने कितने कारावासी वसुदेव
स्वयं अपने कर में, शिशु आत्मज ले
बरसाती रातों में निकले
...विक्षुब्ध पूर में यमुना के
अतिदूर, अरे उस नन्द-ग्राम की ओर
जाने किसके डर से वे स्थानन्तरित कर रहे
जीवन के आत्मज सत्यों को
किस महाकंस से भय खाकर।''

यहाँ कृष्ण-जन्म का मिथ आज के महत्वपूर्ण क्रांतिकारी विचारों के जन्म से जुड़कर आधुनिक बोध को स्पष्ट करता है। ''महाभारत'' की वास्तविकता को ''इस नगरी'' शीर्षक कविता में मुक्तिबोध ने इस प्रकार किया है :

''इस नगरी में कौरव के घर
वीर द्रोण की थकन भरी है भूरी-भूरी
पीली है सूरत अनचाहों की सेवा में
कुन्ती पुत्र कर्ण, कर्प - (कृपाचार्य) सात्यिक की ग्रीवा में
कुत्ते की गर्दन का पट्टा
दुखते हिय से भीष्माचार्यों की मजबूरी
कौरव के घर।'' (भूरी-भूरी खाक..., पृ0 167)

यह महाभारत की कथा की पुनर्व्याख्या (री इंटर प्रेटेशन) है, जिसमें द्रोणाचार्य जैसें महारथी की विवशता, पांडव-माता कुंती-पुत्र कर्ण, कृपाचार्य, सात्यिक जैसे योद्धाओं का सत्ताधारी पक्ष की चाकरी, (इनके गलों में पालतू कुत्तों का पट्टा दिखाकर कवि ने इनके आन्तरिक चरित्र का अत्यंत मार्मिक उद्घाटन किया है) और भीष्म पितामह की मजबूरी का चित्रण है। लेकिन मुक्तिबोध ने इस मिथक के माध्यम से आज के सत्ताधारी शोषक-शासक वर्ग की चाकरी में कार्यरत तथाकथित महानों की ओर भी संकेत किया है। इस संबंध में मुक्तिबोध ने ''नये साहित्य का सौंदर्य शास्त्र'' पुस्तक में लिखा है कि आज के युग में भी एक नया महाभारत छिड़ा हुआ है। इसमें भीष्म पितामह और गुरु द्रोण जैसे तमाम सारे प्रचण्ड व्यक्ति दिखावे के लिए तो पांडवों की पीठ थपथपाते हैं, लेकिन आज के युद्ध में सत्ताधारी पक्ष की ओर से लड़ रहे हैं। कष्टग्रस्त श्रेणी से उभरने वाली प्रतिभाओं को आज ऐसे लोगों से सबसे बड़ा खतरा है। इस बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, ''गुरु द्रोण के प्रांगण में आधुनिक कौरव और पांडव -दोनों तालीम पा रहे हैं। ...अभी भी बहुत से महापुरुष कौरव की चाकरी करते हुए, पांडवों से प्रेम करते हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। किंतु द्रोण, भीष्म, कर्ण जैसे प्रचंड व्यक्तियों की ऐतिहासिक पराजय जैसे महाभारत काल में हुई थी, वैसी आज भी होने वाली है।'' (नयें साहित्य का सौंदर्य शास्त्र, पृ0 72-73)

उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि मुक्तिबोध द्वारा प्रयुक्त प्रतीक, रूपक, उपमा, बिंब, मिथक आदि स्वतंत्रे सत्ता रखते हुए अभिव्यक्ति के वाहक मात्र न होकर सामाजिक अनुभवों की जड़ों से जुड़े हुए हैं। फलस्वरूप अज्ञेय की भांति अनुभव-क्षण की आवेशात्मक अभिव्यक्ति तक सीमित न रहकर अनुभव को ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान तक पहुँचाते हुए उसे (अनुभवों को) बोध का रूप भी प्रदान करते हैं :

''वे जगत-समीक्षा करते से
मेरे प्रतीक-रूपक सपने फैलाते हैं।
आगामी के''

इन काव्य पंक्तियों के माध्यम से मुक्तिबोध ने उपर्युक्त तथ्य को रेखांकित किया है। फैंटेसी के शिल्प के प्रेरक ''संवेदनात्मक उद्देश्य'' भी कल्पना, भावना और बुद्धि के सहारे यही कार्य करते हैं। सब मिला कर अद्भुत अभिव्यक्ति कौशल का सहारा लेते हुए भी मुक्तिबोध ने सामान्यत: शिल्प के संबंध में कोई

विशेष आग्रह न प्रस्तुत कर उसकी सहजता और वस्तु-तत्व (काण्टेण्ट) की अनुकूलता को रेखांकित करते हुए लिखा है :

"जमाने ने नगर के कंधे पर हाथ रख
कह दिया साफ-साफ
पैरों के नखों से या डंडे की नोक से
धरती की धूल में भी रेखाएँ खींच कर
तसवीरें बनती हैं
बशर्ते कि ज़िंदगी के चित्र सी
बनाने का चाव हो
श्रद्धा हो, भाव हो।" -(चाँद का मुँह टेढ़ा है)

4 .7 काव्य-भाषा, शब्दावली और विराम-चिह्न

काव्य-भाषा के संबंध में मुक्तिबोध का कोई रूढ़ आग्रह नहीं रहा है। यद्यपि उन्होंने रचना-प्रक्रिया में शब्द-साधना को एक अत्यन्त कठिन साधना के रूप में विस्तार से विश्लेषित किया है। वैसे उनकी नवीन चेतना कभी संस्कृत-निष्ठ तत्सम सामासिक पदावली की अलंकृत गलियों से गुजरती है, तो कभी अरबी-फारसी-उर्दू के नाजुक हाथों को थाम कर चलती है, कभी बोल-चाल के सहज प्रवाह में प्रवाहित होती है, तो कभी अंग्रेज़ी, हिंदी, संस्कृत के मिश्रित रूप का कुशलता पूर्वक सहारा लेती है। अत: उनकी भाषा में एकरूपता न होकर अवसरानुसार तथा भावानुकूल अनेक रूप मिलते हैं। इसके लिए कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं :

(1) "फाड़ श्याम मृत्तिका वरण, उठे सकोण
प्रस्तरी अंग यत्र-तत्र सर्वत्र।"
या
"भू-लोक-विपथ-विज्ञान-गणित-शास्त्री
तम छायाओं द्वारा प्रकाश-पथ के ज्ञाता,
आज की श्याम भूताकृतियों के द्वारा ही
कल की प्रकाश-छवियों के ओ दर्शन-कर्ता" (ओ काव्यात्मन् फणिधर)।

(2) "भूल (आलमगीर)
मेरी आपकी कमजोरियों के स्याह
लोहे का जिरह बख्तर पहन, खूंखार
हाँ, खूँखार आलीजाह' - (भूल गलती)

(3) सुबह से शाम तक...
काम की तलाश में इस गुजरे हुए दिन की
निरर्थकता की आग में
जलता धुँआता हुअ
जिन्दगी की दुनिया को कोसता
मैं रास्ते पर चलता हूँ" - (मुझे याद आते हैं)

(4) स्क्रीनिंग करो मिस्टर गुप्ता
क्रास एक्जामिन हिम थारोली" (अंधेरे में)।

शब्द-चयन और शब्दावली और प्रयोग की दृष्टि से भी मुक्तिबोध अपने युग के एक विशिष्ट कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। शब्द-शोधन और नये शब्दों के अनुसंधान को ही वास्तविक कवि कर्म मानने वाले अज्ञेय की शब्दावली से मुक्तिबोध की शब्दावली को मिलाकर आप आसानी से देख सकते हैं कि इस क्षेत्र में भी मुक्तिबोध की प्रयोग धर्मिता अज्ञेय से कितनी आगे है। लाक्षणिक विशेषणों से युक्त और विलक्षण शब्दों का प्रयोग मुक्तिबोध की अनुभूति की जटिलता की अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य साधन के रूप में आया है। कोमल अहं-अस्मि-वेदना, क्रांति सा क्रुद्ध लाल सुर्ख, मित्रस्मिता, वनवासी समीर, शिलीभूत गतियों का हिम,अगारी झीलें, गतिशील असंगतियाँ, भूले-भटके शब्द, खेतिहर के नवाक्षर, विभ्राट-व्यवस्था, आत्मज अनुभव-शिशु, अन्वय-व्यतिरेक-प्रभा-उपपत्ति सहित, भूलों के ग्राफ,

गलतियों के नक्शे, अपाहिज पूर्णताएँ, अपवाद के नियम, अत्र्कतन भाव-चित्र जैसे शब्दों के साथ ही एलक्ट्रान-प्रोटोन, यूरेनियम, मैगनीज, फास्फेट, रेडियम, फास्फोरस, नाइट्रोजन, स्टीम-रोलर, पिस्टन आदि जैसी वैज्ञानिक शब्दावली उनकी प्रखर चेतना की अभिव्यक्ति करती हैं। ये शब्दावली उनके व्यापक रचना संसार का भी स्पष्ट संकेत करती है।

मुक्तिबोध ने अपनी काव्य-भाषा में विराम चिह्नों की भूमिका को भी रेखांकित किया है। कोष्टक, डैश, वाक्यारंभ और अंत में तीन बिंदुओं - (डाट्स) का प्रयोग, कामा, कोलन, सेमीकोलन, रिक्त पंक्तियों के रूप में एक पूरी पंक्ति के स्थान पर बिंदुओं (....) का प्रयोग, प्रश्न वाचक चिह्न, संबोधन कारक चिह्नों के रूप में! या!! या फिर!!! चिह्नों, इकहरे या दुहरे इनवर्टिड कामाज़ (" –') का प्रयोग आदि मुक्तिबोध के काव्य-शिल्प को एक नयी और सार्थक भंगिमा प्रदान करते हैं।

अन्य अनेक विशेषताओं के साथ ही नाटकीयता भी मुक्तिबोध के काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। इसे ''चाँद का मुँह टेढ़ा है'' संग्रह की पहली कविता ''भूल गलती'' से लेकर अंतिम कविता ''अंधेरे में'' तक हम आसानी से देख सकते हैं। स्थान-स्थान पर आने वाले संवाद, प्रश्न-उत्तर-प्रतिउत्तर, पट परिवर्तन, पटाक्षेप, दृश्य-परिवर्तन, छाया-ध्वनि-प्रकाश आदि की कुशल योजना मुक्तिबोध की शिल्पगत विशिष्ट उपलब्धि है। अपने इस नाटकीय शिल्प के लिए मुक्तिबोध ने कुछ विशिष्ट शब्दों का सहारा भी लिया है। जैसे -अचानक, अकस्मात, यकायक, एकाएक, अनायास, अरे, ओ, अरे। अरे।।, कौन, क्यों, कैसे, हाय-हाय आदि-आदि शब्द नाटकीय कौशल में पर्याप्त सहायक हुए हैं।

काव्य-भाषा, शब्दावली और विराम चिह्नों के साथ मुक्तिबोध के नाटकीय कौशल को समझने के लिए पाठ्यक्रम में निर्धारित कविताओं - विशेष रूप से ''चकमक की चिनगारियाँ'', ''ओ काव्यात्मन् फणिधर'' और ''अंधेरे में'' शीर्षक कविताओं पर एक सरसरी निगाह अवश्य डाल लें।

4 .8 कुछ कविताओं के शीर्षकों का आशय-अभिप्राय

मुक्तिबोध के काव्य-शिल्प का विस्तृत विश्लेषण करने के बावजूद यह ज़रूरी लगता है कि आपके सामने मुक्तिबोध की कुछ कविताओं के शीर्षकों के आशय-अभिप्राय को स्पष्ट किया जाए। इससे आपके सम्मुख यह तथ्य अधिक स्पष्टता से आ सकेगा कि किसी कविता विशेष में मुक्तिबोध को कहना क्या है और कहने का वे क्या तरीका अपनाते हैं। इससे उनकी रूपक-प्रतीक-योजना के साथ ही फैंटेसी का शिल्प स्वरूप भी स्पष्ट हो सकेगा।

''चकमक की चिनगारियाँ'' और ''अंत:करण का आयतन'' शीर्षक कविता पर इस दृष्टि से हमने व्यापक चर्चा कर ली है। ''अंधेरे में'' शीर्षक कविता पर अगली इकाई के अंतर्गत विस्तार से विचार किया जाएगा। यहाँ हम केवल तीन कविताओं के शीर्षकों को विचार-विमर्श के लिए ले रहे हैं - (1) ''डूबता चाँद कब डूबेगा, (2) ''चम्बल की घाटी में'' और (3) ''ओ काव्यात्मन् फणिधर''।

1. **''डूबता चाँद कब डूबेगा''** - इस शीर्षक का प्रतीकार्थ है, ह्रास की ओर उन्मुख पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का अंत कब होगा। इस प्रतीकार्थ को समझे बिना फैंटेसी के शिल्प में प्रस्तुत की गई इस कविता के प्रतीकों-रूपकों के आशय को समझने में कठिनाई हो सकती है। प्रस्तुत कविता का आरंभ समाज के दिल दहलाने वाले, भयंकर और वीभत्स चित्रांकन से होता है। द्वेष, ईर्ष्या, कुत्सा (पाप) आदि के विषाक्त वातावरण के कारण उत्पन्न स्थिति का भयप्रद चित्र अंकित करते हुए कवि ने लिखा है :

    ''अंधियारे बिल से झांक रहे
    सर्पों की आंखें तेज हुई
    अब अहंकार उद्विग्न हुआ,
    मानव के सब कपड़े उतार
    वह रीछ एक दम नग्न हुआ।''

यथार्थ जीवन-स्थितियों का अमूर्तन करते हुए फैंटेसी के शिल्प के सहारे अनेक कल्पना-चित्रों द्वारा असह्य पीड़ादायक स्थिति से छुटकारा पाने के लिए नये अनुभव-शिशु के रूप में क्रांतिकारी विचारधारा के जन्म का संकेत भी कवि ने अत्यंत भावात्मक-कलात्मक ढंग से किया है। इस समाज के संचालक

पूंजीवादी कंस के कारागार में जन्में वसुदेव पुत्र कृष्ण के रूप में अवतरित यह क्रांतिकारी विचारधारा ही अमानवीय शोषण से मुक्ति दिला सकती है - इस मान्यता के साथ कविता समाप्त होती है। यह संपूर्ण कार्य कवि ने पूँजीवाद, पूँजीपति, सर्वहारा की क्रांति आदि का स्पष्ट उल्लेख किए बिना ही सम्पन्न किया है। कथन की यह पद्धति ही फैंटेसी के शिल्प की विशेषता है, जिसमें रूपकों, प्रतीकों और उपमानों की महत्वपूर्ण भूमिका भी यहाँ रेखांकित हुई है।

2. **''चम्बल की घाटी में''** - इस कविता में मुक्तिबोध का मूल कथ्य है कि समाज के ऐतिहासिक विकास की निरंतर प्रवाहित धारा आज पूँजीवाद के साम्राज्यवादी-इजारेदारी के इस दौर में पूरी तरह अवरुद्ध हो गई है, जिसे पुन: प्रवाहित करने के लिए क्रांतिकारी शक्तियों के साथ ही बुद्धिवादी मध्यवर्ग को अपनी सही भूमिका का निर्वाह करना चाहिए। चम्बल (एक नदी) का प्रतीकात्मक उपयोग करते हुए कवि ने कविता के दूसरे खंड के मध्य में लिखा है :

> ''अब तक अथाह जो भरी पूरी नदी थी,
> वही आज
> अपनी ही घाटी में डूब मरी
> चम्बल के (यहाँ आ) पैर उखड़ गए
> तुमने बहुत देर की
> पानी की खोहें और थाहें सब सूख गयीं
> तलवे सब फट गए
> दरारों में प्यास भर गयी है''

वस्तुत: चम्बल यहाँ समाजेतिहास की उस विकास-धारा का प्रतीक है, जिसने निरंतर प्रवहमान रहते हुए पूँजीवादी विकास के साम्राज्यवादी मोड़ पर अपनी ही घाटी में दम तोड़ दिया है। पूँजीवादी व्यवस्था के प्रच्छन्न नायक को यहाँ मुक्तिबोध ने जादूगाँ और यातुधान (राक्षस) कहा है। चम्बल की हत्या के षडयंत्र का सूत्रधार वही है। ऐसी स्थिति में भी कवि का पूरा विश्वास है कि वह राक्षस चाहे कितना भी बलवान क्यों न हो, इस घाटी में रहने वाले सभी लोगों की हत्या संभव नहीं है :

> ''असंभव, इस पूरे क्षेत्र में सब लोग मारे जाएँ, मर जाएँ, असंभव,
> भले ही उजाड़ और
> चाहे जितनी जन-हीन
> लगे यह पूरी भूमि
> कुशल और चाहे जितना बलवान
> वह यातुधान हो,
> लोग अभी जिन्दा हैं, जिन्दा।।
> यहीं कहीं, वे भी।''

इसके बाद एक मध्यवर्गीय व्यक्ति के रूप में अपने और अपने जैसे दूसरों को चेतावनी देते हुए कवि ने लिखा है :

> ''जिसके होने में गहन अंशदान
> स्वयं तुम्हारा,
> इसी लिए जब तक उसकी (शोषण पाप के परम्परा-क्रम की) स्थिति है
> मुक्ति न तुमको।
> याद रखो,
> कभी अकेले में मुक्ति नहीं मिलती
> यदि वह हैं तो सबके ही साथ है।''

इस प्रकार कवि ने अंत में व्यक्तिबद्धता के दायरे को तोड़ कर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों को जन साधारण के साथ एकमेक होने का आग्रह-अनुरोध व्यक्त किया है। लेकिन यह कार्य एक अत्यंत उलझे हुए, फिर भी अत्यन्त कलात्मक माध्यम से सम्पन्न हुआ है।

3. **''ओ काव्यात्मन् फणिधर''** - प्रस्तुत कविता का शीर्षक उपर्युक्त दोनों कविताओं के शीर्षक की प्रकृति से भिन्न है। यहाँ कवि ने अपनी कविताओं को फणिधर नाग के रूप में संबोधित किया है। इस कविता का मूल कथ्य भी वही है, जो उपर्युक्त दोनों कविताओं का है। लेकिन यहाँ अपने

अनुभव-शिशु को अर्थात् प्रकाशमान रत्नों को सहेज कर एकत्र करने का अनुरोध प्रस्तुत किया गया है। क्योंकि ''यह काल तुम्हारा नहीं''। उन्हें प्रकट करने का समय अभी आया नहीं है। फिर भी तुम घर-आँगन, पुर-नगर के कचरों के ढेरों में छिपाए गए ''मन के, जन के, जो मूल सत्य हैं, इस जग के परिवर्तन के'' उन रत्नों को एकत्र करो, जो असुविधाजनक समझ कर छिपा दिए गए हैं। यहाँ कवि ने अनुभव-विस्तार की प्रक्रिया को आत्म-संघर्ष और आत्म साक्षात्कार के माध्यम से सम्पन्न करने के महत्व को रेखांकित किया है'' आधुनिक सभ्यता के वीभत्स और भयावह परिवेश से अपने काव्यात्मन फणिधर को अंधकूप के सूखे तल में, कूड़े-कचरों के ढेर के नीचे छिपे रो रहे नवजात शिशु को श्रम-गरिमा का दूध पीने के लिए समुचित स्थान पर ले जाने का कवि ने आग्रह भी किया है। वस्तुत: नवजात शिशु यहाँ क्रांतिकारी विचारधारा है, जो वर्तमान सभ्यता के जंगल में ''हाँ में हाँ, नहीं-नहीं में भर/ अपने को जग में खपा देने'' वाली प्रवृत्ति के कारण अन्तरात्मा के अंधकूप में डाल दी गई है। यह विचारधारा ही नवजात शिशु के रूप में पुष्ट होकर वर्तमान शोषण मूलक व्यावसायिक सभ्यता के संचालक प्रच्छन्न रहने वाले ''ब्रह्मदेव'' के काले कारनामों का परदाफाश करेगा :

''पर शोक मत करो नागात्मन...
आ गए तुम्हारी अनुपस्थिति में लोग
प्रतीक्षा जिनकी थी
अब उन रत्नों का अर्थ दीप्त होगा,
उनका प्रभाव घर-घर में पहुँचेगा फिर से
उनके प्रकाश में दीख सकेगा भीषण मुख...
जग देख चुकेगा पूरा ही
उस ब्रह्मदेव का दर्शन सभी कर सकेंगे
जिसकी छत्रच्छाया में रह
अधिकाधिक दीप्तिमान होते
धन के श्री-मुख,
पर, निर्धन एक-एक सीढ़ी नीचे गिरते जाते
उस ब्रह्मदेव का विवेक-दर्शन
होगा उद्घाटित पूरा।''

यहाँ पहुँच कर ''नागात्मन् फणिधर'' की फैंटेसी अपने आवरण के बाहर आती है और अपनी जीवन-यात्रा के सामाजिक निष्कर्ष को प्रस्तुत करती है। मुक्तिबोध की इस प्रवृत्ति को हम ''एक अंतर्कथा'', ''चाँद का मुँह टेढ़ा है'', ''इस चौड़े ऊंचे टीले पर'', ''एक स्वप्न कथा'' आदि अधिकांश कविताओं में स्पष्टता के साथ देख सकते हैं।

4 .9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में मुक्तिबोध के काव्य-शिल्प पर विचार करते हुए सर्वप्रथम हमने कथ्य और शिल्प की एकरूपता के साथ ही उनके द्वंद्वात्मक संबंधों को समझने का प्रयास किया है। ''चकमक की चिनगारियाँ'' कविता के एक उदाहरण द्वारा हमने स्पष्ट रूप से देखा है कि अभिव्यक्ति के उपकरण किस प्रकार कथ्य का अभिन्न अंग बनते हुए उसे और अधिक सम्पन्न करते हैं। इसके बाद फैंटेसी के शिल्प की सामान्य विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध द्वारा फैंटेसी के मौलिक प्रयोग पर भी विचार किया गया है। इसके लिए ''अन्त:करण का आयतन'' कविता को आधार बनाते हुए फैंटेसी के शिल्प में गुथे हुए प्रतीकों, रूपकों, बिंबों के सार्थक उपयोग और उनकी मूल प्रकृति को भी रेखांकित किया गया है। प्रतीक, रूपक, मिथक और समूची उपमान-व्यवस्था ही वह उपकरण है, जो एक ओर फैंटेसी के मूल ढांचे को कायम रखती है और दूसरी ओर वर्तमान जीवन-तथ्यों के रंग भी भरती है। मुक्तिबोध के काव्य-शिल्प की विशेषताओं के स्पष्टीकरण के क्रम में फैंटेसी से अलग उनके रूपकों, प्रतीकों, उपमाओं, बिंबों, मिथकों आदि पर भी हमने विचार कर लिया है। इसके लिए नयी कविता के प्रतिनिधि कवि अज्ञेय की शिल्प संबंधी विशेषताओं की मुक्तिबोध के शिल्प से तुलना भी संक्षेप में की गई है। इस तुलना में समाजनिष्ठ मुक्तिबोध और व्यक्तिनिष्ठ अज्ञेय के मूलभूत अंतर को भी रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

इकाई के अंत में मुक्तिबोध की काव्य-भाषा, शब्दावली, विराम-चिह्नों के प्रयोग के साथ ही उनके नाटकीय कौशल पर भी प्रकाश डाला गया है। ये सभी उनके काव्य-शिल्प को निजी विशेषता से मंडित करते हैं। इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए अंत में ''डूबता चाँद कब डूबेगा'', ''चम्बल की घाटी में'' तथा ''ओ काव्यात्मन फणिधर'' जैसे शीर्षकों की प्रतीकात्मकता को इस दृष्टि से स्पष्ट किया गया है कि आप यह समझ सकें कि मुक्तिबोध मूल कथ्य को किस पद्धति से प्रस्तुत करते हैं। इससे भी उनकी शिल्पगत विशेषताओं, विशेष रूप से फैंटेसी की शिल्प की विशेषताओं को समझने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

4.10 प्रश्न

1. फैंटेसी के शिल्प की दृष्टि से मुक्तिबोध की काव्यगत विशेषताओं को स्पष्ट करें।
   रूपक-योजना और प्रतीक-विधान की दृष्टि से मुक्तिबोध के काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।
3 मुक्तिबोध ने भाषा तथा शब्दावली के साथ ही विराम-चिह्नों और नाटकीयता के संयोग द्वारा काव्य-शिल्प को उत्कर्ष प्रदान किया है'' - पठित कविताओं के आधार पर इस कथन का विवेचन करें।
4. काव्य-शिल्प की दृष्टि से मुक्तिबोध और अज्ञेय की विशेषताओं की तुलना करें। (इस प्रश्न के उत्तर के लिए अज्ञेय की शिल्पगत विशेषताओं से संबद्ध इकाई को देखना आवश्यक है)।
5. मुक्तिबोध की कविता के कुछ शीर्षकों की प्रतीकात्मकता के माध्यम से उनके मूल आशय-अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उनकी कथ्य तथा शिल्पगत विशेषताओं को संक्षेप में स्पष्ट करें। (इस प्रश्न के समुचित उत्तर के लिए मुक्तिबोध से संबंधित पहली इकाई को भी देख ले, जहाँ कई शीर्षकों के मूल आशय को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है)।

इकाई 5 ''अंधेरे में'' कविता का विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

5 .0 उद्देश्य
5 .1 प्रस्तावना
5 .2 अंधेरे में : विश्लेषण
    5 .2.1 पहला खंड
    5 .2.2 दूसरा खंड
    5 .2.3 तीसरा खंड
    5 .2.4 चौथा खंड
    5 .2.5 पाँचवाँ खंड
    5 .2.6 छठा खंड
    5 .2.7 सातवाँ खंड
    5 .2.8 आठवाँ खंड
    5 .2.9 नौवा खंड
5 .3 सारांश
5 .4 प्रश्न

5 .0 उद्देश्य

यह इकाई मुक्तिबोध की सबसे महत्वपूर्ण और लंबी कविता ''अंधेरे में'' के विश्लेषण से संबंधित है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- ''अंधेरे में'' कविता के कथ्य को समझ पाएँगे,
- ''अंधेरे में'' कविता का विश्लेषण कर पाएँगे
- मुक्तिबोध की काव्यगत विशेषताओं से भी परिचित हो सकेंगे

5 .1 प्रस्तावना

इस इकाई से पूर्व की दो इकाइयों में हमने क्रमश: ''मुक्तिबोध की जीवन दृष्टि और रचना-प्रक्रिया'' तथा ''फैंटेसी'' के शिल्प के संदर्भ में उनकी काव्यगत विशेषताओं पर विस्तार से विचार कर लिया है। यहाँ हम 'अंधेरे में' कविता की विशेषताओं पर विचार-विमर्श करेंगे। यह कविता मुक्तिबोध की सर्वाधिक चर्चित कविता है। अत: इसके विवेचन-विश्लेषण में भी पर्याप्त मतभेद दिखायी देता है।

मुक्तिबोध की अधिकांश कविताओं में आत्म-संघर्ष से आत्म-साक्षात्कार और फिर जगत-साक्षात्कार की प्रक्रिया का अत्यंत स्पष्ट संकेत मिलता है। उनके यहाँ आत्म-संघर्ष नयी कविता के अधिकांश कवियों से भिन्न एक निश्चित उद्देश्य से प्रेरित है। इसके अन्तर्गत अपने अंतस्-बाह्य का व्यापक सर्वेक्षण ही नहीं, ''आत्म'' का संशोधन-संपादन अर्थात् आत्मालोचन का स्वर भी प्रमुखता से उपलब्ध होता है, जो अन्तत: आत्मविस्तार-संस्कार से लेकर सामाजिक साक्षात्कार की ओर उन्मुख हो जाता है। इस ''आत्म'' को कहीं वे ''मैं'' और ''वह'' में विभक्त करते हैं तो कहीं अन्तरमन और बाह्य मन के द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो द्वन्द्व सामाजिक अन्तर्विरोधों के द्वंद्व का एक अनिवार्य अंग बन जाता है। आपके पाठ्यक्रम में निर्धारित ''भूल गलती'', ''ब्रह्मराक्षस'', ''चकमक की चिनगारियाँ'', ''ओ काव्यात्मन् फणिधर'' आदि के अलावा ''अंधेरे में'' कविता के अन्तर्गत भी उक्त तथ्य को लक्षित किया जा सकता है। ''भूल गलती'' का ''वह'' ''कैद कर लाया गया ईमान'' है, जो ''ज़िंदगी की शर्म की सी शर्त को नामंजूर कर'' अपनी ''खुद-मुख्तारी'' का (स्वतंत्रचेता होने का) परिचय देता है, जिससे ''मैं' के संभल कर जागने की क्रिया सम्पन्न होती है। इस कविता में ''वह'' को ''संकल्पधर्मा चेतना का रक्त प्लावित स्वर'' और ''हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर'' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ''चकमक की चिनगारियाँ'' में मुक्तिबोध ने ''वह'' को ''गुप्त मन'' या अन्तरात्मा का प्रतिनिधि माना

है, जो अन्त:करण की ''अंधेरी दूरियों से उभर कर दुनियादार मन ''मैं'' की ''कनपटी पर जोर का आघात कर'' उसे आगाह करता है कि ''अरे'' कब तक रहोगे आप अपनी ओट, कहाँ मिल पाओगे उनसे कि जिनमें जनम ले निकले।'' इससे स्पष्ट है कि मुक्तिबोध के यहाँ आत्म संघर्ष-आत्मबद्धता की दशा के परिहार के लिए है, ''आत्म'' के समाजीकरण के उद्देश्य से है। ''ब्रह्मराक्षस'' का ''वह'' स्वयं ब्रह्मराक्षस है, जो ''अंधेरी बावड़ी की घनी गहराइयों में'' आत्मशोध करते हुए ''मैं'' को अपना ''सजल उर शिष्य बनने के लिए विवश करता है।

उपर्युक्त कविताओं के ''मैं'' और ''वह'' के संदर्भ को यदि ध्यान में रखें तो आप के सामने ''अंधेरे में'' कविता के ''मैं'' और ''वह'' की स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। वस्तुत: इस कविता में ''वह'' के माध्यम से ''मैं'' के बाह्यीकरण और ''मैं'' के माध्यम से ''वह'' के अभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया का विस्तृत उद्घाटन हुआ है। इस कविता में यह प्रक्रिया अत्यंत उलझी हुई है, जो एक विशाल सामाजिक-राजनीतिक पटल पर फैंटेसी के शिल्प में प्रस्तुत की गई है। लेकिन ''चकमक की चिनगारियाँ'' में यह प्रक्रिया अपेक्षाकृत अधिक सरल और स्पष्टता के साथ इस प्रकार अंकित हुई है :

> ''अरे। जन-संग ऊष्मा के
> बिना, व्यक्तित्व के
> स्तर जुड़ नहीं सकते।
> तुम्हारी मुक्ति उनके
> प्रेम से होगी।
> कि अपनी मुक्ति के रास्ते।
> अकेले में नहीं मिलते।''

यहाँ ''वह'' के रूप में गुप्त मन का (अंतरात्मा का) ''मैं'' के लिए निर्देश प्रस्तुत किया गया है। फलस्वरूप ''मैं'' अपनी मध्यवर्गीय सीमाओं का अतिक्रमण कर व्यक्तित्वांतरण की विधि का इस प्रकार आश्रय लेता है :

> ''कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
> उमग कर
> जन्म लेना चाहता फिर से
> कि व्यक्तित्वांतरित होकर
> नये सिर से समझना और जीना
> चाहता हूँ सच।''

अपने व्यक्तित्व का रूपान्तरण ही ''फिर से जन्म लेना'' है। ऐसी स्थिति में पहुँच कर ही सच को, वास्तविक यथार्थ को (जिसकी प्रकृति मूलत: सामाजिक होती है) ठीक से समझा और जिया जा सकता है। यहाँ ''समझना'' और ''जीना'' दो अलग क्रियाएँ हैं। सच को समझ कर भी उसे जीना, जीवन में उतार लेना आवश्यक नहीं। ''अंधेरे में'' कविता का काव्य-नायक ''मैं'' ''वह'' की आहट सुनता है, देख लेता है, जान और पहचान भी लेता है, लेकिन आरंभ में अपनी मध्यवर्गीय सीमाओं के कारण ''वह'' द्वारा प्रस्तुत सच्चाई को जीने से आनाकानी करता है। अन्तत: ''वह'' के वर्चस्व को स्वीकार कर उसका अनुशासित शिष्य बन जाता है।

मुक्तिबोध के यहाँ व्यक्तित्वांतरण आत्म-साक्षात्कार का अनिवार्य सोपान है और आत्म-साक्षात्कार अपनी सामाजिक अस्मिता (आयडेण्टिटी) का साक्षात्कार है, जो व्यक्ति के समाजीकरण का मार्ग प्रशस्त करता है। इसलिए उन्होंने काव्य को केवल व्यक्तिगत प्रक्रिया न मानकर, सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया भी माना है, जिसमें सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के साथ ही आत्म-संस्कार भी निहित है। यह आत्म-संस्कार आत्म विस्तार के साथ ही बृहत्तर समाज के साथ व्यक्ति का तादात्म्य करता है। ''अंधेरे में'' कविता के अन्तर्गत ''मैं'' की आत्मबद्धता ''वह'' के संपर्क से टूटती है और जन के साथ एकीकृत होकर ''मैं'' जनक्रांति की अनिवार्यता का अनुभव करता है। वर्तमान पूंजीवादी सत्ता और उसकी आतंककारी व्यवस्था से सामान्य जन की मुक्ति उसका उच्च मानवीय आदर्श बन जाता है, अतः सामान्यजन की मुक्ति की कठोर शर्त पर अपनी मुक्ति की संभावना ''अंधेरे में'' कविता का मूल प्रतिपाद्य माना जा सकता है। लेकिन इस प्रतिपाद्य तक पहुंचने के लिए कविता में आत्म-निरीक्षण परीक्षण से लेकर व्यापक सामाजिक-राजनीतिक सर्वेक्षण तक का सहारा लिया गया है। इसलिए यह

कविता स्वातंत्र्योत्तर भारतीय सामाजिक-राजनीतिक जीवन का एक कलात्मक दस्तावेज बन गयी है। इस तथ्य को ''अंधेरे में'' कविता के विवेचन-विश्लेषण द्वारा आप अच्छी तरह समझ सकते हैं।

5.2 ''अंधेरे में'' विश्लेषण

अंधेरे में कविता का आरंभ अत्यंत नाटकीय और रहस्यात्मक ढंग से फैंटेसी के सहारे ''मैं'' के रूप में एक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की इस चिंता से होता है :

''ज़िंदगी के .....।
कमरों में अंधेरे
लगाता है चक्कर।
कोई एक लगातार,
आवाज पैरों की देती सुनाई
बार-बार ...
वह नहीं दीखता...
किंतु रहा घूम
तिलस्मी खोह में गिरफ्तार कोई एक
अस्तित्व जनाता
अनिवार कोई एक
और मेरे हृदय की धकधक
पूछती है - वह कौन
सुनाई जो देता, पर नहीं देता दिखायी।''

यहाँ काव्य-नायक या वाचक ''मैं'' के साथ ''कोई एक'' की स्थिति स्पष्ट है। लेकिन ''मैं'' और ''वह'' की वास्तविक स्थिति की जानकारी आपको तब तक नहीं हो सकती जब तक अंधेरे कमरों या तिलस्मी खोह के मूल आशय को नहीं समझ लेते। वस्तुत: यहाँ ''अंधेरे कमरे'' या ''तिलस्मी खोह'' अपना ही अन्तर्जगत है, जहाँ ''कोई एक'' या ''वह'' के रूप में अपना ही अंत:संवेदन या संवेदनात्मक उद्देश्य कैद है। सोलहवीं इकाई में, रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में आपके सम्मुख इसकी भूमिका को विस्तार से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसके संबंध में मुक्तिबोध ने अपने ''नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र'' शीर्षक ग्रंथ में लिखा है कि ''संवेदनात्मक उद्देश्य विद्युत की वह धारा है, जो अन्तर्व्यक्तित्व से प्रसूत होकर जीवन-विधान करती है, अभिव्यक्ति-विधान करती है। आत्मचरितात्मक और सृजनशील ये संवेदनात्मक उद्देश्य हृदय में स्थित जीवन अनुभवों को संकलित कर उन्हें कल्पना के सहयोग से उद्दीप्त और मूर्तिमान करते हुए एक ओर प्रवाहित कर देते हैं।'' (पृ0 95) प्रस्तुत काव्यांश में संवेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित ''मैं'' का अन्तर्गमन होता है, जहाँ वह अपने ''स्व'' के, अपने ''अहं'' के दायरे से मुक्त होकर आत्म साक्षात्कार करता है। मुक्तिबोध के यहाँ आत्म-साक्षात्कार आत्म-सत्य से साक्षात्कार है। सच्चा कलाकार आत्म-सत्य का अन्वेषण अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों में ही नहीं, वरन् उन अनुभूतियों के मूलों (स्रोतों) में करता है, जो समाज और संस्कृति की परम्परा में समायी रहती हैं। आत्मान्वेषण, आत्म-साक्षात्कार और फिर जगत-साक्षात्कार की यह प्रक्रिया इस कविता में आरंभ से अंत तक दिखायी देती है।

प्रस्तुत काव्यांश में ज़िंदगी के अंधेरे कमरों में चक्कर लगाने वाले के पैरों की आवाज़ मात्र सुनाई देती है, वह स्वयं दिखायी नहीं देता। और अधिक अंतर्मंथन के बाद उभरते हुए चेहरे, नुकीली नाक, भव्य ललाट, दृढ़ हनु (ठुड्डी) आदि के साथ उसकी आकृति भी दिखायी देती है, लेकिन जो पहचान में नहीं आती। इसके लिए काव्यनायक का प्रश्न होता है, ''कौन मनु''? यहाँ विचारणीय है कि यह मनु कौन है? पूरी कविता में ''वह'' की स्थिति को देखते हुए निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है यह ''कामायनी'' का प्रसादकृत मनु न होकर मुक्तिबोध का ही मनु (मन) है, जो सामान्यीकृत होकर जन-जन का भी मन है। ''कामायनी'' के मनु की अहंग्रस्तता से मुक्त होकर यह पूरी तरह जनोन्मुख मनु है और काव्य नायक ''मैं'' को भी जनोन्मुख बनाता है। ''वह'' मुसकरा कर अपनी पहचान भी बताता है, फिर भी काव्य-नायक ''मैं'' समझ नहीं पाता। कविता के तीसरे बंद में तिलस्मी खोह का शिलाद्वार एक झटके के साथ खुल जाता है और अंधेरे के बावजूद लाल-लाल मशाल के प्रकाश में रक्तालोक में नहाया हुआ दिव्य-पुरुष साक्षात रहस्य के रूप में प्रकट हो जाता है। यहाँ भी ''वह पहचाना तो जाता है लेकिन समझ में नहीं आता''। चौथे बंद में भी ''मैं'' को अपने संभावित स्नेह के समान गौर वर्ण, भव्य ललाट,

प्रकाश युक्त नेत्र और सौम्य मुख वाले व्यक्ति को देखकर विलक्षण आशंका और गहन संदेह बना ही रहता है।

5.2.1 प्रथम खंड

इस आशंका और संदेह के बाद प्रथम खंड के पाँचवें बंद में वह रहस्यमय व्यक्ति ''मैं'' की समझ में आ जाता है :

''वह अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति है,
पूर्ण अवस्था वह
निज संभावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिमाओं की
मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव
हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह
आत्मा की प्रतिभा।''

इससे ''मैं'' के साथ ''वह'' का रिश्ता स्पष्ट हो जाता है। यहाँ ''वह'' के लिए प्रयुक्त सारी संज्ञाएं ''मैं'' के लिए विशेषण के रूप में आयी हैं। मुक्तिबोध के यहाँ यही आत्म-साक्षात्कार है, जिसमें ''मैं'' और ''वह'' का द्वैत समाप्त हो जाता है, अन्तरमन और बाह्यमन में एक रागात्मक संबंध स्थापित हो जाता है। लेकिन यह कोई स्थायी स्थिति नहीं है। इसके लिए निरंतर आत्म-संघर्ष करना पड़ता है, अपने आत्म (बाहरी और भीतरी दोनों) का संशोधन-संपादन, काट-छाँट करते रहनी पड़ती है। ऐसा न होने पर ''मैं'' जो समझौता परस्त और दुनियादार भी होता है, ''वह'' से द्वैत भी स्थापित कर सकता है। इसका संकेत पाँचवें बंद की अंतिम पंक्तियों में इस प्रकार हुआ है :

''प्रश्न थे गंभीर,
शायद खतरनाक भी
इसीलिए बाहर के गुंजान
जंगलों से आती हुई हवा ने
फूँक मार एका-एक मशाल ही बुझा दी
कि मुझको यों अंधेरे में पकड़ कर
मौत की सज़ा दी।''

''मैं'' और ''वह'' की एकीभूत स्थिति से कुछ ऐसे गंभीर और खतरनाक प्रश्न सामने आते हैं, जिनसे ''मैं'' बचना चाहता है। अत: ''बाहर के गुंजान जंगल से आती हुई हवा'' से संवेदनात्मक ज्ञान की मशाल बुझ जाती है और ''मैं'' फिर आत्मस्थ (अपने ''स्व'' के दायरे में कैद) हो जाता है। यहाँ जंगल की हवा, बाहर की दुनिया के, समझौतापरस्ती के तकाज़े हैं, जो ''मैं'' को अपने ''निज'' के दायरे से बाहर नहीं जाने देते। लेकिन प्रखर आत्मालोचन वाले ''मैं'' के लिए अपने में बंद रह पाना सर्वथा संभव नहीं हो पाता। इस तथ्य का उद्घाटन प्रस्तुत कविता के दूसरे खंड में होता है।

5.2.2 दूसरा खंड

अपने आप में बंद काव्य-नायक ''मैं'' के सूनेपन में एक सिहरन से कविता के दूसरे खंड का आरंभ होता है। ''अंधेरे में ध्वनियों के बुलबुले -स्वर की सलवटें उभरती हैं, जो अत्यन्त मीठी किंतु दु:सह हैं।' काव्य-नायक ''मैं'' को लगता है कि कोई बाहर दरवाजे पर दस्तक दे रहा है, जो ''मेरी ही किसी महत्वपूर्ण बात को मुझे बताने के लिए बुला रहा है। ''मैं'' को जिज्ञासा होती है कि आखिर वह कौन है, जो आधी रात के अंधेरे में मिलने आया है। उसके आग्रह अनुरोधों से ''मैं'' को पता लग जाता है कि ''यह वही व्यक्ति है, जो मुझे तिलस्मी खोह में मिला था।'' काव्य-नायक ''मैं'' की सुविधाओं का तनिक भी ख्याल किए बिना, वह समय-असमय उपस्थित होता रहता है, समझाता है, हृदय को बिजली के झटके देता है। उसे देख कर काव्य-नायक के हृदय में प्यार उमड़ आता है और वह चाहता है :

''दरवाजा खोल कर बाहों'' में कस लूँ
हृदय में रख लूँ
घुल जाऊं, मिल जाऊं, लिपट कर उससे''

लेकिन अपनी मध्यवर्गीय स्थिति और दुनियादारी के दबावों में वह ऐसा नहीं कर पाता। उसकी इस विवशता को कोष्ठक में स्पष्ट करते हुए कवि ने लिखा है :

''(यह भी तो सही है कि
कमज़ोरियों से ही लगाव है मुझको)।
इसीलिए टालता रहता हूँ उस मेरे प्रिय को
कतराता रहता,
डरता हूँ उससे''
क्योंकि वह ''ऊंचे शिखर के खतरनाक कगार पर बैठा कर
आदेश देता है कि ''पार करो पर्वत-संधि के गह्वर
रस्सी के पुल पर चल कर
दूर उस शिखर कगार पर पहुँचो।''

इस कठिन उत्तरदायित्व के निर्वाह से घबरा कर काव्य-नायक ''मैं'' एक क्षण के लिए सोचता है :

''बजने दो सांकल
वह जन वैसे ही
चला जाएगा, आया था जैसे।''

लेकिन यह मनोदशा क्षणिक सिद्ध होती है। दूसरे क्षण ''मैं'' निश्चय करता है कि ''नहीं'' नहीं उसको मैं छोड़ नहीं सकूँगा। सहना पड़े मुझे चाहे जो भले ही।'' क्योंकि उस महान प्रकाशमान पुरुष, आत्मा की प्रतिभा द्वारा की गयी जगत-समीक्षा, उसका विवेक-विक्षोभ, उसके द्वारा तैयार किया गया उज्ज्वल भविष्य का नक्शा ''मैं'' को बराबर बेचैन करता है। अत: आत्म-चेतस ''मैं'' को जंग खायी हुई सिटकनी को जबरन खोलकर केवल बाहर झांकने मात्र से ''उस अपने प्रिय'' का साक्षात्कार संभव नहीं है। अत: उसे बाहर सूना ही नजर आता है, ''बाहर कोई नहीं, कोई नहीं बाहर।''

कविता के दूसरे खंड के अंतिम बंद में अंधियारे सूने में रात का पक्षी-चीख कर कहता है :

''वह चला गया है
वह नहीं आएगा .....
अब तेरे द्वार पर
वह निकल गया है
गाँव में, शहर में।
उसको तू खोज अब
उसका तू शोध कर
वह तेरी पूर्णतम परम अभिव्यक्ति,
उसका तू शिष्य है (यद्यपि पलातक)।
वह तेरी गुरु है, गुरु है...।''

यहाँ रात के पक्षी की आवाज़ वह ज्ञानात्मक संवेदन है, जो रहस्य पुरुष ''वह'' द्वारा की गयी जगत समीक्षा और भविष्य के नक्शे से ''मैं'' को प्राप्त हुआ है। यह ज्ञानात्मक संवेदन ''मैं'' को व्यक्तिवादी आत्म-संघर्ष से हटाकर सामाजिक संघर्ष का स्वप्न प्रदान करता है। अत: उसे अपनी ''पूर्णतम परम अभिव्यक्ति'' के लिए ''तिलस्मी खोह'' (आत्मबद्धता) से निकल कर व्यापक समाज के मध्य आना पड़ता है और जनजीवन को समझ कर उसके संघर्ष में कल्पनाशील सहानुभूति के माध्यम से भागीदार बनना पड़ता है।

5 .2.3 तीसरा खंड

कविता के तीसरे खंड में समकालीन वास्तव से जुड़कर फैंटेसी एक नया मोड़ लेती है। ''मैं'' अपने अंधेरे कमरे से निकल कर बाहर गैलरी में आता है। वहाँ उसे समकालीन सामाजिक यथार्थ, उसके आतंककारी स्वरूप का अहसास होता है। अपने सिविल लाइंस के कमरे में पड़ा हुआ ''मैं'' स्वयं को एक विचित्र स्थिति में पाता है :

''पीटे गए बालक सा मार खाया चेहरा
..... स्लेट-पट्टी पर खींची गयी तसवीर
भूत जैसी आकृति
क्या वह मैं हूँ

मैं हूँ।।

वह खिड़की खोलकर ''किसी अनपेक्षित-असंभव घटना'' के भयावह संदेह से ग्रस्त हो जाता है। तभी उसे ''सहसा तालस्ताय या तॉलस्तायनुमा कोई व्यक्ति दिखायी देता है, जो उसके ''अपने भीतरी धागे का आखिरी छोर'' या ''अनलिखे उपन्यास का केंद्रीय संवेदन दबी हाय-हाय नुमा'' - प्रतीत होता है। यहाँ तॉलस्ताय के गहन अनुभव को वह अपना केंद्रीय संवेदन बना कर उनकी मानवतावादी परम्परा की प्रेरणा से समाज के साक्षात्कार की ओर उन्मुख होता है। इस प्रक्रिया में उसे वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के क्रूरतम फासिस्ट रूप का साक्षात्कार होता है। उसे ''नगर के मध्य रात्रि-अंधेरे के सुनसान में किसी प्रोसेशन के साथ बैण्ड-दल की आवाज़ निकट आती हुई सुनाई देती है और अधिक निकट आने पर वह जुलूस किसी ''मृत्युदल की शोभा यात्रा'' में बदल जाता है।

वस्तुत: यह प्रोसेशन वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के फासिस्ट रूप के अत्यंत क्रूर और अमानवीय स्वरूप का यथार्थ चित्र है। आधी रात के इस जुलूस में बैण्ड दल, कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल, सेनापति के साथ ही बहुत सारे कवि, आलोचक, पत्रकार, मंत्री, उद्योगपति, विद्वान आदि ही नहीं, वरन् शहर के माफिया ग्रुप का सरगना कुख्यात हत्यारा डोमाजी उस्ताद भी सम्मिलित है। इस जुलूस में सम्मिलित लोगों के यथार्थ चरित्र का पर्दाफाश करते हुए काव्य-नायक के माध्यम से मुक्तिबोध ने लिखा है :

''गहन मृतात्माएँ इसी नगर की
हर रात जुलूस में चलतीं,
परन्तु दिन में
बैठती हैं मिलकर, करती हुई षडयंत्र
विभिन्न दफ्तरों-कार्यालयों, केन्द्रों, घरों में।''

पूँजीवाद-समर्थक व्यवस्था के अमानवीय-चरित्र को बेनकाब करते हुए यहाँ मुक्तिबोध ने उसकी तामझाम में कैद कवि-कलाकारों, बुद्धिजीवियों, चिन्तकों-आलोचकों, पत्रकारों की हीनतर स्थिति को भी रेखांकित किया है। इसे बेनकाब करने वाले चिंतकों को क्रूर व्यवस्था की जिस यातना से गुज़रना पड़ता है, उसका भी यथार्थ अंकन इस कविता के छठे खंड में हुआ है। इस बंद के अंत में उस यातना का आभास मात्र ''मैं'' को होता है :

''हाय-हाय। मैंने उन्हें देख लिया नंगा
इसकी मुझे सजा मिलेगी।''

5.2.4 चौथा खंड

कविता के चौथे खंड में काव्य-नायक ''मैं'' की एक नयी यात्रा आरंभ होती है। इसमें वह एक ओर ''मार्शल ला'' लगे नगर में ''दम छोड़ भागता है'' तो दूसरी ओर जमाने का निरीक्षण-परीक्षण भी करता है। इस क्रम में उसे नगर के चौराहे पर खड़ा विशालकाय बरगद दिखायी देता है, जो ''समस्त गरीबों और वंचितों का आश्रय-स्थल है। वहाँ काव्य-नायक ''मैं'' की पुन: ''वह'' से भेंट होती है, जो ''तिलस्मी खोह'' से भागकर नगरों-गावों में लोगों के बीच चला गया था। इससे स्पष्ट है कि विशालकाय बरगद साधारणजन की वर्गीय चेतना का प्रतीक है। इस खंड के तीसरे बंद में ''वह'' को ''सिरफिरा पागल'' की संज्ञा दी गयी है। लेकिन यह सिरफिरा पागल कोई और नहीं संवेदनात्मक उद्देश्य है, जिसे नगर के सैनिक प्रशासन की चिंता नहीं है। अत: उसे यहाँ ''जागरित बुद्धि, प्रज्ज्वलित धी (विवेक) की भी संज्ञा दी गयी है। वह आत्म-साधना के नाम पर समस्त सुख सुविधाओं का भोग करने के बाद भी अनात्म बन जाने वाले मध्यवर्गी बुद्धिजीवियों के साथ ही ''मैं'' को अपनी निस्संगता और आत्मलीनता के लिए धिक्कारता हुआ करूणापूर्ण रसाल गीत गाता है :

''ओ, मेरे आदर्शवादी मन
ओ, मेरे सिद्धान्तवादी मन
अब तक क्या किया? जीवन क्या जिया?
ज्यादा लिया और दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश अरे, जीवित रह गए तुम ...।''

वस्तुत: पागल के गीत का यह अंश काव्य-नायक ''मैं'' की व्यक्ति बद्धता पर ही कटाक्ष न होकर तत्कालीन नयी कविता के तथाकथित कवियों-चिन्तकों के मध्यदर्गीय निस्संग चरित्र पर भी गहरा

कटाक्ष है। इसे नयी कविता का मुक्तिबोध कृत आलोचनाशील (क्रिटीक) भी माना जा सकता है। समाज से समुचित पोषण प्राप्त कर अनात्म बन जाना, भूतों की शादी में कनात सा तनना है। अर्थात् भ्रष्टाचार और शोषण पर परदा डालना है। किसी भ्रष्टाचारी का बिस्तर बनना, उसके मार्ग को सुगम करना है। अपने निजी दुखों को तमगे (विजय चिह्न) की तरह प्रदर्शित करना, रात-दिन अपने ख्यालों में डूबे रहना, असंग बुद्धि और एकाकीपन को गौरवान्वित करना ज़िंदगी को निष्क्रिय तलघर बनाना है। लोक-हित रूपी लोहित पिता और जन-मन की करुणा के समान माता को घर से (हृदय) निकाल देना आत्मबद्धता की चरम अमानवीय परिणति है, जो अपने कीचड़ में ही डुबो देती है। भावना से कर्तव्य को हटा देना, हृदय के रागात्मक मन्तव्यों को मार डालना, अपने आप की हत्या करना है। इस प्रकार यह गीत मात्र आत्मप्रतारणा ही न होकर तत्कालीन नयी भावधारा की आत्मघाती प्रवृत्ति के प्रति मुक्तिबोध की तीव्र मानसिक प्रतिक्रिया भी है।

सिरफिरे पागल का अत्यंत उद्‌बोधमय गीत काव्य-नायक में गहरी बेचैनी पैदा करने के साथ ही उसे आत्मलोचन और अपराध-बोध की ओर उन्मुख करता है। उसे लगता है :

> ''मानो मेरी ही निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया
> ...आज उस पागल ने मेरी चैन भुला दी।''

वस्तुत: यह पागल ''मैं'' का ही अंत:स्थित संवेदन है :

> ''व्यक्तित्व अपना अपने से खोया हुआ
> वही अकस्मात मिला था
> रात में
> पागल था दिन में।''

इस पागल को ही कविता के पहले खंड में ''रक्तालोक स्नात पुरुष, अपने ''परिपूर्ण का आविर्भाव'', ''आत्मा की प्रतिभा'', ''ज्ञान का तनाव'' आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है।

5.2.5 पाँचवा खंड

कविता के पाँचवे खंड में बरगद के नीचे स्थित काव्य-नायक के कंधे पर एक बरगदपात टूट कर गिरता है, जिससे वह चौंक जाता है। उसे लगता है कि जैसे किसी ने उसके कंधे पर हाथ रख कर एक इशारा या संकेत किया है। इस संकेत से प्रेरित होकर काव्य-नायक :

> ''भागता है दम छोड़
> घूम गया कई मोड़।''

इस क्रम में वह अपनी आंतरिक गुहा में पहुँच जाता है, उसका अंतर्गमन होता है। वहाँ उसे अपने अनुभव-विवेक, वेदना-निष्कर्ष से परिपूर्ण प्रकाशमान मणियाँ, रेडियो-एक्टिव रत्न दिखायी पड़ते हैं। वस्तुत: ये सब उसी के अपने महत्वपूर्ण अनुभव, जो अंत:करण में संचित हैं, जिनका अब तक कोई उपयोग नहीं हो सका है।

5.2.6 छठा खंड

कविता का छठा खंड काव्य-नायक की इस चिंता से आरंभ होता है कि उसने अपनी अमूल्य रत्न राशि अर्थात् महत्वपूर्ण जीवनानुभवों को :

> ''गुहावास दे दिया।
> लोक-हित क्षेत्र से कर दिया वंचित
> जनापयोग से वर्जित कर
> खोह में डाल दिया''

अब उन्हें लेकर वह कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होता है - ''यह न समय है, जूझना ही तय है।'' यहाँ से फैंटेसी एक नया मोड़ लेती है। जमाने का निरीक्षण-परीक्षण करते हुए काव्य-नायक तिलक की पाषाणमूर्ति के निकट पहुँचता है, इसके बाद उसकी भेंट अति दीन-दशा में पहुँचे महात्मा गांधी से होती है। मुक्ति संग्राम के इन दोनों योद्धाओं के सकारात्मक तत्वों को ग्रहण कर काव्य-नायक को एक नयी ऊर्जा मिलती है, जिसे वह व्यापक जनमुक्ति के मार्ग का पाथेय बनाता है। वर्तमान स्थिति को देखकर

इन दोनों सेनानियों के हृदय पर कैसा आघात लगा है, इसका खुलासा करते हुए काव्य-नायक के माध्यम से मुक्तिबोध ने पहले तिलक के संबंध में लिखा है :

"भव्य ललाट की नासिका में से
बह रहा खून जाने कब से
x x x
मानो कि अतिशय चिन्ता के कारण
मस्तक-कोष ही फूट पड़े सहसा

तिलक की मूर्ति को सान्त्वना प्रदान करते हुए काव्य-नायक कहता है :

"हाय-हाय, पित: पित: ओ
चिन्ता में इतने न उलझो
हम अभी ज़िन्दा हैं, ज़िन्दा।"

और आगे बढ़ने पर काव्य-नायक को सर्दी में बोरा ओढ़ ठिठुरते-कांपते हुए गांधी जी मिलते हैं, जो कहते

"भाग जा, हट जा
हम हैं गुज़र गये जमाने के चेहरे
आगे तू बढ़ जा"

जनता के गुणों से "भावी के उद्‌भव" की शिक्षा देते हुए अपने बाजू में चुपचाप सोये हुए शिशु को गांधी जी काव्य-नायक के हवाले करते हुए कहते हैं :

"मेरे पास चुपचाप सोया हुआ यह था
संभालना इसको सुरक्षित रखना"

इससे स्पष्ट है कि गांधीवादी दर्शन और उनकी अहिंसावादी नीति अब "गुज़र गए ज़माने" की बात है। यहाँ गांधी की गोद में सोया हुआ शिशु भारतीय जन-गण का भविष्य है, जिसे सुरक्षित रखने और आगे बढ़ाने का दायित्व काव्य-नायक को मिलता है।

काव्य-नायक के कंधे पर स्थित शिशु फूलों का गुच्छा बन जाता है, एक दम हलका और प्रिय। उसे लेकर जब वह गलियों में पहुँचता है तब पुष्प-गुच्छ कंधे पर वजनदार रायफल में बदल जाता है। अहिंसा का स्थान सशस्त्र क्रांति ले लेती है। शिशु के इस रूपान्तरण से काव्य-नायक का भी व्यक्तित्वान्तरण होता है। उसका मध्यवर्गीय विशुद्ध कलाकार मर जाता है :

"ओफ्फो!!
एकान्त प्रिय यह मेरा
परिचित व्यक्ति है
वही हाँ,
सचाई थी सिर्फ एक अहसास
पर कार्यक्षमता से वंचित व्यक्ति
...संदेहास्पद समझा गया और मारा गया बधिकों के हाथ।"

मुक्तिबोध का यह विश्वास कई स्थलों पर व्यक्त हुआ है कि युग-संधि पर कलाकार नहीं कार्यकर्ता पैदा होते हैं। यहाँ काव्य-नायक कलाकार से कार्यकर्ता बन जाता है। क्रांतिकारी कार्यकर्ता के साथ पूँजीवादी व्यवस्था जैसा बर्ताव करती है, वह काव्य-नायक के साथ भी होता है। जिस क्षण वह निर्णय करता है :

"फिजूल है इस वक्त कोसना खुद को
एकदम ज़रुरी दोस्तों को खोजूँ
पाऊं मैं नये-नये सहचर"

इसके तुरंत बाद वह आततायी सत्ता के सम्मुख चारों तरफ अपने को घिरा पाता है। उसे यातना-कक्ष में ले जाया जाता है, जहाँ :

''टूटे से स्टूल में बिठाया गया है
शीश की हड्डी जा रही तोड़ी
x x x x
शीश का मोटा अस्थि-कवच ही निकाल डाला
देखा जा रहा -
मस्तक-यंत्र में कौन-कौन विचारों की कौन सी ऊर्जा
x x x x
कहाँ-कहाँ क्षोभक-स्फोटक सामान
...तलघर अंदर
छिपे हुए प्रिंटिंग प्रेस को खोजो
जहाँ कि चुपचाप ख्यालों के परचे
छपते रहते हैं, बांटे जाते हैं
इस संस्था के सेक्रेटरी को खोज निकालो
शायद, उसका ही नाम हो आस्था
कहाँ है सरगना इस टुकड़ी का
कहाँ है आत्मा?
...स्क्रीनिंग करो मिस्टर गुप्ता
क्रास एक्जामिन हिम थारोली।''

यहाँ मुक्तिबोध ने पूँजीवादी सत्ता के अमानवीय हथकंडों का प्रतीकात्मक-बिम्बात्मक संकेत मात्र प्रस्तुत किया है। वह वैचारिकता से लेकर आस्था और आत्मा तक को रौंदते हुए चिंतकों, बुद्धिजीवियों और कलाकारों को अपना अनुचर बना लेती है। लेकिन यह भी सही है कि एक दृढ़ निश्चयी चिंतक को अपना अनुचर बनाने में वह अपने समूचे प्रयास के बावजूद असफल सिद्ध होती है। ऐसे चिंतक और विचारक उसके हर मायावरण के जाल को छिन्न-भिन्न कर उसके चरित्र को बेनकाब करने में सफल भी हुए हैं। इस कविता में भी भयानक यातना आत्मा को खरीद नहीं पाती, उसे कुचल नहीं पाती, ''यह आत्मा बहुत कुशल है।'' वह समूची आंतरिक संवेदना को एकत्र कर अंततः बाह्य जगत में फैलाने में सफल हो जाती है। यही कवि का आस्थावादी स्वर है, जो उसे लक्ष्योन्मुख बनाता है।

5.2.7 सातवाँ खंड

कविता का सातवां खंड यातना-गृह से काव्य नायक की रिहाई से आरंभ होता है। इसके दूसरे बंद में ''मुझे अब खोजने होंगे साथी''- की समस्या को सुलझाने के लिए ''मैं'' बाहर की ओर नहीं अपने भीतर की ओर उन्मुख होता है :

''काले गुलाब और स्याह सिवन्ती
स्याम चमेली
संवलाए कमल जो खोहों के जल में
भूमि के भीतर पाताल तल में
खिले हुए कब से भेजते हैं संकेत''

ये संकेत काव्य-नायक के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण बन जाते हैं और ''काव्य चमत्कार रंगीन किंतु ठंडा पड़ जाता है। अरे, इन कागज के फूलों से मेरा काम नहीं चलेगा।''

सातवें खंड के तीसरे बंद में काव्य-नायक एक निर्णय की स्थिति में आता है :

''अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के पार
तब कहीं देखने को मिलेंगी बाहें
जिसमें कि प्रतिपल कांपता रहता
अरुण कमल एक''

यहाँ अभिव्यक्ति के खतरे कलात्मक अभिव्यक्ति के खतरे नहीं हैं। मठ और गढ़ भी कलावादी-साहित्यिक मठ और गढ़ नहीं है। ये क्रूर शोषण और उत्पीड़न पर आधारित पूँजीवादी सत्ता के वैचारिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक गढ़ हैं। इन गढ़ों को तोड़ने के खतरे वस्तुत: सामाजिक संघर्ष के खतरे हैं, जिनका उद्देश्य एक नयी समाज व्यवस्था की स्थापना है। इस खतरे को उठाने के बाद ही, अरुण कमल से युक्त बाहें देखने को मिलेंगी। यह सामाजिक संघर्ष की, क्रांति की परम सिद्धि है। इन गढ़ों को मुक्तिबोध ने अपनी अनेक कविताओं में ''प्रतापी सूर्य'', ''सियाह चक्रव्यूह'', ''शोषण की सभ्यता के नियमों के अनुसार बना हुआ दुर्ग'' आदि की संज्ञा दी है। इस खंड के अंतिम बंद में भी उन्होंने ''सूर्यों के प्रांगण'' के रूप में इस गढ़ का संकेत इस प्रकार किया है :

> ''सचमुच मुझको तो ज़िन्दगी की सरहद
> सूर्यों के प्रांगण पार जाती सी दीखती!!
> कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
> वर्तमान समाज में चल नहीं सकता
> पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता
> स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी
> छल नहीं सकता
> मुक्ति के मन को
> जन को।''

यहाँ ''सूर्यों के प्रांगण पार'' से कवि का अभिप्राय है, पूँजीवाद के अकाट्य लगने वाले सिद्धांत, जो पूँजीवादी तंत्र और उसकी व्यवस्था का पोषण करते हैं। लेकिन सामाजिक व्यवस्था इसकी सरहद के पार भी जाती है- समाजवादी और साम्यवादी व्यवस्था के रूप में। अपनी ''अंत:करण का आयतन'' कविता में इसे मुक्तिबोध ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है :

> ''सुकोमल काल्पनिक तल पर
> नहीं है द्वन्द्व का उत्तर
> तुम्हारी स्वर्णवीथी कर सकेगी क्या?
> समन्वय झूठ है
> सब सूर्य फूटेंगे
> व उनके केन्द्र टूटेंगे
> उड़ेंगे खंड
> बिखरेंगे गहन ब्रह्माण्ड में सर्वत्र
> उनके नाश में तुम योग दो''

प्रस्तुत कविता के अंतिम बंद में भी कवि ने इसी निष्कर्ष को प्रस्तुत किया है कि नयी सामाजिक रचना के लिए पूँजीवाद की समाप्ति अनिवार्य है, जो जन क्रांति से ही संभव हो सकती है। इसे आठवें खंड में फैंटेसी के माध्यम से स्वप्न-कथा के रूप में घटित होते हुए दिखाया गया है।

5.2.8 आठवाँ खंड

कविता के आठवें खंड में काव्य-नायक ऐसा कुछ विशेष देखता है, जिससे उसका हृदय एकाएक धड़क कर रूक जाता है, यहाँ से स्वप्न-कथा के रूप में फैंटेसीबद्ध क्रांति शुरु होती है। उसे दिखायी देता है कि नगर में भयानक धुँआ उठ रहा है। ''कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई'' - पंक्तियाँ सात बार इस खंड में दुहराई गई हैं लेकिन इनके मध्य प्रस्तुत होने वाले कल्पना-बिम्ब भिन्न-भिन्न हैं। पहले बंद में काव्य-नायक को वातावरण में ''अदृश्य ज्वाला की गरमी का आवेग'' और ''जनमन उद्देश्य'' की एकता दिखाई देती है। क्रांति की इन परिस्थितियों में निष्क्रिय और तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग की प्रतिक्रिया का अंकन कवि ने इस प्रकार किया है :

> ''सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
> चिन्तक शिल्पकार, नर्तक चुप हैं
> उनके खयाल से यह सब गप है
> मात्र किंवदती
> रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल बद्ध ये सब लोग नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे

प्रश्न की उथली सी पहचान
राह से अनजान
x x x
बौद्धिक वर्ग है क्रीत दास
किराये के विचारों का उद्‌भास'

लाभ-लोभ की भावना पर आधारित पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में बौद्धिक समुदाय की कला और चिंतन की यही स्थिति है। वे क्रांति को समाजवादियों की एक वैचारिक बहस मान कर जाने-अनजाने पूँजीवादी व्यवस्था की सुरक्षा के लिए एक झूठे दर्शन का सहारा लेते हैं। इस खंड के चौथे बंद में ''एक स्प्लिट सेकेण्ड में शत साक्षात्कार'' के माध्यम से क्रांति के प्रभाव का अंकन हुआ है। लेकिन पाँचवें बंद में क्रांति का अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ अंकन हुआ है। क्रांतिरत राह के पत्थर, मिट्टी के ढेले, धूल के कण संघर्षशील जन शक्ति के प्रतीक बन जाते हैं। इन प्रतीकों के साथ यथार्थ वस्तुएँ भी एकमेक कर दी गयी हैं :

''दादा का सोटा भी करता है दाव-पेंच
नाचता है हवा में
गगन में नाच रही कक्का की लाठी
यहाँ तक कि बच्चे की पे पें भी उड़ती
तेज़ी से लहराती घूमती सलेट-पट्टी''

इन पंक्तियों के संदर्भ में डॉ0 रामविलास शर्मा की टिप्पणी है - ''शहर में लाठी और सलेट-पट्टी **से** हथियारबंद दमनकारियों का मुकाबला नहीं किया जा सकता। इस तरह क्रांति नहीं हो सकती।'' यहाँ रामविलास जी ने इस तथ्य की उपेक्षा कर दी है कि यह क्रांति नहीं, वरन् क्रांति का प्रतीकात्म बिम्ब है, जिसमें ''एक एक वस्तु या एक-एक प्राणाग्नि-बम है/ ये परमास्त्र हैं, प्रक्षेपास्त्र हैं, यम हैं''। अत: यहाँ क्रांति की अपराजेय इच्छा और संभावित क्रांतिकारी शक्तियों के दृढ़ संकल्प की ओर एक कलात्मक संकेत मात्र है। इस प्रकार के अतिरंजनापूर्ण वर्णन में यह मुक्तिबोध की फैंटेसीबद्ध विशिष्ट शैली है, जिसका सार्थक और सफल प्रयोग उन्होंने ''चकमक की चिनगारियाँ'' कविता में इस प्रकार किया है :

''विलक्षण भोग अपनी वेदना के क्षण
मिलाते सुर हवाओं से
कि बिल्डिंग गूँजती है, कांप जाती है
दीवालें ले रही आलाप
पत्थर गा रहे हैं तेज
तूफानी हवाएँ धूम करती गूँजती रहतीं
उखड़ते चौखटों में ही खड़ाखड़ खिड़कियाँ नचतीं
भड़ाभड़ सब बजा करते खड़े बेडौल दरवाजे
x x x x
अचानक हो गयी बरखास्त आज
अत्याचार की सरकार।''

यहाँ भी क्रांति की प्रसरणशील सहानुभूति का कल्पना-चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसमें वस्तुस्थिति को देखते हुए समाज का पूरा ढांचा चरमराता हुआ लगता है। अत: दादा का सोटा, कक्का की लाठी और बच्चे की स्लेट-पट्टी अपना लाक्षणिक अर्थ रखती है, जो जन क्रांति में सार्वजनिक भागीदारी को प्रतीकित करती है। इस सार्वजनिक क्रांति में एक-एक वस्तु परमास्त्र, प्रक्षेपास्त्र और बम का काम करती है। इस प्रकार की क्रांति का एक जीता जागता उदाहरण वियतनाम है।

इस खंड के सातवें बंद में क्रांति की ठोस तैयारी - भौतिक मानसिक दोनों - का संकेत है। आठवें बंद में काव्य-नायक अपनी सहानुभूतिशील कल्पना के माध्यम से क्रांति की अनिवार्यता और वांछनीयता को रेखांकित करता है। यह समूचा कार्यकलाप फैंटेसी के माध्यम से भाव-विह्वल स्वप्न-कथा के रूप में घटित होता है।

5 .2.9 नौवा खंड

इस खंड के नवें बंद का आरंभ काव्य-नायक के स्वप्न भंग से होता है :

''एकाएक फिर स्वप्न भंग
बिखर गये चित्र कि मैं फिर अकेला''

अपने अकेलेपन में भी वह अपने स्वप्नों का आशय ढूंढ़ता है, जिससे उसके मन में अर्थों की वेदना घिरती है। उसे लगता है कि :

''मानों की कल रात किसी
अनपेक्षित क्षण में ही सहसा
प्रेम कर लिया हो
जीवन भर के लिए
x x x
अज्ञात प्रणयिनी कौन थी,
कौन थी।।''

इसका स्पष्ट उत्तर है वह क्रांति थी, जिसे ''चकमक की चिनगारियाँ'' कविता में उन्होंने ''मनो-आकार चित्रा वह सुनेत्रा'' और ''अंत:करण का आयतन'' में प्रतेजस आनना/ लावण्य-श्री मित्रस्मिता, की संज्ञा दी है। प्रस्तुत कविता में, ''हाय यह वेदना स्नेह की गहरी जाग गयी क्यों कर'' के माध्यम से कवि ने इस आशय को व्यंजित किया है कि क्या कभी क्रांति का यह स्वप्न साकार भी हो सकेगा।

क्रांति का यह स्वप्न काव्य-नायक ''मैं'' में एक आह्लाद जगाकर ही समाप्त नहीं हो जाता। उसके ''कमरे में सुबह की धूप फैल जाती है और गैलरी में सुनहला प्रकाश भर जाता है।'' कमरे से जब वह गैलरी में आता है, पुन: उसे उस जन का दर्शन होता है, जिसे उसने तिलस्मी गुफा में पहली बार देखा था। काव्य-नायक ''मैं'' उसे बुलाना चाहता है, ''लेकिन वह फिर खो गया किसी जनयूथ में।'' उसका परिचय और उसके साथ अपना रिश्ता बताते हुए काव्य-नायक कहता है :

''अनखोजी निज समृद्धि का वह परम उत्कर्ष
परम अभिव्यक्ति
मैं उसका शिष्य हूँ
वह मेरी गुरु है, गुरु है।''

इस प्रकार ''वह'' स्वयं ''जन'' में रूपान्तरित होकर जनक्रांति का अग्रदूत बन जाता है और ''मैं'' अब ''पलातक शिष्य'' (भागने वाला शिष्य) न रह कर पूर्ण अनुशासित शिष्य बन कर अपने को जन के साथ एकाकार करने का प्रयास करता है :

''इसीलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झांक-झांक देखता हूँ एक-एक चेहरा,
प्रत्येक गतिविधि
प्रत्येक चरित्र
व हर एक आत्मा का इतिहास
हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति
आत्म-संभवा।''

इस प्रकार 'अंधेरे में' कविता का अंत तक सार्थक खोज की अनिवार्यता से होता है।

5.3 सारांश

मुक्तिबोध के अधिकांश समीक्षकों ने ''अंधेरे में'' कविता की व्याख्या करते हुए इसे परम अभिव्यक्ति की खोज, अपनी अस्मिता या सामाजिक अस्मिता की तलाश, अपने को साधारण जन में विलय करने

के मार्ग की तलाश आदि से ही अधिक सम्बद्ध करके देखा है। (इससे सम्बद्ध वाद-विवाद, खंडन-मंडन और ''अंधेरे में'' कविता की विस्तृत व्याख्या के लिए आप डॉ0 बच्चन सिंह द्वारा संपादित पुस्तक ''अंधेरे में : इतिहास, संरचना और संवेदना'' अवश्य देख लें। इसमें ग्यारह समीक्षकों द्वारा ''अंधेरे में'' कविता की व्याख्या संकलित है।) इस इकाई के आरंभ में प्रस्तावना के अंतर्गत इस तथ्य को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है कि मुक्तिबोध आत्म-संघर्ष और आत्म-साक्षात्कार के कवि हैं। लेकिन उनका यह संघर्ष और साक्षात्कार नयी कविता के अधिकांश कवियों की तरह केवल ''आत्म'' या ''स्व'' तक सीमित न होकर सामाजिक संघर्ष और जगत साक्षात्कार की ओर भी उन्मुख होता है। उनकी दृष्टि से यही आत्म-संघर्ष की सार्थकता भी है। ऊपर उद्धृत ''अंधेरे में'' कविता की अंतिम पंक्तियाँ :

(जहाँ मिल सके
मेरी वह खोयी हुई परम अभिव्यक्ति
आत्म संभवा'')

केवल सामान्य अभिव्यक्ति और अस्मिता की तलाश को ही संकेतित नहीं करती। एक सचेत और जागरूक कलाकार अपनी अस्मिता की तलाश या आत्म-साक्षात्कार अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों में ही नहीं, वरन उन अनुभूतियों के मूलों (स्रोतों) में भी करता है, जो समाज और संस्कृति की परंपरा में समायी रहती हैं। इसलिए काव्य-नायक के माध्यम से मुक्तिबोध बाह्य जगत का व्यापक निरीक्षण-परीक्षण करते हैं। प्रत्येक देश और उसकी राजनीतिक स्थिति-परिस्थिति का जायजा लेने के बाद ही वे अपनी अस्मिता का निर्धारण करते हैं, उसे विकसित और प्रशस्त करते हुए इस क्रम में वे स्वयं के ही नहीं, वरन दूसरों के स्वानुभूत आदर्शों, ''विवेक-प्रक्रिया और क्रियागत परिणामों'' पर भी विचार करते हैं। इस निष्ठापूर्ण और श्रमसाध्य कार्य के बाद ही आत्म-साक्षात्कार होता है, परम अभिव्यक्ति की प्राप्ति होती है। ''अंधेरे में'' कविता के आरंभ में परम अभिव्यक्ति को अपने परिपूर्ण के आविर्भाव, पूर्ण अवस्था, हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव, आत्मा की प्रतिभा आदि कह कर कवि ने परम अभिव्यक्ति के अभिप्राय के संबंध में किसी शंका का अवकाश नहीं छोड़ा है। लेकिन इन विशेषज्ञों से परम अभिव्यक्ति का अर्थगत ताल-मेल बिठाने में दिक्कतें भी आ सकती हैं। इस कविता में यदि अपनी अस्मिता को जनसाधारण में विलय करने का संबध यदि परम अभिव्यक्ति है तो इसे मुक्ति के साथ जोड़कर देखना अधिक प्रासंगिक होगा। मुक्तिबोध ने कई स्थलों पर बहुसंख्यक साधारण जनता के साथ अपने ''स्व'' के विलय को ही वास्तविक मुक्ति माना है। अत: परम अभिव्यक्ति, जो ''आत्मा की प्रतिभा'' भी है, को मुक्ति-कामना से जोड़कर देखना आवश्यक प्रतीत होता है। अपनी ''चकमक की चिनगारियाँ'' कविता में इस तथ्य की ओर अत्यन्त स्पष्ट संकेत मुक्तिबोध ने किया है :

''अरे कब तक रहोगे आप अपनी ओट
कहाँ मिल पाओगे उनसे कि जिनमें जन्म ले निकले
अरे, जन-संग ऊष्मा के बिना व्यक्तित्व के स्तर जुड़ नहीं सकते
तुम्हारी मुक्ति उनके प्रेम से होगी।
कि तद्गत लक्ष्य में से ही हृदय के नेत्र जागेंगे
व जीवन लक्ष्य उनके प्राप्त करने की क्रिया में से
उभर ऊपर
विकसते जाएँगे
निज के तुम्हारे गुण
कि अपनी मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते।''

अत: मुक्तिबोध की दृष्टि से यही व्यक्ति की ''पूर्ण अवस्था'' या ''परिपूर्ण का आविर्भाव'' है, जिसे यहाँ परम अभिव्यक्ति की संज्ञा उन्होंने दी है। ''अंधेरे में'' कविता का अध्ययन करते हुए आप देखेंगे कि इसमें आरंभ से अंत तक आत्म मुक्ति से लेकर विश्व की बहुसंख्यक शोषित-उत्पीड़ित जनता की मुक्ति का तीखा अहसास प्रकट हुआ है। ''चकमक की चिनगारियाँ'' कविता के उपर्युक्त उद्धरण में काव्य नायक ''मैं'' के समक्ष ''वह'' के रूप में अंतरात्मा या ''गुप्त मन'' का निर्देश प्रस्तुत हुआ है, जिसमें व्यक्तिबद्धता से उबरने, अपने ''स्व'' के दायरे को तोड़कर सर्वसाधारण के साथ एकमेक होने का आग्रह किया गया है। मुक्तिबोध ने अपनी मुक्ति के लिए जन मुक्ति की शर्त को अनिवार्य माना है। अपने जीवन लक्ष्यों को साधारण जनों के लक्ष्यों के साथ एकमेक करने में ही वे व्यक्ति मानव की सार्थकता मानते हैं। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है कि हर युग के मनुष्य में अपनी मुक्ति की कामना होती है। परम्परागत मुक्ति की अवधारणा के ऐतिहासिक महत्व को रेखांकित करते हुए पुराने जमाने में

अपने को सांसारिक मोहमाया से हटाकर परम सत्ता में लय हो जाने में ही मुक्ति मानी जाती था। आज के संदर्भ में वह परम सत्ता विश्व की बहुसंख्यक जनता ही है, जिसमें अपने को विलय करके ही मुक्ति का अनुभव किया जा सकता है। इस विलयन का मतलब जनता के उद्धार-उपायों में भागीदार बनना है।

यह गंभीर और कठिन कार्य अपने ''स्व'' के दायरे को तोड़े बिना, अपनी आत्मबद्धता से मुक्त हुए बिना संभव नहीं है। मुक्तिबोध ने इसे निर्वैयक्तिकता की संज्ञा दी है, जो तथाकथित नये कवि-चिन्तकों की भांति तटस्थता की परिचायक न होकर परम तल्लीनता की स्थिति है - आत्म पक्ष से तटस्थता और पर पक्ष से तल्लीनता की स्थिति। अत: निर्वैयक्तिकता उनके यहाँ सामाजिकता का प्रथम और अनिवार्य सोपान है। इस तथ्य को ''अंधेरे में'' कविता के अंतर्गत स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस निर्वैयक्तिकता की उपलब्धि के लिए काव्य-नायक को आरंभ में कठोर संघर्ष करना पड़ता है। उसकी निजबद्धता ''वह'' के संपर्क से टूटती है और उसी की प्रेरणा से काव्य नायक का व्यक्तित्वांतरण तथा जन के साथ एकीकरण होता है। इस एकीकरण के बाद जन क्रांति का अगला अध्याय शुरु होना है, अभी शुरु नहीं हुआ है। कारण अब भी पूँजीवादी शोषण की स्थितियाँ मौजूद है। सत्ता और उसके तंत्र का वही आतंक, क्रांतिकारी उभार का वैसा ही दमन, बुद्धिजीवी कलाकारों-चिंतकों की वही चुप्पी अब भी बरकरार है। अत: क्रांति की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए काव्य नायक ''परम अभिव्यक्ति'' अर्थात् सामान्य जन की संघर्षशील चेतना-शक्ति के अन्वेषण में भी लगा हुआ है। इस अन्वेषण की पूर्णता पर ही जन क्रांति की संभावना दृढ़ होगी।

अपनी अन्य कविताओं की भांति ही मुक्तिबोध ने ''अंधेरे में'' कविता में भी कोई उपसंहार या समाधान नहीं दिया है। वे क्रांति के महत्व और क्रांतिकारी परिस्थितियों से सिर्फ परिचित कराते हुए उसकी अनिवार्यता को ही रेखांकित करते हैं। इस क्रम में वे पूंजीवादी सत्ता के शोषण और आतंक से सर्व साधारण की मुक्ति के मानवीय आदर्श को अपने सम्मुख रखते हैं। इसके लिए वे आत्म विकास और अपने ज्ञानात्मक आधार को भी निरंतर विकसित करते रहने पर जोर देते हैं। इस ज्ञान के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि ''ज्ञान का अर्थ केवल वैज्ञानिक उपलब्धियों का बोध ही नहीं है, वरन् समाज की उत्थानशील तथा ह्रासोन्मुख शक्तियों का बोध भी है।'' बोध के इस स्तर पर पहुँच कर वे कवि-कलाकार के सम्मुख अपना आग्रह प्रस्तुत करते हैं, ''क्या लेखक के लिए यह परम आवश्यक नहीं है कि वह विश्व जनता के अभ्युत्थान को देखे और समाज का उत्पीड़न करने वाली शक्तियों से सचेत हो और उसके प्रति विद्रोह करने वाली ताकतों से सहानुभूति रखे।'' (एक साहित्यिक की डायरी, पृ0 132)

यह कार्य ''अंधेरे में'' कविता के अंतर्गत मुक्तिबोध ने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है। इस कविता में वे ''अपनी'' खोयी हुई जिस ''परम अभिव्यक्ति की तलाश'' की समस्या को सामने रखते हैं, वह जन साधारण की अपार परिवर्तकारी क्षमता की तलाश है, जिसके साथ अपनी अस्मिता का विलय करना उनका उद्देश्य है। इस संबंध में उन्होंने अपने ''नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध'' शीर्षक ग्रंथ में लिखा है कि ''आज एक ऐसे कवि-चरित्र की आवश्यकता है, जो मानवीय वास्तविकता का बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए सामान्य जनों के गुणों और उनके संघर्ष से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करे, उनके संचित जीवन-विवेक को स्वयं ग्रहण करे तथा उसे और अधिक निखार कर कलात्मक रूप से उन्हीं की चीज को उन्हें लौटा दे। सामान्य जनों की अपार आध्यात्मिक और बौद्धिक क्षमता में यदि हमारा विश्वास है, हमारी आस्था है तो हम अपने ही पिता के सच्चे पुत्र होंगे। अपने युग की विवेक-चेतना को मूर्तिमान करने का यह कार्य जितना गंभीर और कठिन है, उतना ही प्रेरणाप्रद है, क्योंकि उससे तो हम अपने ही जीवन के मूल-उत्सों के अमृत-रस का पान करेंगे और अपनी सृजनशील अनुभूति और कल्पना द्वारा उस जीवन की साहित्यिक-कलात्मक पुनर्रचना करेंगे कि जो जीवन अपने आलोक में इतना प्रिय है। कवि-चरित्र के विकास का हमारा यह संघर्ष, युग की विवेक-चेतना बनने का हमारा यह मौन प्रयास अपने आप में आध्यात्मिक महत्व रखता है, इससे कौन इनकार करेगा'' (पृ0 21)। कवि चरित्र के प्रति यह आग्रह-अनुरोध ही ''अंधेरे में'' कविता का केंद्रीय अनुरोध है। इससे यह भी स्पष्ट है कि ''वह'' के रूप में ''परम अभिव्यक्ति'' अंतरात्मा की पुकार है, जो जन जीवन को समझने, उसके साथ तन्मय करने और उसकी मुक्ति में ही अपनी मुक्ति तलाश करने का भव्य प्रयास है। ''अंधेरे में'' ही नहीं, उनकी अन्य कविताओं को भी उक्त दोनों उद्धरणों के प्रकाश में आप अच्छी तरह समझ सकते हैं।

5 .4 प्रश्न

1. ''अंधेरे में'' कविता की केंद्रीय विचारधारा को स्पष्ट करें।
2. ''अंधेरे में'' कविता की परम अभिव्यक्ति को ''मैं'' और ''वह'' के संदर्भ में स्पष्ट करें।
3. ''अंधरे में'' कविता में अंकित ''मृतदल की शोभा यात्रा'' अथवा ''प्रोसेशन'' के कथ्य का विवेचन'' विश्लेषण करें।
4. ''अंधेरे में'' कविता में दिए गए ''पागल के गीत'' के मूल आशय और अभिप्राय की विस्तृत व्याख्या करें।

इकाई 6 धूमिल

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 सुदामा पाण्डेय धूमिल : संक्षिप्त जीवन परिचय
6.3 धूमिल की आरंभिक कविताएँ और अकविता आंदोलन
6.4 धूमिल की कविता : बैलमुत्ती इबारत से लोहे के स्वाद तक
6.5 राजनीतिक चेतना और धूमिल की कविताएँ
6.6 ग्रामीण बोध और धूमिल की कविता
6.7 धूमिल की कविता में देश की तस्वीर
6.8 धूमिल का कविता संबंधी दृष्टिकोण
6.9 लम्बी कविता की परम्परा और 'पटकथा'
6.10 धूमिल की कविता का अभिव्यंजना कौशल
19.10.1 शब्द प्रयोग
19.10.2 सपाट बयानी
19.10.3 व्यंग्य
6.10 सारांश
6.11 प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- जान सकेंगे कि साठोत्तरी हिंदी कविता से क्या अभिप्राय है,
- यह भी जान सकेंगे कि सन् साठ के बाद कितने अल्पजीवी काव्यांदोलन हिंदी कविता में सामने आए। इन आदोंलनों में अकविता-आंदोलन से भी आपका परिचय होगा,
- जान सकेंगे कि साठोत्तरी हिंदी-कविता में धूमिल ने लोक-वेदना को अपनी कविता का विषय बनाया तथा अपनी कविता के द्वारा दूसरे प्रजातंत्र की स्थापना की अनिवार्यता को किस प्रकार रेखांकित किया,
- जान सकेंगे कि गंवई अनुभव और किसानी संस्कार के इस कवि की 'बैलमुत्ती इबारत' (पहली कविता) से 'लोहे के स्वाद' (अंतिम कविता) तक जीवन-दृष्टि में किस तरह का बदलाव आया,
- कवि के ग्रामीण बोध, व्यवस्था विरोधी स्वर तथा कविता संबंधी दृष्टिकोण को समझ पाएँगे,
- लम्बी कविता की परंपरा के संदर्भ में 'पटकथा' के महत्व को समझ सकेंगे, और
- अभिव्यंजना कौशल की दृष्टि से कवि के शब्द प्रयोग, व्यंग्य और सपाटबयानी के काव्यात्मक कौशल से परिचित हो सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व आप रघुवीर सहाय का दो इकाइयों में अध्ययन कर चुके हैं। उनकी सन् साठ के बाद सामने आने वाली कविताओं का अध्ययन करते समय आपने साठोत्तरी हिंदी-कविता से भी निश्चित रूप से परिचय प्राप्त किया होगा। वही साठोत्तरी कविता, जिसके बीज हमें साठ से भी पहले सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की कविताओं में मिलने लगते हैं। 'नये पत्ते', 'रानी और कानी', 'खजोहरा', 'चरखा चला', 'गर्म पकौड़ी', 'कुत्ता भौंकने लगा', 'झींगुर डर कर बोला', 'छलांग मारता चला गया', 'डिप्टी साहब आए' और 'मंहगू महंगा रहा' आदि कविताओं में हमें इसकी भनक मिलने लगती है। वास्तव में साठोत्तरी कविता ने नयी कविता की जड़ चित्रमयता को फाड़कर जो बीहड़ मगर सच्चा दृश्य उपस्थित किया उसके पीछे कहीं-न-कहीं निराला और मुक्तिबोध की चोट और अवमानना के रूप में सारी हिंदुस्तानी जनता की चोट और अवमानना उपस्थित है। यही कारण है कि साठ के बाद की कविता नवीन काव्याभिरुचि, नवीन सौंदर्यबोध तथा नये संवेदन की कविता है। वह मुख्यतः साधारण आदमी की पहचान और उस पहचान की तलाश की कविता है, इसीलिए वह अज्ञेय आदि कवियों की आत्मनिष्ठता और आत्मलीनता के बजाय मुक्तिबोध की समाजनिष्ठता और प्रतिबद्धता को अपने निकट पाती है।

सन् साठ से सत्तर तक समकालीन हिंदी-कविता का एक दौर निषेध, नकार, विद्रोह, आक्रोश एवं अस्वीकृति होता है। उस समय अनेक काव्यांदोलन उभर कर सामने आए जो भूखी पीढ़ी, शमशानी पीढ़ी, बीटनिक पीढ़ी, युयुत्सावादी कविता, सनातन सूर्योदयी कविता, अकविता आदि के नाम से उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश आंदोलन तो अल्पजीवी रहे किंतु अकविता आंदोलन ने कुछ समय तक अपना विशेष स्थान बनाया। इस आंदोलन के मुख्यतः दो पक्ष हैं। पहले पक्ष में मुख्यतः वे कविताएँ आती हैं, जिनमें वर्तमान परिवेश की विसंगति को उजागर करके उसके प्रति निषेध, नकार और अस्वीकृति के भाव को अभिव्यक्ति दी गई है। इस वर्ग में जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, सौमित्र मोहन, गंगाप्रसाद विमल आदि की रचनाएँ हैं। दूसरा पक्ष उन कवियों का है जिन्होंने काव्य-भाषा का प्रारंभ तो अकविता आंदोलन से किया था, किंतु कालांतर में लोहियावादी समाजवाद से प्रेरित होकर तत्कालीन व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह एवं आक्रोश को अपनी कविता का विषय बनाया। राजकमल चौधरी, रमेश गौड़, धूमिल आदि इसी वर्ग के कवि हैं। सन् 70 के बाद समकालीन कविता के अंतर्गत एक और नाम उछाला जाने लगा - विचार कविता। इस आंदोलन में विचार को बिम्ब में बदलने की प्रक्रिया से लेकर, सामाजिक सरोकारों से कविता को जोड़ने का प्रयत्न विद्यमान है। बलदेव वंशी, नरेन्द्र मोहन, विनय आदि इसी वर्ग के कवि हैं। इनके अतिरिक्त एक वर्ग उन कवियों का भी है जो विचार का अर्थ विचारधारा से लेते हैं तथा पूंजीवाद के विरूद्ध सर्वहारा की क्रांति की भूमिका तैयार करने में ही कविता का सार्थक उपयोग मानते हैं। इस वर्ग में मुक्तिबोध, नागार्जुन, त्रिलोचन, राजीव सक्सेना, कुमारेन्द्र, पारसनाथ सिंह, चन्द्रकांत देवताले, कुमार विकल, लीलाधर जगूड़ी आदि का नाम उल्लेखनीय है।

यहाँ संक्षेप में अकविता-आंदोलन की चर्चा करना भी उचित प्रतीत होता है, क्योंकि आगे हम जिस कवि की कविताओं का अध्ययन करेंगे उसकी आरंभिक कविताएँ अकविता की गिरिफ्त में रही हैं। 'अकविता' का आरंभ सन् 1963 में प्रकाशित 'प्रारंभ' संकलन से माना जाता है। अकविता आंदोलन साठोत्तरी कविता का सबसे चर्चित आंदोलन रहा है, जिसने बड़े साहस का परिचय देते हुए पहली बार पुराने मूल्य और सौंदर्य-बोध को अस्वीकृत करने का बीड़ा उठाया। कविता के वस्तु और शिल्प में नए-नए प्रयोग किए। निश्चय ही इनका दृष्टिकोण लोक से हटा हुआ था परंतु इन सबके बावजूद सेक्स का ऐसा ताना-बाना अकवियों ने बुन दिया कि उसकी चर्चा किए बिना अकविता में कुछ बचता नहीं है। इन्होंने औरत को एक शारीरिक संबंध माना जो भूख मिटाने के लिए आवश्यक है। यही इनका परिवर्तित सौंदर्यबोध तथा मूल्य था। अकवियों ने नये प्रतीकों और बिम्बों का सहारा लेकर अधिकतर अपनी कुण्ठाओं की ही अभिव्यक्ति की है जो उनके रूग्ण मन का उदाहरण प्रस्तुत करती है। इस अकविता के मोह-जाल से चन्द्रकांत देवताले और धूमिल जैसे कवि भी नहीं बच सके। धूमिल की 'अकविता' पत्रिका तथा सन् 1984 में प्रकाशित कविता-संग्रह के माध्यम से सामने आने वाली 'बीस मादा कविताओं' से ज्ञात होता है कि वह भी आरंभिक दिनों में अकवियों की तरह ही लिखते थे। यदि हम 'प्रारंभ' में प्रकाशित कविताओं को देखें तो ज्ञात होगा कि सभी कवियों में काफी समानताएँ हैं, किंतु उनमें कुछ कवि अकविता की कलागत व सौंदर्यशास्त्रीय सीमाओं का अतिक्रमण भी करते हैं। यही अतिक्रमण साठ के अंत तक अपना रूप परिवर्तित कर देता है। साठ के अंत और सत्तर के आरंभ के वर्षों में हिंदी-आलोचना 'अकविता' शब्द का प्रयोग बंद कर देती है और नयी रचनाओं को 'युवा लेखन' की संज्ञा देने लगती है। युवा लेखकों के बीच प्रखर सामाजिक चेतना व प्रतिबद्धता के कवि मुक्तिबोध की कविता व व्यक्तित्व की लोकप्रियता बढ़ने लगती है। कवि की रचनात्मकता का मानदण्ड जीवन हो जाता है और जीवन ही उसे दिशा प्रदान करता है। इसी बिंदु से धूमिल की कविता का आरंभ होता है। यह बात दूसरी है कि उनकी आरंभ की कुछ कविताओं में अकविता के तत्व देखने को मिलते हैं।

6 .2 सुदामा पाण्डेय धूमिल : संक्षिप्त जीवन-परिचय

साठोत्तरी हिंदी-कविता में धूमिल के नाम से जाने वाले कवि सुदामा पाण्डेय का जन्म जिला वाराणसी के सघन विकास क्षेत्र अराजी लाइन्स के अंतर्गत ग्राम खेवली के निवासी शिवनायक पाण्डेय के घर 9 नवम्बर 1936 को हुआ था। बचपन में 'सींकिया पहलवान' के नाम से प्रसिद्ध सुदामा पाण्डेय की आरंभिक शिक्षा बेसिक प्राइमरी पाठशाला, भतसार (खेवली से लगे हुए गाँव) में हुई। कक्षा चार उत्तीर्ण करने के उपरात सन् 1947 में मिडिल स्कूल हरहुआ, बाज़ार में पाँचवी कक्षा में प्रवेश ग्रहण किया। यहाँ से 1950 में मिडिल स्कूल की कक्षा में प्रविष्ट हुए। आठवीं कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करने के कारण नौवीं तथा दसवीं कक्षा में सुदामा पाण्डेय को छात्रवृत्ति मिलती रही। विन्देश्वरी पाण्डेय के पौत्र सुदामा

पाण्डेय ने इसी इंटर कॉलेज से हाईस्कूल की परीक्षा 1953 ई0 में संस्कृत में विशेष योग्यता के साथ द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की। बारह वर्ष की आयु में धूमिल का विवाह लालपुर वाराणसी निवासी पं0 नान्हक दीक्षित की कन्या मूरत देवी के साथ कर दिया गया। दसवीं कक्षा के बाद आगे की शिक्षा प्राप्त करने धूमिल बनारस के हरिश्चन्द्र क़ालेज में गये तो अवश्य किंतु आर्थिक अभावों के कारण शिक्षा बीच में ही छोड़ कर अपने मौसेरे भाई पं0 कृष्ण उपाध्याय के बुलाने पर कलकत्ता आजीविका की तलाश में निकल पड़े। दो-तीन वर्ष कलकत्ता में भटकने के उपरांत धूमिल चार सौ पचास रूपये मासिक वेतन की नौकरी छोड़ कर वाराणसी लौट आए। सन् 1958 में आई.टी.आई. वाराणसी से विद्युत डिप्लोमा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर इसी विभाग में 12 जून 1958 ई0 को विद्युत अनुदेशक के पद पर नियुक्त कर दिए गए। सातवीं कक्षा से जो तुकबंदी करना सीखा था, उसने अब तक गीतों का रूप धारण कर लिया। चार वर्ष तक बनारस रहने के उपरांत उनका स्थानांतरण बलिया हो गया। सन् 1960 में सहारनपुर और 1968 में पुनः बनारस। धूमिल बनारस नहीं छोड़ना चाहते थे। एक तो इसलिए कि गाँव में चकबंदी चल रही थी तथा दूसरे नौकरी के साथ ही साथ वाराणसी में रहकर, परिवार के सभी सदस्यों की देखभाल करना तथा पड़ोसियों द्वारा चलाए गए मुकद्दमों को संभालना भी उन्हीं के जिम्मे था। किंतु धूमिल के न चाहने के बावजूद भी जून 1974 में सुपरवाइजर के पद पर पदोन्नत करके धूमिल का स्थानांतरण सीतापुर कर दिया गया। बनारस में धूमिल सबसे पहले प्रसिद्ध चित्रकार रामचन्द्र शुक्ल और कथाकार शिवप्रसाद सिंह के संपर्क में आए। इनके माध्यम से बाद में मार्क्सवादी समीक्षक डॉ0 नामवर सिंह और उनके अनुज युवा कहानीकार डॉ0 काशीनाथ सिंह से घनिष्ठ रूप में जुड़े। डॉ0 नामवर सिंह ने धूमिल के व्यक्तित्व को मांजा, त्रिलोचन ने उनमें भाषिक समझदारी पैदा की और काशीनाथ सिंह ने उनको नए अंतरिक्षों से जोड़ा। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी और पं0 विद्यानिवास मिश्र जैसे चिंतकों के बीच उन्होंने साहित्य के नये काव्य-मूल्यों तथा आयामों को गंभीरता से समझने का प्रयास किया। बार-बार के स्थानांतरण के कारण धूमिल नौकरी छोड़ने तथा स्वतंत्र रूप से साहित्य-सेवा करने की बात करने लगे थे। सीतापुर में धूमिल को सिरदर्द होने लगा था। जब पीड़ा असहनीय हो गई तो वह बनारस लौटकर 18 अक्तूबर, 1974 को बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के मेडिकल कॉलेज में दाखिल हो गए। यहाँ जाँच के बाद ज्ञात हुआ कि धूमिल को ब्रेन-ट्यूमर हो गया है। डॉक्टरों की राय से धूमिल को 1 नवम्बर, 1974 के.जी. मेडिकल कॉलेज लखनऊ में भर्ती किया गया। जहाँ मस्तिष्क आपरेशन के बाद 10 फरवरी 1975 को रात नौ बजकर पचास मिनट पर उनकी मृत्यु हो गई।

6 .3 धूमिल की आरंभिक कविताएँ और अकविता-आंदोलन

धूमिल के तीन कविता-संग्रह सामने आए हैं - 'संसद से सड़क तक', 'कल सुनना मुझे' तथा 'सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र'। इनमें पहला कविता संग्रह 'संसद से सड़क तक' उनके जीवन काल में प्रकाशित हुआ था तथा बाद के दो संग्रह मरणोपरांत प्रकाशित हुए। इन पुस्तकों के माध्यम से धूमिल की एक सौ बाईस कविताएँ सामने आई हैं। इन कविताओं में आने वाले कुछ यौन-प्रतीकों तथा 'मूतना', 'गर्भ' 'गद्‌गद् औरत', 'मासिक धर्म', 'गर्भपात', 'वीर्यपात', 'नेकर का नाड़ा', 'लड़कियों के स्तन', 'औरत की लालची जांघ', 'उबासियों में उंघते नितम्ब' तथा 'भूखे गर्भाशय' जैसे शब्द-प्रयोगों के आधार पर उनकी कविताओं को कुछ आलोचक अकवियों की रचनाओं से प्रभावित मानते हुए उनकी आरंभिक कविताओं को अकविता-आंदोलन के साथ जोड़ने के पक्ष में हैं।

वास्तव में इस बात का कहीं कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि धूमिल ने स्वयं कहीं अकविता आंदोलन से जुड़ने की बात कही हो। यह तथ्य 25 नवम्बर 1967 को सहारनपुर से विनोद भारद्वाज के नाम लिखे धूमिल के पत्र से और भी स्पष्ट हो जाता है जहाँ कवि लिखता है : 'अकविता-7' में मेरी एक कविता 'शांतिपाठ' छप गई है और तुम तो जानते हो कि अकविता मेरे लिए कोई आंदोलन नहीं सिर्फ एक छोटी कविता है। 'नयी धारा' में मेरी एक कविता 'मकान' छपी है। पढ़कर राय देना। ... 'आलोचना' में एक काफी लम्बी कविता छप रही है।' वर्ष 1967 धूमिल के लिए एक ऐसा वर्ष कहा जा सकता है, जिस समय वह 'कुत्ता', 'एक बूढ़ा मैं', 'शांतिपाठ', 'कविता' (संसद से सड़क तक संग्रह की प्रथम कविता), 'शहर का व्याकरण' और 'मोचीराम' जैसी कविताएँ एक साथ लिख रहे थे। किंतु 'कविता' कविता की अपेक्षा 'मोचीराम' जैसी कविता के प्रति छपवाने का आकर्षण इस बात की ओर भी संकेत करता है कि धूमिल 'कविता' के स्थान पर (जिसमें 'हर लड़की तीसरे गर्भपात के बाद धर्मशाला हो जाती है', जैसी बात आई है) 'मोचीराम' को अधिक महत्व देते हैं।

धूमिल वास्तव में ऐसा कवि था जिसने विभिन्न काव्यान्दोलनों को चुनौती देकर अपना अलग व्यक्तित्व बनाये रखा। काशीनाथ सिंह का यह कहना बहुत सही है कि धूमिल के आने तक आलोचना का मुंह कहानी की ओर था। वह आया और उसने आलोचना का मुँह कविता की ओर कर दिया। अकेले आलोचक ही नहीं, कवि भी घूम गए। फिर भी कुछ आलोचकों ने शब्द-प्रयोगों के आधार पर धूमिल को अकवितावादियों से जोड़ कर कवि की सामाजिक चेतना पर प्रश्न-चिह्न लगाया है। उनमें से एक आलोचक ने तो यहाँ तक कह दिया 'राजकमल चौधरी तथा अन्य अकवितावादियों के प्रभाव से धूमिल ने कहीं-कहीं नारी को नग्न करने का प्रयास किया है। धूमिल पर राजकमल चौधरी और कलकत्ता की 'भूखी पीढ़ी' के कवियों का प्रभाव है। कोई मार्क्सवादी दृष्टि का कवि, किसी प्राकृतिक मनःस्थिति में नारी के विषय में उद्धत भी हो सकता है किंतु मार्क्सवाद और क्रांति का बोध नारी को नग्न कर, उसके प्रति औद्धत्य का समर्थन नहीं सिखा सकता, क्योंकि क्रांतिकारी नारी को साथी मानते हैं, मात्र 'औरत' नहीं।' यह बात धूमिल की 'राजकमल चौधरी के लिए' कविता के संदर्भ में कही गई है, तथा अकवितावादियों के प्रभाव को सिद्ध करने के लिए उन्होंने इसी कविता से विभिन्न उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। जैसे 'औरत योनि की सफलता के बाद/गंगा का गीत गा रही है।' तथा 'मासिक धर्म रूकते ही सुहागिन औरतें/सोहर की पंक्तियों का रस/(चमड़े की निर्मनता को गीला करने के लिए)। नये सिरे से सोखने लगती हैं। जांघों में बढ़ती हुई लालच से / भविष्य के रंगीन सपनों को / जोखने लगती हैं। इस तरह के अनुच्छेदांशों को उद्धृत करते हुए धूमिल की कविता पर अकवितावादियों का प्रभाव सिद्ध करना तथा उनकी सामाजिक चेतना पर प्रश्न-चिह्न लगाना उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि यदि हम 'सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र' कविता-संग्रह की कविताओं को देखें तो ज्ञात होगा कि धूमिल औरत को 'हम बिस्तर' नहीं 'हम सफर' मानते हुए उसका पूरा सम्मान करते हुए पुरुष के बराबर का दर्जा देता है। 'घर में वापसी' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं- 'पत्नी की आँखें, आँखें नहीं/ हाथ हैं, जो मुझे थामे हुए हैं।' धूमिल औरत के विरोधी नहीं औसत औरत की जड़ता के विरोधी हैं और इसी जड़ता को तोड़ने के लिए वह कुमारी रोशन आरा बेगम की स्मृति में लिखी कविता में लिखते हैं - 'ओ प्यारी भाभियों। ओ नटखट बहिनो। सिंगारदान को छुट्‌टी दे दो/ आईने से कहो वह कुछ देर अपना अकेलापन घूरता रहे/ कंघी को झड़े हुए बालों की याद में गुनगुनाने दो/ यह चोटी करने का वक्त नहीं और न बाज़ार का?/ बालों को ऐंठ कर जूड़ा बांध लो/ और सब-के-सब मेरे पास आ जाओ/ देखो, मै एक नयी और ताज़ा खबर के साथ/ घर की दहलीज पर खड़ा हूँ।'

धूमिल की आरंभिक कविताओं पर विचार करते समय एक बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि सेक्स संबंधी वर्जित शब्दों का प्रयोग धूमिल ने अकविता के कवियों से भिन्न संदर्भ और भिन्न ढंग से किया है। धूमिल वास्तव में गंवई अनुभव और किसानी संस्कार का कवि है। उसने इस दुनिया को एक किसान की आँख से देखा है। यह किसानी संस्कार धूमिल की प्रथम कविता से लेकर अंतिम कविता तक स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। यही कारण है कि डॉ0 काशीनाथ सिंह लिखते हैं, 'वह गिन्सबर्ग को नापसंद करता था लेकिन 'कदिश' और 'हाउल' उसे अच्छी लगती थीं, वह राजकमल के बारे में बात नहीं करता था, लेकिन उसकी मृत्यु पर मर्सिया लिखता था, वह येव्तुशेंकों और मायकोव्सकी की तारीफ करता था लेकिन कभी-कभी आस्कर वाइल्ड भी उसे अच्छा लगता था।' इस तरह देखें तो धूमिल में एक अंतर्विरोध देखने को मिलता है। इस बात को तो पूरी तरह से नहीं स्वीकार किया जा सकता कि धूमिल अकविता-आंदोलन के साथ सम्बद्ध थे, किंतु इस बात का पता गोविन्द उपाध्याय के संस्मरण से अवश्य चलता है कि धूमिल को राजकमल चौधरी के कविता-संग्रह के साथ कुछ ममता सी थी। कभी-कभी अपने बनारस प्रवास के दौरान (सन् 1962-63 में एलेन गिंसबर्ग बनारस आया था) गिंसबर्ग धूमिल को अपनी कविताएँ सुनाया करते थे। बहुत संभव है गिंसबर्ग और राजकमल चौधरी जैसे कवियों की मित्रता के परिणाम स्वरूप धूमिल की कविता में कुछ सुरुचिभंजक शब्द आए हों। लेकिन भूखी पीढ़ी का 'प्रचार मूल्य' और 'अर्थहीनता' तथा 'नकारवाद' का जीवन-दर्शन धूमिल को पूरी तरह से अपनी लपेट में ले लेता, इसके पहले ही डॉ0 नामवर सिंह का परिचय धूमिल को मार्क्सवाद की ओर ले गया। उनकी रुचि मार्क्सवाद में तो नहीं, मार्क्सवादी साहित्य में बढ़ी-खास तौर से हिंदी की प्रगतिशील कविता और कविता की प्रगतिशील समीक्षा में।

6 .4 धूमिल की कविता : बैलमुती इबारत से लोहे के स्वाद तक

जिन दिनों 'जनयुग', 'आलोचना', 'आरंभ', 'अकथ', 'कल्पना', 'नयी धारा' और 'आमुख' पत्रिकाओं के माध्यम से धूमिल की कविताएँ सामने आईं उन दिनों आलोचकों को हिंदी-कविता में एक नयी गति दिखाई दी। धूमिल की कविता की ओर आकर्षित होने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि उन्होंने

साठोत्तरी काव्य में एक नये ढंग की अभिव्यक्ति को आविष्कृत किया और इसके साथ ही ठोस जीवन-संदर्भों तथा राजनीति को अनुभव का विषय बनाकर अपने समकालीनों में एकदम तथा पाठकीय संवेदना को झकझोर देने वाले मुहावरों का प्रयोग किया। नयी कविता के पतझड़ में कथ्य और अभिव्यक्ति का ये हरापन साठोत्तरी कविता का नया जन्म था।

सन् 1966 की बिहार और उड़ीसा की भुखमरी तथा अकाल की घटना, 1967 का भाषा-आंदोलन तथा आम चुनाव, 1968 में होने वाला धूमिल का स्थानांतरण, नक्सलबाड़ी का आंदोलन और इन सबके बीच गाँव-बिरादरी, पंचायत तथा ज़मीन के झगड़ों के सिलसिले में कचहरी की दौड़ धूप आदि ऐसे अनुभव हैं, जिनमें धूमिल के कवि का विकास होता रहा है। यही कारण है कि बैलमुत्ती इबारतों से चलने वाला कवि लोहे के स्वाद की ओर अग्रसर होता है।

सन् 1964 के दौरान धूमिल ने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि कविता का खास विषय होना चाहिए और इसके लिए अनेक पेशेवर लोगों से अच्छा विषय क्या हो सकता है। इसी दौर में उन्होंने 'मोचीराम' कविता की रचना की, जो नाटकीय कौशल, तीखे व्यंग्य, गहन चिंतन तथा सजीव ज्वलन्त बिम्ब की दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावशाली कविता कही जा सकती है। अर्थतत्व की दृष्टि से कहा जा सकता है कि वर्ग-दृष्टि सम्पन्न लेखक ही ऐसी कविता की रचना कर सकता है। सन् 1966 में बिहार और उड़ीसा में जो भीषण अकाल पड़ा उसी का उल्लेख धूमिल ने 'अकाल दर्शन' शीर्षक कविता में किया है। कवि देखता है कि लोग अकाल में बिलबिला रहे हैं, पत्ते और छाल खा रहे हैं तथा मर रहे हैं। कुछ लोग दान कर रहे हैं। जलसों-जुलूसों में भीड़ की पूरी ईमानदारी से हिस्सा ले रहे हैं और अकाल को सोहर की तरह गा रहे हैं। झुलसे हुए चेहरों पर कोई चेतावनी नहीं है। कवि की दृष्टि से यह देश एक ऐसा जंगल है, जिसमें भेड़ियों का राज है। भेड़िये भेड़ों को खा रहे हैं किंतु मज़े की बात यह है कि जिनका आधे से ज्यादा शरीर भेड़ियों ने खा लिया है वे इस जंगल की सराहना करते हैं कि भारतवर्ष नदियों का देश है। यद्यपि यह दूसरी बात है कि इस बार उनको पानी ने मारा है।

संपूर्ण उत्तरी भारत में, विशेषकर उत्तर प्रदेश में 1967 में भाषा आंदोलन हुआ। कम्युनिस्ट दलों को छोड़कर सभी ने उसका समर्थन किया था। धूमिल ने अपनी कविता 'भाषा की रात' में यही दृष्टिकोण स्वीकार किया है - 'चन्द चालाक लोगों ने/ बहस के लिए/ भूख की जगह/ भाषा को रख दिया है।' 'भाषा की रात' कविता में धूमिल का कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि भाषा को ठीक करने से पहले आदमी को ठीक करना जरूरी है - 'भाषा उस तिकड़मी दरिन्दे का कौर है/ जो सड़क पर और है/ संसद में और है/ इसलिए बाहर आ!/ सड़क के अंधेरे से निकलकर/ सड़क पर आ/ भाषा ठीक करने से पहले आदमी को ठीक कर/ आ अपने चौदहों मुखों से/ बोलता हुआ आ।'

'संसद से सड़क तक' संग्रह में संगृहीत 'नक्सलबाड़ी' शीर्षक कविता इस बात का उदाहरण है कि नक्सलबाड़ी आंदोलन ने भी धूमिल को भीतर तक आंदोलित किया था। यह कविता वर्णनात्मक न होकर सांकेतिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि इस वामपंथी उग्र उभार की असफलता के कारण क्षुब्ध है। उसे इस बात का क्षोभ है कि लोग दक्षिणपंथियों की तरफ हैं और वामपंथ का साथ नहीं दे रहे हैं। इस कविता में कवि अनेक प्रश्न करता हुआ सत्य उद्घाटित करना चाहता है। वह दूसरे किसी प्रजातंत्र को ढूँढने का उपक्रम करता है। 'पतझड़' शीर्षक कविता में कवि देश में फैली हुई बेकारी पर गहरी चोट करता है तो 'बीस साल बाद' शीर्षक कविता में धूमिल का कवि साफ-साफ शब्दों में एक प्रश्न पूछता है - 'क्या आज़ादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है/ जिन्हें एक पहिया ढोता है/ या इसका कोई खास मतलब होता है।' 'पटकथा' धूमिल की सर्वाधिक चर्चित तथा लम्बी कविता है जिसकी चर्चा के बिना धूमिल के काव्यात्मक विकास की चर्चा अधूरी प्रतीत होती है, किंतु इस कविता की चर्चा लम्बी कविता की परंपरा के संदर्भ में बाद में की जाएगी। इससे पूर्व 'कल सुनना मुझे' तथा 'सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र' पुस्तकों में से कुछ चर्चित कविताओं की चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता है। इन कविताओं में हम सबसे पहले धूमिल की छोटी किंतु एक बड़ा प्रश्न रखने वाली कविता 'रोटी और संसद' पर विचार करेंगे।

'रोटी और संसद' धूमिल की एक छोटी कविता है किंतु यह हमारे सामने एक बड़ा और महत्वपूर्ण प्रश्न उठाती है। धूमिल का कहना है कि इस देश में एक आदमी रोटी बेलता है, एक आदमी रोटी खाता है। एक तीसरा आदमी भी है जो केवल रोटी से खेलता है। इस तीसरे आदमी को दण्डित करना होगा। यदि हम धूमिल के सम्पूर्ण कृतित्व के संदर्भ में इस प्रश्न पर विचार करें तो हमारे सामने कुछ और प्रश्न भी उठते हैं। एक तो यह कि क्या धूमिल की कविता इस तीसरे आदमी को दण्डित करा सकी? दूसरा यह कि क्या तीसरे आदमी ने रोटी से खेलना बंद किया? स्पष्ट है ऐसा कुछ नहीं हुआ, किंतु इतना

निश्चित है कि जागरूक निगाहों की एक बढ़ती फौज उस तीसरे आदमी को लगातार घूरे जा रही है और निगाहों की फौज बढ़ती जा रही है। इसी को धूमिल की कविता की सबसे बड़ी उपलब्धि कहा जा सकता है।

धूमिल का काव्य उनके समकालीन परिवेश का ऐसा ऐक्सरे है जहाँ एक ओर अभावग्रस्त ज़िंदगी के मर्मस्पर्शी अक्स हैं, वहाँ दूसरी ओर समाज की स्थिति, गतिहीनता, जर्जरता, विकृतियों और विडम्बनाओं को बखूबी समझा जा सकता है। 'किस्सा जनतंत्र' कविता को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। यह एक साधारण परिवार के अभावग्रस्त जीवन की सुंदर एवं सशक्त अभिव्यक्ति है।
धूमिल के कवि-कर्म के विकास-क्रम के संदर्भ में गोविन्द उपाध्याय लिखते हैं कि सन् 1970 के करीब धूमिल में काफी परिवर्तन आने लगा था। उन्हें ऐसी धुन सवार हो गयी कि दुनिया को बदल देना है। इस जमाने में उनकी निर्भीकता तथा आक्रोश लगता था कि प्रमाद की सरहद को छूता है।.... इसी दौर में उन्होंने 'कविता श्रीकाकुलम' की रचना की थी। इन दिनों वह हिटलर, मुसोलनी, स्तालिन, लेनिन आदि के बारे में विशद चर्चा करते थे। ऐसे समय में कवि को विश्वास होता है कि सिर्फ बैठे रहने मात्र से स्थिति नहीं बदल सकती। उस स्थिति को बदलने के लिए संघर्ष अनिवार्य है। हो सकता है कि वह संघर्ष आम आदमी के टुकड़े-टुकड़े करके उसे बिखेर दे। धूमिल 'आतिश के अनार-सी वह लड़की' में यह मानता है कि संघर्ष की स्थिति को झेले बिना इस बीमार व्यवस्था से मुक्ति नहीं मिल सकती - 'कल तू जहाँ आतिश के अनार की तरह फूट कर/ बिखर गई है ठीक वहीं से हम/ आज़ादी की वर्ष गांठ का जश्न शुरू करते हैं।'

धूमिल की चेतना का क्रमिक विकास 'सिलसिला', 'हत्यारे' तथा 'लोहसांय' जैसी कविताओं में देखने को मिलता है। 'सिलसिला' कविता आंदोलन आरंभ होने की सूचना से शुरू होती है, जहाँ कवि स्पष्ट शब्दों में घोषणा करता है - 'हवा गरम है/ और धमाका एक हल्की सी रगड़ का/ इंतज़ार कर रहा है।' कवि का विश्वास है कि अब जंगल नहीं सूखेगा। पूर्ण क्रांति भले ही न हो सके पर अपनत्व की प्राप्ति अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसे कवि ने दरवाजे तथा मेज के माध्यम से व्यक्त किया है। वह कविता की शुरूआत तख्ता पलटने के सिलसिले से करता है तथा हरियाली पर हमला करने की प्रेरणा देता है। इतना ही नहीं कवि कहता है - 'जड़ों से कहो कि अंधेरे में/ बेहिसाब दौड़ने के बजाय/ पेड़ों की तरफदारी के लिए/ ज़मीन से बाहर निकल पड़ें/ बिना इस डर के कि जंगल/ सूख जाएगा।' कवि ऐसी क्रांति एवं आंदोलन की सीमा से भी परिचित है, फिर भी इसके लिए लोगों में स्फूर्ति-चेतना का आह्वान करता है - 'यह सही है कि नारों को/ नयी शाख नहीं मिलेगी/ और न आरा मशीन को/ नींद की फुरसत/ लेकिन यह तुम्हारे हक में है/ इससे इतना तो होगा ही/ कि रूखानी की मामूली सी गवाही पर/ तुम दरवाजे को अपना दरवाजा/ और मेज को/ अपनी मेज कह सकोगे।'

व्यक्ति को यह व्यवस्था किस प्रकार तोड़ रही है, किस प्रकार उसका व्यक्तित्व चूर-चूर हुआ जा रहा है, इसकी तीव्र अनुभूति कवि को होती है और वह तनावग्रस्त हो क्रुद्ध हो जाता है। कवि यह बात भी अच्छी तरह जानता है कि हम हर क्षण इस बीमार व्यवस्था की मजबूत जकड़ में गिरिफ्तार हैं। 'हत्यारे' शीर्षक कविता में कवि कहता है - 'वे तुम्हारी बातों में शामिल हैं। हर वक्त वे तुम्हारा पीछा कर रहे हैं। चाहे घर में तुम उनके बारे में/ बतिया रहे हो।' कवि यह भी स्पष्ट करता है कि उनके बारे में बतियाना हमारी आदत बन गई है। वे सही में, डाकखाने में पत्र लिखते हुए, पत्नी को चूमते हुए, बच्चों को स्कूल छोड़ते हुए हर वक्त हमारा पीछा करते हैं। ऐसी स्थिति में हमें क्या तय करना होगा इसी - ओर धूमिल 'हत्यारे (दो)' शीर्षक कविता में इशारा करते हैं - ' हत्यारों ने फेंक दिए हैं/ सारे शब्द और विचार/ उन्होंने हथियार उठा लिए हैं इस वक्त/ इस वक्त तुम्हें तय करना है कि तुम/ क्या करोगे।'
हमें क्या करना चाहिए? इसके संबंध में भी धूमिल का कवि चुपचाप, खामोश बैठा नहीं दिखाई देता अपितु 'वापसी' शीर्षक कविता में इसका साफ-साफ उत्तर रोटी के संघर्ष में दौड़-धूप के पश्चात घर लौटे आदमी के मुँह से इन शब्दों में दिलवाया है - 'चूल्हे का कोयला और पतीली की दाल/ बुदबुदाते हैं रोटी का क्या हुआ/ औरत आंचल ठीक करती है। एक कनफटी कमीज़/ खूंटी पर झूलती है दौड़ धूप के बाद/ बेहताशा लौट आदमी का मुँह/ धोती है बाल्टी। चौका बुलाता है/ 'ओह!आह!! अच्छे बच्चे रोते नहीं।'... पिता का दिल मर्द की तरह टूटता है/ और चूल्हे की आग/ उसकी आँखों में जलने लगती है। हे भाई हे! अगर चाहते हो/ कि हवा का रूख बदले/ तो एक काम करो/ हे भाई हे!!/ संसद जाम करने से बेहतर है/ सड़क जाम करो।' इस पूरी कविता के बीच में से गुज़र कर लगता है कि ढढ्ढा साइकिल पर रोटी की जुस्तजू में निकला 'किस्सा जनतंत्र' का व्यक्ति घर लौट कर 'वापसी' कविता में इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यदि हम चाहते हैं कि हवा का रूख बदले तो इसके लिए संसद जाम करने के स्थान पर सड़क को जाम करना बेहतर है। इस प्रकार की पंक्तियाँ धूमिल की परिवर्तित

मानिसकता तथा दृष्टि विकास की ओर भी संकेत करती हैं। कवि की 'लोहसायं' कविता को भी इसी संदर्भ में देखना होगा। इस कविता में धूमिल का 'टेकू बनिहार' धूमिल के लोहार कवि को चेताता है - 'हंसुये पर ताव जरी ठीक तरह देना/ कि धार मुड़े नहीं आजकल/ छिनार निहाई ने/ लोहे को मन-माफिक हनने के लिए/ हथौड़े से दोस्ती की है।'

धूमिल अपने परिवेश से पूरी तरह जुड़े हुए कवि हैं। अपने समूचे परिवेश में धूमिल यथार्थ की ठोस धरती पर खड़े रहे हैं। उनकी कविता उस संत्रस्त-प्रपीड़ित मानव का दर्द मुखरित करती है जो टूटता हुआ, घुटता हुआ जीने की यंत्रणा को वहन करता है। धूमिल की अंतिम कविता से यह बात और भी सिद्ध हो जाती है कि मनोरंजन कविता का उद्देश्य नहीं, उसका एक मात्र उद्देश्य आज के आदमी की व्यथा कथा कहना है - 'शब्द किस तरह/ कविता बनते हैं/ इसे देखो/ अक्षरों के बीच गिरे हुए / आदमी को पढ़ो/ क्या तुमने सुना कि यह/ लोहे की आवाज़ है या/ मिट्टी में गिरे हुए खून का रंग/ लोहे का स्वाद/ लोहार से मत पूछो/ उस घोड़े से पूछो/ जिसके मुँह में लगाम है।'

धूमिल की इस अंतिम कविता को पढ़कर कविता का प्रत्येक पाठक यही कह सकता है कि कवि की वेदना रोमानी वेदना नहीं। उनकी कविताओं से मिलने वाला दर्द किसी प्रेम-पात्र के स्मरण में, कसक के रूप में उत्पन्न नहीं होता और न ही यह पश्चाताप या आत्मपरिमार्जन की वेदना है जो अपराध भाव से पीड़ित लोगों में होती है। इसे तो वास्तव में लोक-वेदना कहना चाहिए, क्योंकि उसकी प्रकृति सामुदायिक है, वैयक्तिक नहीं।

6.5 राजनीतिक चेतना और धूमिल की कविताएँ

रघुवीर सहाय की कविताओं के संबंध में जो बात कही गई है उसे धूमिल की कविताओं पर पूरी तरह लागू किया जा सकता है कि धूमिल की कविताओं को पढ़ने से ऐसा अहसास होता है कि हिंदी-कविता यहाँ पहली बार संसद में प्रवेश करती है, विरोध के द्वार से। साठोत्तरी कवियों में धूमिल पहला ऐसा कवि है जिसने 'अकविता' से काव्य-यात्रा आरंभ करके ऐसी अभिव्यक्ति को तलाशा कि ठोस जीवन-संदर्भों और राजनीति को अनुभव का विषय बनाकर अपने समकालीनों में सबसे अधिक रखे और पाठकीय संवेदना को झकझोर देने वाले मुहावरे प्रयोग किए। यही कारण है कि धूमिल की तमाम कविताओं को सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं का ऐसा लम्बा काव्यात्मक नाटक कहा जा सकता है, जिसमें राजनीतिक चेतना से सम्पन्न गीत भरे पड़े हैं। यहाँ एक बात का स्पष्ट उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि धूमिल की वैचारिक प्रतिबद्धता को मार्क्सवादी नहीं कहा जा सकता। डॉ0 कृष्णदत्त पालीवाल का कहना है कि लोहियावादी विचारधारा का बहुलांश उनमें अनजाने ही प्रतिफलित हुआ है। लोहिया भूख, कीचड़, जंगल, दंगल तथा गैर बराबरी को लेकर चिंतित रहे हैं। उनके चिंतन ने युवा मानस को भीतर से झकझोरा भी है। नये लेखन में यह चिंतन अनेक छवियों, मुद्राओं, संकेतों, प्रतीकों आदि से व्यक्त हुआ है। चिंतन की यही भारतीय परंपरा धूमिल में तेज़ धार बनकर कहती है - 'कल, सुनना मुझे/ आज मैं लड़ रहा हूँ।' यह लड़ाई गैर बराबरी तथा सड़ांध भरी व्यवस्था से है। डॉ0 नंदकिशोर नवल जैसे आलोचक धूमिल के विचारों को रघुवीर सहाय के हाथ जोड़कर धूमिल की राजनीतिक समझ पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए लिखते हैं, 'धूमिल, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह और वेणुगोपाल मार्क्सवादी समझे जाने वाले कवि हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि इनमें से किसी ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से राजनीति को समझने की कोशिश नहीं की है। ऐसी स्थिति में यह आश्चर्यजनक नहीं कि धूमिल के विचार भी वही हैं जो रघुवीर सहाय के।' इसी को स्पष्ट करते हुए वह आगे लिखते हैं - धूमिल के लिए अपने देश की आज़ादी का कोई अर्थ नहीं। आज़ादी का वे एक ही अर्थ समझते हैं - समाजवाद। अपने देश में समाजवाद की स्थिति देखकर वे पूरी तरह से निराश हो जाते हैं।... धूमिल का यह भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण उन्हें गैर मार्क्सवादी कवियों की निराशा और अनिश्चय तक ले जाता है।'
यह ठीक है कि धूमिल ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर राजनीति को समझने की कोशिश न की हो। किंतु धूमिल सही अर्थों में सामाजिक-राजनीतिक चेतना के कवि हैं। उनकी सभी कविताएँ किसी न किसी स्तर पर संसद और सड़क से जुड़ी हुई हैं। डॉ0 विश्वनाथ प्रसार तिवारी का यह कहना बहुत सही है कि धूमिल की कविता सच्चे अर्थों में सड़क और संसद अर्थात् जनता और जनतंत्र की कविता है। उनकी कविता की सारी शब्दावली सामाजिक और राजनीतिक संसार की शब्दावली है। वे सही अर्थों में सामाजिक राजनीतिक चेतना के कवि हैं। धूमिल की कविता में जिन शब्दों का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है, वे हैं - जनतंत्र, संसद, जनता, आदमी, जंगल, व्याकरण, भाषा, कविता और जांघ। इन शब्दों का बार-बार प्रयोग उनकी कविता की मानसिकता को प्रकट करता है। 'जनतंत्र' और 'संसद' जैसे

शब्दों का अधिक प्रयोग धूमिल की कविता की राजनीतिक चेतना और उसकी राजनीतिक जागरूकता को व्यक्त करता है। आज़ादी, जनतंत्र, संसद पर व्यंग्य करते चले जाना धूमिल की कविता की विशेषता है।

धूमिल की सभी कविताओं में समकालीन भारतीय राजनीति से साक्षात्कार की कोशिश मिलती है। पिछले दशकों में कविता और राजनीति के संबंधों को लेकर काफी बहसें हुई हैं और माना गया है कि आज की प्रतिबद्ध कविता अपने समय की राजनीति से सरोकार रखती है। इस संदर्भ में रघुवीर सहाय की कविता विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो पिछले दशकों की कविताओं में सबसे अधिक राजनीतिक समझ लिए हुए है। धूमिल की कविता भी अपने समय की राजनीति और उसके चरित्र को व्यक्त करने की कोशिश करती है। 'जलता जनतंत्र', 'गांधी के तीन बंदर', 'रोजगार दफ्तर', 'मेकमोहन रेखा', 'बजट का अंधेरा', 'विदेशी मुद्रा', 'नगर पिता', 'शहर कोतवाल', 'वित्तमंत्री', 'विपक्षी नेता', 'वारंट के साथ आया अमीन', 'पंचवर्षीय योजनाएँ', 'अणुबम के मसौदे' , 'लाल हरी झण्डियाँ', 'नारे', 'फाइलें', 'मंत्रियों की कुर्सियाँ', 'चुनाव के इश्तिहार', 'संविधान की धाराएँ' आदि प्रयोग उनके उद्देश्य को व्यक्त करते हैं। धूमिल के कवि का सीधा संबंध सामाजिक एवं राजनीतिक यथार्थ से है। उनके लिए राजनीति जीवन का कटु सत्य बनकर आई है। कवि यह मानता है कि राजनीति ने जीवन के हर पक्ष को मानो ग्रस सा लिया है। इसीलिए उनका काव्य सामाजिक एवं राजनीतिक यथार्थ का जीवंत दस्तावेज बन गया है। युवा लेखन के संबंध में स्वयं धूमिल ने एक चेतावनी दी है कि युवा लेखन के लिए राजनीतिक-समझदारी ज़रूरी है। बिना इस राजनीतिक समझदारी के आज का लेखन संभव नहीं है। अतः राजनीतिक समझदारी रखने वाले ऐसे कवि की कविताएँ सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का सपाट विरोध करने वाली कविताएँ नहीं कही जा सकतीं।

6 .6 ग्रामीण बोध और धूमिल की कविता

वास्तव में धूमिल के कवि की शक्ति का मूल उत्स 'गंवई अनुभव' और 'किसानी संस्कार' है। वे दुनिया को किसान की नज़र से देखते हैं, इसीलिए उनकी कविता के शब्द, बिम्ब, मुहावरे तथा परिभाषाएँ आदि अनायास ही किसानी दुनिया से आए हैं। कवि का देहाती जीवन से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा रहना ही इसका कारण है। इसी जुड़ाव के परिणामस्वरूप धूमिल की कविताओं में ग्रामीण-बोध अपनी समग्रता में मुखरित हुआ है। ग्रामीण परिवेश से ऐसे काव्योपकरणों को जुटाना जो अपनी बात को अधिक सम्प्रेषणीय बनाने में सहायक हो, समकालीन कविता में धूमिल ने इसके लिए पहल की है। यही कारण है कि उनकी कविता में 'भाषा के तस्कर संकेत', 'बैलमुत्ती इबारतों' की तरह नज़र आते हैं और राजनीति 'सुविधा परस्त लोगों के ऊसर दिमाग में 'थूअर की तरह' उग आती है। कविता की निरर्थकता को उजागर करने के लिए कवि की बात केवल 'बैलमुत्ती इबारतों' तक ही समाप्त नहीं हो जाती अपितु बैल को कवि ने और भी कई प्रसंगों में याद किया है। बैल को धूमिल कितना महत्व देते थे, यह बात 30 जुलाई 1969 को लिखे गए डायरी के इस पृष्ठ से पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है, जहाँ धूमिल ने लिखा है - 'बाछा सुबह भोर में करीब चार बजे मर गया। किसान को बैल की मौत बूढ़े बाप से भी ज्यादा अखरती है। घर के लोग बड़े दुःखी हैं। मैंने उसके मृत शरीर को गड़वाया नहीं। निकाम चमार को बुलवा कर दे दिया। वे उसको 'निकिया' कर चमड़ा उतार लेंगे। चलो, न सही बाछा, उसका चाम तो किसी के काम आया।' मात्र 'बैल' शब्द का प्रयोग कविता में कर देने से किसी कवि का ग्रामीण-बोध स्पष्ट नहीं हो जाता। महत्व इस बात का है कि वह बैल को किस संदर्भ में कैसे इस्तेमाल करता है। बैल वास्तव में किसान अथवा गाँव की ज़िंदगी है और उस तरह बैल से कविता को जोड़ना ज़िंदगी की अनिवार्य शर्तों से कविता का संबंध स्थापित करना है।

उल्लेखनीय बात यह है कि जिस दौर में हिंदी कविता आयातित विदेशी बिम्बों और प्रतीकों से सज रही थी और हर जगह कविता में सलीब लटकते हुए दिखाई पड़ते थे उस समय धूमिल ने अपने आस-पास की ठेठ दुनिया से बिम्ब आदि लिये हैं। कहना चाहिए कि एक लम्बे समय के बाद हिंदी-कविता को 'नये पत्ते' के निराला, 'युग की गंगा' के केदारनाथ अग्रवाल और 'युग धारा' के नागार्जुन की परम्परा से जोड़ने का सर्जनात्मक प्रयास किया। यह प्रयास पहले से अधिक वास्तविक और निर्मम था। यह बात धूमिल की 'खेवली' तथा 'गांव में कीर्तन' जैसी कविताओं से और भी स्पष्ट हो जाती है - 'मेरे गाँव में हर रोज ऐसा ही होता है/ नफरत की आड़ में/ चीज़ें अपना चेहरा उतार कर रख देती हैं/ वक्त के फालतू हिस्सों में/ खेतों के भद्दे इशारे गूंजते हैं/ग्राम सभा की लालटेन का शीशा टूट चुका है/ नलकूपों की नलियाँ झरना हो गई हैं/ उनमें अब लाठियाँ बहती हैं और पानी की जगह/ आदमी का खून रिसता

है।' डॉ0 नामवर सिंह ने धूमिल को 'गंवई अनुभव और किसानी संस्कार का कवि' कहना उचित समझा है। यह गंवई दुनिया का कवि 'ग्राम्या' के कवि से कितना अलग और वास्तविक है, इसका अहसास इस बात से हो सकता है कि जब धूमिल का कवि कहता है - 'मैं टूटते हुए परिवार में धनुषटंकार झेलते हुए बछड़े सा कराहता हूँ।'

अपनी ज़मीन से जुड़ना, अपनी जड़ें पहचानना, धूमिल के काव्यानुभव की वास्तव में पहली शर्त नज़र आती है। यह बात भी सही है कि धूमिल ने ठेठ ग्रामीण शब्दों को कविता में इस प्रकार 'डिजाल्व' किया है कि वे कविता के अभिन्न अंग बन गए हैं और इन ग्रामीण शब्दों तथा बिम्बों के सार्थक प्रयोग से ही धूमिल साठोत्तरी कवियों में अपनी एक अलग पहचान बनाने में सफल हुए हैं, किंतु इसके आधार पर यह कहना कि 'धूमिल किसानी संस्कार और गामीण दुनिया का ही कवि' है, उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि धूमिल की कविताएँ केवल गाँव की कहानियाँ ही नहीं हैं। 'संसद से सड़क तक', 'कल सुनना मुझे' तथा 'सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र' की अधिकांश कविताएँ शहरी मध्यवर्ग (निम्न भी) की समस्याओं का लेखा-जोखा है। धूमिल तो सड़क से संसद तक का कवि है। यदि वह पगडंडी से सड़क और सड़क से संसद तक पहुँचता है, तो इस किसानी संस्कार को उत्स अथवा शक्ति मानना उचित था। उनकी खीझ, आक्रोश, पूंजीपति वर्ग के प्रति और नेताओं के प्रति स्पष्ट है, पर अपने वर्ग के लोगों (मध्यवर्ग) से किसी प्रकार का पक्षपात वह नहीं करते।

डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी धूमिल के ग्रामीण बोध के संबंध में लिखते हैं कि धूमिल पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिस ग्रामीण परिवेश के रहने वाले हैं, वहाँ की जनता के चरित्र को उन्होंने बड़ी गहराई से पहचाना है। यह वह जानता है जो अपनी ज़रूरतों के आगे असहाय है। भूख ने उन्हें जानवर बना दिया है। संशय ने उन्हें आग्रहों से भर दिया है। वह एक भेड़ है जो दूसरों को ठंड से बचाने के लिए अपनी पीठ पर ऊन की फसल ढो रही है। उसमें बेचैनी है, गुस्सा है, मगर वह सामने नहीं आती। जानते हुए भी असली हत्यारे का पता नहीं बताती। उसे जाम कर देने का पूरा इंतजाम किया जा चुका है। धूमिल अपनी कविता में इस ठण्डी, निर्जीव जनता को सम्बोधित करते हैं। उसे तनने, अकड़ने और जड़ पकड़ने की सलाह देते हैं। उसे बाहर आने को, सड़क पर आने को कहते हैं। चीखने, लीक तोड़ने और साफ-साफ बोलने को कहते हैं। विश्वास की कमी को, भलमनसाहत को, शर्म को, सरलता को छोड़ने की सलाह देते हैं - 'अपनी आदतों में/ फूल की जगह पत्थर भरो/ मासूमियत के हर तकाजे को/ ठोकर मार दो/ अब वक्त आ गया है कि तुम उठो/ और अपनी ऊब को आकार दो।'

इस जनता की शब्दावली उनकी भाषा में बहुत मिलती है, जिसके द्वारा कवि का ग्रामीण बोध उभरकर सामने आता है। चूल्हे का कोयला, पतीली की दाल, बाल्टी, चौका, पाला लगी मटर, सोहर, मूत और गोबर, डायं-डायं करते डांगर, चकती, टाकना, नाधना, पोंकना, हुचुर-हुचुर, लिट्टी आदि शब्दावली इसी प्रकार की है। इस प्रकार की ग्रामीण शब्दावली और देहाती ज़िंदगी के ठेठ चित्रों के लिए उनकी 'मोचीराम', 'प्रौढ़ शिक्षा', 'कवि-1970', 'किस्सा जनतंत्र', 'गाँव' और 'नक्सलबाड़ी' शीर्षक कविताओं को देखा जा सकता है।

6.7 धूमिल की कविता में देश की तस्वीर

स्वाधीन भारत में आम आदमी और उसकी दुर्दशा निश्चय ही साठोत्तरी कवियों की चिंता का विषय है। इसलिए कहा गया है कि सार्थक और न्यायपूर्ण ज़िंदगी की तलाश के लिए धूमिल का काव्य स्वाधीन भारत की कविता का नक्सलबाड़ी है। यह बात ध्यान देने की है कि धूमिल चारों ओर समकालीन बिखराव को चौकन्ना होकर देखते-सुनते हैं और पशुता के विरूद्ध स्वर उठाते हैं। उनके काव्य में कहीं जनतंत्र का खोखलापन है तो कहीं सामाजिक कुरूपताओं का नग्न चित्र। धूमिल ने विशुद्ध वर्तमान और सामयिक संदर्भों को ही अपने काव्य में उठाया है। धूमिल की कविता न विगत की कविता है, न भविष्य की। वह केवल आज की और इस क्षण की कविता है। प्रासंगिकता और सामयिकता ही उसकी सार्थकता है। धूमिल को आज़ादी के बाद का हिंदुस्तान अपनी पूरी दुर्दशा के साथ दिखलाई देता है। वह लिखते हैं - 'हिमालय से लेकर हिंद महासागर तक/ फैला हुआ/ जली हुई मिट्टी का ढेर है/ जहाँ हर तीसरी जुबान का मतलब/ नफरत है/ साजिश है/ अंधेर है/ यह मेरा देश है।' आज़ादी के बीस साल बाद लिखी कविता में धूमिल का प्रश्न था - 'बीस साल बाद/ मैं अपने आप से सवाल करता हूँ/ जानवर बनने के लिए कितने सब्र की ज़रूरत होती है।' व्यवस्था ने आतंक और दमन की भाषा में देश को कलंकित किया है। संत बन कर तटस्थ रहने की घोषणा देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है, वह अंधकार में

सुरक्षित रहने की स्थिति है। देश की वास्तविक हालत यह है कि 'क्या आज़ादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है/ जिन्हें एक पहिया ढोता है/ या इसका कोई ख़ास मतलब होता है।'

धूमिल ने स्वतंत्र भारत में पनपने वाली सत्ता के संदिग्ध आचरण को पूरी तरह नंगा कर दिया है। चरित्रहीनता मंत्रियों की कुर्सी में तबदील हो चुकी है। चाटुकारिता के बिना ज़िंदा रहना असंभव हो गया है।'ज़िंदा रहने के लिए पालतू होना ज़रूरी है।' धूमिल की लम्बी कविता 'पटकथा' (इसकी विस्तृत चर्चा बाद में की जाएगी) एक विराट फलक पर स्वाधीन भारत की व्यथा-कथा ज्वलंत बिम्बों के माध्यम से प्रस्तुत करने वाली रचना कही जा सकती है। इस रचना में आज़ादी के बाद का पूरा इतिहास बोल उठा है।

धूमिल को हिंदुस्तान में मनुष्य के चारों ओर बढ़ते, सघन होते जिस घेराव का पूरा-पूरा अहसास है वह अहसास केवल बौखलाहट में व्यक्त नहीं होता। धूमिल में बौद्धिक समझ भी है, जो अहसास को संयमित करती है और गहरा बनाती है। यहीं अन्य साठोत्तरी कवियों से धूमिल की विशिष्टता भी स्पष्ट होती है : धूमिल मात्र अनुभूति के नहीं, विचार के भी कवि हैं। उनके यहाँ अनुभूतिपरकता और विचारशीलता, अहसास और समझ, एक-दूसरे से घुलेमिले हैं और उनकी कविता मात्र भावात्मक स्तर पर नहीं बल्कि बौद्धिक स्तर पर भी संयोजित और सक्रिय होती है। कवि का कहना है कि सरकार चाहे केंद्र की हो चाहे प्रदेश की - जब भूख मिटा नहीं पाती तो उसके बारे में मन अंतःकरण में आस्था कैसे रह पायेगी? ऐसी आस्थाहीनता की स्थिति भी एक बार व्यक्ति को राजनीति और राजनेताओं के प्रति तटस्थता की वृत्ति धारण करना सिखा सकती है परंतु धूमिल के मत में इस स्थिति में मात्र कोई चीज़ सच है तो वह नफरत है। उनका कहना है - 'धुएँ से ढके हुए/ आसमान के नीचे/ लगता है हर चीज़/झूठ है/ आदमी/ देश/ आज़ादी/ और प्यार/ सिर्फ नफरत सही है।'

धूमिल का कहना है कि कहने के लिए देश में प्रजातंत्र है, किंतु वास्तविकता यह है कि आज भी अधिनायकवाद ही चल रहा है। प्रजातंत्र का लाभ तो बस इतना ही हुआ कि जुलूस निकालने और नारे लगाने की स्वतंत्रता मिल गई है। साधारण जनता को भी इन जुलूसों से कोई लाभ नहीं होता। देश की गरीबी पर यहां का राजनीतिक वर्ग लगातार फूलता जा रहा है। देश में बाढ़ आए या अकाल अथवा सूखा पड़े, उनकी रंगरलियों पर कोई फर्क नहीं पड़ता। बाढ़ पीड़ित लोगों की सहायता के नाम पर आधा गज कपड़ा और एक सेर आटा देकर ही सरकार अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेती है, जिसमें तीन-चार दिन काटकर वे फिर बेघरबार दाने-दाने को मोहताज़ घूमने के लिए विवश होते हैं। ऐसे ही देश की कभी न पूरी होने वाली तस्वीर को अपनी कविताओं में बनाता हुआ धूमिल का कवि बार-बार अपने से एक प्रश्न करता रहा - 'कविता में कितना ज़हर है और कितना देश/ अपनी गरीबी की मार का मुँह मोड़ने के लिए/ एक शब्द कितना कारगर होता है/ तुम्हें यह सवाल तय करना था।'

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अपने समय की और अपने देश की दशा की पकड़ धूमिल की रचनाओं में अत्यंत घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। स्वाधीन भारत का जैसा यथार्थ और समग्र चित्र धूमिल ने अपनी कविताओं में दिया है वैसा किसी अन्य साठोत्तरी कवि ने प्रस्तुत नहीं किया।

6.8 धूमिल का कविता संबंधी दृष्टिकोण

धूमिल की कविता को गहराई तक समझने के लिए उनके कविता संबंधी दृष्टिकोण को जानना निहायत ज़रूरी है। धूमिल की सृजन-प्रक्रिया के संबंध में काशीनाथ सिंह ने एक सही टिप्पणी की है - 'उनकी कविता लिखने की प्रक्रिया मुझे रीतिकलीन आचार्यों की याद दिलाती है। यह कविता करता नहीं था बनाता था। जिस तरह रीतिकालीन कवियों का सारा ध्यान सवैया या कवित्त की अंतिम पंक्ति पर केंद्रित होता था या यों कहें कि सबसे पहले उनके दिमाग में समस्या आती थी और वे उसकी पूर्ति ऊपर की तीन या सात पंक्तियों से करते थे, उसी तरह धूमिल के दिमाग में जुमले आते थे और ये जुमले कभी तो उसके उपजाऊ दिमाग की उपज होते थे और कभी उसे लोगों की बातचीत से हासिल होते थे।' कविता का पाठक 'संसद से सड़क तक', 'कल सुनना मुझे' तथा 'सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र' की कविताओं में इस प्रकार के जुमलों पर अंगुली रख सकता है। जैसे - 'आज़ादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है/ जिन्हें एक पहिया ढोता है।' तथा 'अब उसे मालूम है कि कविता/ घेराव में/ किसी बौखलाये हुए आदमी का/ संक्षिप्त एकालाप है।'

धूमिल के कविता संग्रह 'संसद से सड़क तक' के आरंभिक पृष्ठ पर धूमिल की चार पंक्तियाँ प्रकाशित की गई हैं जो कवि की कविता संबंधी धारणा को स्पष्ट करती हैं - 'एक सही कविता/ पहले/ एक सार्थक वक्तव्य/ होती है।' धूमिल का एक सही कविता' को 'सार्थक वक्तव्य' कहना उनकी काव्य-दृष्टि को स्पष्ट करता है। उन्होंने सार्थक वक्तव्य को परिभाषित किया है और कहा है कि कविता घेराव में किसी बौखलाये हुए आदमी का संक्षिप्त एकालाप है। 'घेराव' से तात्पर्य परिवेशगत सामाजिक दबावों से है, जिनमें घिरकर व्यक्ति तनावग्रस्त जीवन बिताने के लिए विवश हो जाता है। 'सार्थक वक्तव्य' को स्पष्ट करते हुए धूमिल ने एक अन्य स्थान पर लिखा है - 'कविता क्या है ?/ कोई पहनावा है?/ कुर्ता-पाजामा है?/ ना भाई ना/ कविता/ शब्दों की अदालत में/ मुजरिम के कटघरे में खड़ा बेकसूर आदमी का/ हलफनामा है।'

गजानन माधव मुक्तिबोध ने कविता को 'स्वयं के अधूरे शब्द', 'टूटी हुई लाइनें न उभरे हुए चित्र' कहकर उसमें किसी 'उलझे अटके हुए सत्य' को टटोलने की बात कही है। उसी को धूमिल 'अधजले शब्दों का ढेर' कहकर कविता को अपने रक्त से सींचने की बात करता है। वह कविता को मात्र अभिव्यक्ति का साधन नहीं मानता। उसके अनुसार तो कवि कविता को अपने खून से सींचता है। कवि यद्यपि 'शब्द फूल खिलाता है, पर क्योंकि उससे उसकी आदमियत का नाता होता है इसलिए कविता उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को परिवेश सहित समेटे रहती है - 'और तुम कहते हो कि कवि एक सुंदर बगीचा है/ जिससे अपने लिए तुम एक शब्द-फूल/ तोड़ सकते हो। तोड़ो,/ मगर मत भूलों कि इस बगीचे को/ एक आदमी ने अपने खून से सींचा है।'

आज की विषमताग्रस्त् स्थिति में जबकि प्रत्येक व्यक्ति संघर्षरत है, अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए उसने बंदूक तान रखी है। धूमिल का कहना है कि कविता ही व्यक्ति को विश्राम दे सकती है। कविता ही उसके दर्द और संघर्ष की थकान को दूर कर सकती है लेकिन इसके साथ ही कविता आदमी की सोई हुई करूणा को जगाकर हिंसक वृत्तियों को दूर कर सकती है - 'कवि एक मजबूत बंकर है/ जहां खाली वक्त में/ तुम जूते उतार सकते हो/ बंदूक टेक सकते हो/ मगर मत भूलों कि कवि एक खौलता हुआ/ आँसू है। रक्त-सिक्त-उत्तप्त/ जिससे तुम अपनी ठिठुरी हुई करूणा/ सेंक सकते हो।' धूमिल का कहना है कि कवि व्यावहारिकता के चंगुल में फंसे मानव की संवेदनाओं की आत्महत्या की कथा है। व्यावहारिकता और संवेदनाओं का संघर्ष ही कविता में मुखरित होता है। वास्तव में व्यक्तियों का परिस्थितियों से संघर्ष और परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने के लिए भावनाओं की उपेक्षा ही तो कविता में अभिव्यक्त होती है। इसी बात का वर्णन धूमिल ने किया है - 'कवि एक लय है/ थकान में गिरी हुई/ क्या तुमने सुना?/और तुम्हें खुशी है/ मगर मत भूलो/ कि कवि/ व्यावहारिकता की/ बटी हुई रस्सी से झूलती हुई/ संवेदना की खुदखुशी है।' इसीलिए धूमिल ने कविता के सकारात्मक पक्ष को रेखांकित करते हुए उसे 'शब्दों में आदमी होने की तमीज़' भी कहा है।

धूमिल की कविता में उस संत्रस्त-प्रपीड़ित मानव का दर्द मुखरित होता है जो टूटता-घुटता हुआ जीने की यंत्रणा को वहन करता है। उसके लिए जीना उल्लास का साधन नहीं वरन् एक सजा है। धूमिल के अनुसार मनोरंजन कविता का उद्देश्य नहीं। उसका एकमात्र उद्देश्य है आज के आदमी की दुःख-कथा कहना - 'शब्द किस तरह/ कविता बनते हैं/ इसे देखो/ अक्षरों के बीच गिरे हुए/ आदमी को पढ़ो।' कविता के सृजन में अनुभव के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कवि अपनी एक कविता में कहता है - 'अनुभव के नये-नये पृष्ठों पर/ भाषा के समर्थन में बूंदे गिरती हैं/ जैसे सामूहिक हस्ताक्षर अभियान में/ आसमानी दस्तखत/ और कविता-कविता से भीगती है/ तृप्त और कृतज्ञ जैसे पानी/ पानी से भीगता है समरस और शांत।'

कविता को धूमिल 'गुर्राने वाली, चेतावनी देने वाली, जागती आवाज़' मानते हुए उसे जोखिम कहते हैं। इसके संबंध में उन्होंने 16 फरवरी 1969 को अपनी डायरी में साफ-साफ लिखा है - 'सत्यव्रत ने कहा है कि घर-घर कूकर की तरह कवि हो गए हैं। क्या यह बुरा है? इससे परेशानी क्या है? कभी रही होगी। लेकिन जब तक कविता 'गुंजाइश' थी, उससे और की प्राप्ति होती थी। लेकिन आज कविता गुंजाइश नहीं एक जोखिम है और ऐसी हालत में यदि घर-घर कवि हो जाए तो बुरा क्या है? कम से कम हर गूंगे और सोये हुए घर के सामने एक कमज़ोर मरियल ही सही, गुर्राने वाली-चेतावनी देने वाली जागती आवाज़ तो रहेगी।' इन पंक्तियों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि कविता का दायित्व 'चेतावनी देना' है। कविता के माध्यम से चेतावनी देता हुआ कवि समाज में व्याप्त घिनौनी, अव्यवस्थित स्थितियों में लीन रहकर समाप्त नहीं होना चाहता अपितु एक दायित्व बोध से प्रेरित कवि की तरह इन्हें अपनी कविताओं का विषय बनाता हुआ लिखता है - 'मगर मैं इनमें शरीक नहीं होना चाहता/ मैं

कविताओं में उनका पीछा करना चाहता हूँ/ इससे पहले कि उसे किसी संख्या में/ या व्याकरण की किसी अपाहिज धारणा में बदल दें/ मैं उन तमाम चुनौतियों के लिए/ खुद को तैयार करना चाहता हूँ।' धूमिल ने कविता को जहाँ सार्थक वक्तव्य तथा चेतावनी देने वाली जागती आवाज़ स्वीकार किया है वहां उसके शिल्प को महत्व न देकर कथ्य को महत्व दिया है। इसके संबंध में 'नया प्रतीक' में प्रकाशित उनकी इस टिप्पणी को नजरंदाज़ नहीं किया जा सकता, जहां धूमिल ने कहा है - 'आज महत्व शिल्प का नहीं, कथ्य का है। सवाल यह नहीं कि आपने किस तरह कहा है, सवाल यह है कि आपने क्या कहा है। इसके लिए आदमी की ज़रूरतों के बीच की भाषा का चुनाव करना और राजनीतिक हलचलों के प्रति सजग दृष्टिकोण कायम रखना अत्यंत आवश्यक है।' यहाँ प्रस्तुत अंतिम पंक्ति से एक अन्य बात भी स्पष्ट होती है कि धूमिल वास्तव में राजनीतिक चेतना और जागरूकता का कवि है जो राजनीतिक हलचलों के प्रति सजग दृष्टिकोण कायम रखना कविता की अनिवार्य शर्त स्वीकारता है।

साठोत्तरी कवियों में धूमिल पहला ऐसा कवि है, जिसने सबसे अधिक कविताएँ 'कविता' के बारे में लिखी हैं। वे इस बात का प्रमाण हैं कि धूमिल कविता के भविष्य, कविता की सार्थकता को लेकर कितने चिंतित थे। उनके 'सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र' संग्रह में प्रकाशित 'कविता के भ्रम में', 'अगली कविता के लिए' आदि कविताएँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

6 .9 लम्बी कविता की परम्परा और 'पटकथा'

आधुनिक काल में अब तक लिखी गइ हिंदी-कविताओ को हम चार भागों में बांट सकते हैं - क्षणिकाएँ, छोटी कविताएँ, लम्बी कविताएँ तथा लम्बी कथात्मक कविताएँ। कविता के कलेवर को ध्यान में रखते हुए जब हम उसे 'लम्बी कविता' नाम देते हैं तो हमारा ध्यान पाश्चात्य तथा भारतीय काव्यशास्त्र की ओर चला जाता है। पो के विचार से लम्बी कविता का अस्तित्व ही नहीं होता। कविता में दोनों शब्द असंगतिपूर्ण हैं। क्योंकि कविता होगी तो लम्बी नहीं होगी और यदि लम्बी होगी तो कविता नहीं होगी। भारतीय काव्यशास्त्र में लम्बी शब्द कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है, उन्होंने इसे प्रबंध-काव्य, खण्ड काव्य आदि शीर्षकों में विभाजित किया है और इस तरह की रचनाओं का एक निश्चित मापदण्ड है। इससे इतर काव्य को उन्होंने मुक्तक की संज्ञा दी है।

लम्बी कविता का 'कान्सैप्ट' छायावाद से पूर्व नहीं मिलता। डॉ0 रमेश कुंतल मेघ का कहना है कि लम्बी कविता विधा की समकालीन तथा सार्थक शुरूआत निराला की 'राम की शक्ति पूजा' से हुई और इसके बाद इसका समारंभ मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' से हुआ। डॉ0 मेघ ने यह कहते हुए 'प्रलय की छाया' तथा 'परिवर्तन' जैसी कविताओं को ध्यान में नहीं रखा है। 'राम की शक्ति पूजा' को तो वैसे भी 'लम्बी कथात्मक कविता' ही कहा जाएगा, 'लम्बी कविता' नहीं। लम्बी कविताओं के क्रमिक विकास को हम तीन भागों में बांट सकते हैं - छायावादी लम्बी कविताएँ, प्रयोगवादी लम्बी कविताएँ तथा साठोत्तरी लम्बी कविताएँ। छायावादी लम्बी कविताओं के अंतर्गत 'परिवर्तन' (पंत) को लिया जा सकता है, जिसका प्रकाशन काल सन् 1924 है। प्रयोगवादी लम्बी कविताओं में सन् 1951 में प्रकाशित नरेश मेहता की 'समय देवता' कविता आती है और साठोत्तरी लम्बी कविताओं में निम्न कविताओं को रखा जा सकता है

(1) अंधेरे में (मुक्तिबोध) प्रकाशनकाल 1964
(2) मुक्ति प्रसंग (राजकमल चौधरी) प्रकाशनकाल 1966
(3) आत्महत्या के विरूद्ध (रघुवीर सहाय) प्रकाशनकाल 1967
(4) लुकमान अली (सौमित्र मोहन) प्रकाशनकाल 1968
(5) फिर वही लोग (रामदरश मिश्र) प्रकाशनकाल 1969
(6) पटकथा (धूमिल) प्रकाशनकाल 1972

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य लम्बी कविताएँ भी सामने आई हैं। किंतु इस सूची से ज्ञात होता है कि मुक्तिबोध के उपरांत ही संसार के अपने अहसास और समकालीन जटिलताओं को अधिक संश्लिष्ट ढंग से उजागर करने के लिए साठोत्तरी कवि छोटी जटिल कविताओं की परिपाटी तोड़कर एक व्यापक फॉर्म की ओर अग्रसर हुए हैं। यह बात दूसरी है कि इधर की लम्बी कविताओं में अनुभव का विस्तार और गहरा संयोजन उतना नहीं जितनी उसकी स्फीति।

यहाँ हमारा लक्ष्य लम्बी कविता की परम्परा का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए धूमिल की लम्बी कविता 'पटकथा' की मूल संवेदना को स्पष्ट करना है, जिससे आप उसका पाठ करने के उपरांत कविता के मर्म को पहचान सकें। वैसे भी 'पटकथा' की चर्चा के बिना धूमिल के काव्यात्मक विकास की चर्चा अधूरी प्रतीत होती है। इस कविता के प्रारंभ में कवि बाहर जाने से 'अभिव्यक्ति' के खुले आयाम की पुष्टि करता हुआ देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् की स्थिति को व्यापक धरातल पर प्रस्तुत करता है। इसमें आज़ादी के प्रति एक विशिष्ट भाव की ओर संकेत है। कवि पर्याप्त समय की प्रतीक्षित स्वतंत्रता-प्राप्ति पर अपने राजनेताओं से बदलाव (सुधार) की कामना करता रहा - अपने मान्य नेता (नेहरू) को आदर-सम्मान देता रहा - पर समस्याएँ घटने के स्थान पर दिनों-दिन विकट रूप धारण करती गयीं। चारों ओर देश में एक प्रकार का शोषण का वातावरण व्याप्त हो गया। इसमें कवि ने कई बार आज़ादी का सही प्रतीक्षित (वांछित) अर्थ खोजने का प्रयास किया, पर हाथ लगा - आग, आँसू और हाय का तथ्यहीन मिश्रण। इस कविता में हिंदुस्तान के माध्यम से देश की वस्तु स्थिति को नाटकीय धरातल पर प्रस्तुत किया गया है। पूंजीवादी दिमाग के कारण सुधार के स्थान पर शोषण होता रहा। चुनाव के नाम पर भी एक छलावा हाथ लगा। धीरे-धीरे उस वास्तविकता का बोध चेहरों को सही रूप में पहचानने से होता है। संसद और जनता का सही अर्थ जानने के लिए वह इस रचना को अनेक संदर्भों में प्रस्तुत करता है। काव्यनायक की दृष्टि से अपना देश कैसा है? वह कहता है - 'हिमालय से लेकर हिंदमहासागर तक फैला हुआ। जली हुई मिट्टी का ढेर है/ जहाँ हर तीसरी जुबान का मतलब/ नफरत है/ साजिश है/ अंधेर है।' और इसके अतिरिक्त यहां की जनता क्या है - 'एक भेड़ है/ जो दूसरों की ठण्ड के लिए/ अपनी पीठ पर ऊन की फसल ढो रही है।'

यहाँ भारतीय नागरिकों की स्वातन्त्र्योत्तर दशा, आकांक्षा, आशा, उद्योग और नियति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसमें आंतरिक जीवन और बाह्य जीवन का पूरा दृश्य उभरता है, नये मूल्यों और शोषण के क्रमों, मूढ़ता की वर्तनियों और घातक व्यवहारों को रेखांकित किया जा सकता है। नग्नता तक बढ़ी आर्थिक बेहाली, मृतकों के प्रति असंवेदनशीलता, परमवीरता दिखाने वालों की पत्नियों को प्रदान किये जाते तगमों की विडम्बना, असुरक्षित स्थितियों में सधवाओं के मंगल गीत गाने के पीछे छिपी अनजानेपन की कारूणिक विडम्बना और पूरे देश के श्मशान में बदल जाने के अभिप्रायार्थ स्पष्ट हैं। फिर भी विडम्बना यह है कि जनता मूढ़ बनी भेड़ सी दूसरों — शोषक वर्गों के लिए अपना होना और करना सार्थक कर रही है। कुल मिलाकर जनता एक शब्द है। देश की आज़ादी के मोहक स्वप्न के टूटने और मोहभंग के दो-दो झटकों - भारत-चीन युद्ध (भारत की करारी हार - बंदूकों के कारखानों में जूते बनते रहने से युद्ध की आग में सारे धीरज के बह जाने से, देश के श्मशान बनने और जली-सड़ी हुई मिट्टी के ढेर में बदलने) तथा भारत-पाक युद्ध (के उपरांत इतिहास की सबसे बड़ी ट्रेजेडी-ताशकंद में समझौते की चादर के नीचे, एक शक्ति यात्री की लाश थी) के बाद देश, जनता और जनतंत्र की लोकतंत्री मूल्यहीनताकी विघटित स्थितियों, विश्वशांति और पंचशील के सूत्र का क्रूर, नंगा, हतप्रभता के बंजर में फेंकने वाला यथार्थ परिदृश्य- 'पटकथा का विस्तृत फलक है। इसे उकेरने में कवि ने अनुभवों के स्मृति रूपों के साथ यथार्थ-कल्पना का आश्रय भी लिया है, जिससे ऐतिहासिक बोध के गहराने से विडम्बनात्मक कोण उभर आए हैं। कुल मिलाकर देखा जाए तो यह कविता सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का काव्यात्मक लेखा-जोखा है।

6 .10 धूमिल की कविता का अभिव्यंजना कौशल

आधुनिक हिंदी काव्य-भाषा को सर्वाधिक संचरणशील गतिमत्ता, त्वरा, ऊर्जा और उवर्रता देने वाले कवियों में निराला, मुक्तिबोध और धूमिल हैं। निराला ने छायावाद युग में ही अपने समय की काव्य-भाषा को इतना आगे बढ़ा दिया था कि उसके अनेकानेक अपरिचित स्वरूपों के नवोन्मेषों से अचकचाकर कुछ लोगों ने उनकी बौद्धिक संघटना को ही विकृत घोषित कर दिया। मुक्तिबोध ने फेंटेसी, बिम्ब, कल्पना और आत्मसंघर्ष के सूक्ष्मतम कथ्यों के उपयुक्त बनाकर आधुनिक हिंदी-कविता की भाषा की संवेदना के जर्रे-जर्रे खोलकर रख देने की क्षमता दी है। धूमिल ने सन् साठ के बाद हिंदी कविता को जो 'डिक्शन' दिया उसे तोड़ पाना आज तक असंभव ही रहा है। यही वजह है कि आज अरूण कमल, राजेश जोशी, उदयप्रकाश, स्वपनिल श्रीवास्तव आदि दर्जनों कवियों की कविताएँ पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें कहीं न कहीं धूमिल का कवि ज़िंदा है।

धूमिल ने हिंदी कविता को एक नयी भाषा दी है। इसी कवि ने सबसे पहली बार यह अनुभव किया कि कवि का पहला काम कविता को भाषाहीन करना है। कविता को भाषाहीन करने से धूमिल का क्या

अभिप्राय है? इसको स्पष्ट करने के लिए और कवि की काव्यभाषा संबंधी धारणा को जानने के लिए हमें धूमिल के लेख 'कविता पर एक वक्तव्य' के बीच से गुज़रना पड़ेगा - 'सही बात कहने में बड़ी कठिनाई है भाषा की। कम-से-कम सही शब्दों की तलाश, जिससे चीज़ को उसके पूरे आकार और व्यक्ति संबंधों के साथ फ्रेम किया जा सके। अब तक कविता के लिए विशिष्ट काव्य-भाषा प्रचलित रही है, जिसके चलते हिंदी अत्यधिक समृद्ध भी हुई है। इस कथित काव्य-भाषा ने अनेक महान पद्यकार पैदा किए हैं। 'कवि' शब्द का प्रयोग उनकी महानता से अभिभूत मैं संकोचवश नहीं कर रहा हूँ। विद्यालयों ने काव्य-ग्रंथों और शब्द-कोशों को एक ही स्तर पर समाहित किया है। परिणामस्वरूप वस्तु और व्यक्ति के बीच कविता की भाषा एक दीवार बन गई है। अर्थात् भाषा और काव्य-भाषा का अंतर स्पष्ट किए बिना सच्चाई तक जाना कदापि संभव नहीं। क्योंकि काव्यभाषा ने आधुनिक रुचि-बोध को एक गलत दिशा दी है। कविता पढ़ने के पहले ही हमारे मन में यह बात बैठ जाती है कि कविता पढ़नी है और इस प्रकार हम अनजाने ही 'काव्य-भाषा' के आतंक के शिकार हो जाते हैं। निश्चय ही 'काव्य भाषा' कुछ को छोड़कर आधुनिक कवियों की व्यवस्था बन गई है। क्योंकि यह उनकी ज़ीविका के उद्‌गम स्थान से सम्बद्ध है। इस संदर्भ में पहला काम कविता को 'भाषाहीन' करना है। साथ ही अनावश्यक बिम्बों और प्रतीकों से भी उसे मुक्त करना है। कभी-कभी या अधिकांशतः प्रतीकों और बिम्बों के कारण कविता की स्थिति उस औरत जैसी हास्यास्पद हो जाती है, जिसके आगे एक बच्चा हो, गोद में एक बच्चा हो और एक बच्चा पेट में हो। प्रतीक, बिम्ब जहाँ सूक्ष्म सांकेतिकता और सहज सम्प्रेषणीयता में सहायक होते हैं वहीं अपनी अधिकता से कविता को ग्राफिक बना देते हैं। आज महत्व शिल्प का नहीं, कथ्य का है। सवाल यह नहीं कि आपने किस तरह कहा है, सवाल यह है कि आपने क्या कहा है? इसके लिए आदमी की ज़रूरतों के बीच की भाषा का चुनाव करना और राजनीतिक हलचलों के प्रति सजग दृष्टिकोण कायम रखना अत्यंत आवश्यक है।'

कवि के इस वक्तव्य से जहाँ काव्य-भाषा संबंधी दृष्टिकोण उभरकर सामने आता है वहाँ यह बात भी स्पष्ट होती है कि धूमिल पच्चीकारी और अनावश्यक बिम्बों तथा प्रतीकों से कविता को मुक्त करना चाहते थे। स्पष्ट है ऐसी भाषा कविता और पाठक के बीच दीवार बनकर खड़ी होती है, धूमिल कविता को भाषाहीन करके इसी 'दीवार' को तोड़ते नज़र आते हैं।

6.10.1 शब्द प्रयोग

जिन दिनों नयी कवितावादियों ने अपनी दब्बू विनीत और मध्यवर्गीय कुण्ठाओं वाली कविता की वकालत में कहना शुरू किया था कि शब्दों के अर्थ खो गए हैं - वे गलत जगह रख दिए गए हैं- संदर्भच्युत हो गए हैं, धूमिल ने अपनी कविता में शब्दों को सही जगह पर संजोया और लोगों ने देखा कि सही संदर्भ पाकर वे शब्द 'डाइनामाइट' की तरह हुए जा रहे हैं। उनमें विस्फोटक क्षमता आ गई है। धूमिल ने एक स्थान पर लिखा है - 'छायावाद के कवि शब्दों को तोलकर रखते थे,/ प्रयोगवाद के कवि शब्दों को टटोल कर रखते थे,/ नयी कविता के कवि शब्दों को गोल कर रखते थे,/ सन् साठ के बाद के कवि शब्दों को खोलकर रखते हैं।'

धूमिल ने अपनी कविताओं के लिए कठोर और नुकीले शब्द चुने, उन पर धार दी, उन्हें पैना किया और वाक्यों में बांधकर फेंकता रहा - अपनी तरफ से पूरी ताकत लगाकर उस आदमी को मारता रहा - 'जो आदमी के भेष में/ शातिर दरिंदा है/ जो हाथों और पैरों से पंगु हो चुका है/ मगर नाखून में ज़िंदा है/ जिसने विरोध का अक्षर-अक्षर/अपने पक्ष में तोड़ लिया है।'

धूमिल की कविताओं में सर्वत्र आक्रोश, विद्रोह, युयुत्सा, टूटन, अनास्था, विसंगति, विरोध और लड़ाई का ही स्वर मुखर है। यही वजह है कि धूमिल की कविताओं में कचहरी की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका है। वही कचहरी जिसमें देश का हर दूसरा आदमी पिस रहा है। इसी कचहरी ने धूमिल के कवि को इतने और ऐसे शब्द तथा मुहावरे दिए, जिनसे हिंदी-कविता पूरी तरह अनजान रही है। इन शब्दों की एक लम्बी सूची देखी जा सकती है- 'अपराधी', 'हलफनामा', 'बेकसूर', 'गवाह', 'कारागार', 'कटघरा', 'मुजरिम', 'अदालत', 'साजिश', 'हत्यारा', 'दलाल', 'मसौदे', 'हथकड़ी', 'बहस', 'जिरह', 'न्यायाधीश', 'पेशेवर', 'तस्कर', 'चेतावनी', 'हत्या', 'दुर्घटना', 'लेखपाल', 'फर्ज अदायगी', 'अंगुलियों के निशान की शिनाख्त', 'मौत दर्ज कर दी गई', 'गोली के छर्रे', 'रक्तपात', 'संविधान की धाराएँ', 'वारंट', 'मालिश', 'भुगतान', 'मक्कारी', 'सख्त', 'कार्यवाही', 'गारंटी', 'हुलिया', 'रोजनामचा', 'जरायमपेशा', 'बदचलन', 'जंजीर', 'गफलत', 'नीलाम', 'हलाल', 'हमलावर', 'हक', 'मुखबिर', 'तिकड़मी', 'मुहर', 'अर्जिया', 'अभियोग', 'गला काटना', 'वसीयत', 'शराफत', 'जेल', 'मुंशी', 'गँडास', 'विरासत', 'जुर्म', 'खुफिया', 'कोतवाल', 'जासूस', 'भाषा के हलके में', 'मुनासिब कार्रवाई' आदि। धूमिल की कविताओं में आने वाली इस

कचहरी की शब्दावली के संबंध में डॉ0 काशीनाथ सिंह का यह कहना सही है कि ये शब्द अपने अर्थों को इतनी दूर-दूर तक फैलाते हैं कि बनारस की कचहरी समूचा हिंदुस्तान दिखाई देने लगता है। कचहरी की दुनिया के ये शब्द धूमिल ने मात्र चमत्कार पैदा करने के लिए कविता में प्रयुक्त नहीं किये अपितु यही उस कवि की वास्तविक धरती है। धूमिल की यही शब्दावली समकालीन कविता में अपनी एक अलग पहचान कायम करती है।

धूमिल के शाब्दिक वैशिष्ट्य में इतनी शक्ति है कि वह पाठक को अपनी मनःस्थिति में बांध लेता है। धूमिल अपनी काव्यवस्तु का चयन करने में उस वस्तु के समस्त परिवेश को पूर्णतया पचाने, पुनःरचित करने में पूरी तल्लीनता बरतते हैं और इसी कारण उनकी कविता विषय-वस्तु कवि और पाठक तीनों को परिवेश से जोड़ सकती है। 'मोचीराम' कविता में कवि मोची की मानसिकता, अपनी मानसिकता और पाठक की मानसिकता तीनों को एक साथ मोचीराम के परिवेश में ला खड़ा करने के लिए विशिष्ट शब्दों का चयन करता है - 'राँपी', 'पतियाये', 'एक जोड़ी जूता', 'मरम्मत', 'टाँके', 'नवैयत', 'चक्तियों', 'नाधकर', 'बनिया', 'बिसाती', 'इशे बाँद्धो', 'उसे काट्‌टो', 'हियां ठोक्को', हुआँ पीट्‌टो', 'घिश्शा दो', 'अइशा चमकाओ', 'जूते का ऐना बनाओ', 'ओफ्फ', 'बिसूरता', 'खटवाता', 'नटजाता', 'चोरकील', 'रोजी कमाने', 'हमकहा', 'तांत', 'सीझने', 'गूंठ', 'चमड़े', 'मोची', 'जाति' जैसे शब्दों को इस प्रक्रिया में पूरी इयत्ता के साथ जुटा हुआ देखा जा सकता है। इन शब्दों को अलग-अलग गिना देने से यह स्पष्ट नहीं होगा कि धूमिल की काव्य-भाषा में शब्दों का चयन कितना जोरदार हुआ है, किंतु शब्दों को चुन-चुनकर, फिर उन्हें अन्य शब्दों के साथ जोड़कर जिस भाषा की सृष्टि की गई है, यदि उसे देखा जाए तो इस शब्द-चयन की सार्थकता और भी आसानी से अनावृत्त होगी। इसके लिए पूरी 'मोचीराम' कविता को उदाहरण के तौर पर रखा जा सकता है। 'मोचीराम' के अतिरिक्त धूमिल की एक अन्य कविता है - 'लोहसांय'। इस कविता की शब्दावली के बीच में से गज़रें तो 'टेकू बनिहार' और 'हेलू' की गुफ्तगू से धूमिल का लोहार कवि अपने समस्त वैविध्य, व्यापकता, जीवन्तता और फौलादी ताकत के साथ उभरकर सामने आता है। इस संदर्भ में 'लोहसायं' कविता का शब्द-चयन उल्लेखनीय है - 'हेलू', 'ठीके', 'जुगाड़', 'कांटा-कांटे पर फिट', 'न सूत भर इधर', 'न सूत भर उधर', 'कमासुत हथौड़ा', 'छेनी', 'संडसी', 'पेंच', 'खराद', 'बिलाक', 'औजारों की बांक', 'पैने वक्त', 'ठोंक कर', 'पलटू', 'टेम पर', 'धुकनी', 'मरी हुई खाल', 'बुझे हुए कोयले', 'भाथी धधकाता', 'लोहसांय चालू', 'खेतिहर', 'मजूर', 'गाँव गिरांव से', 'सलाम', 'रमरमी', 'फरगाता', 'फाल', 'गड़सा', 'खुरपी', 'कुदाल', 'बतकही', 'टेकू', 'हंसुये पर ताव जरी ठीक तरे देना', 'धिनार निहाई', 'लोहे को मनमाफिक हनने', 'हथौड़े से दोस्ती', 'आंच लहकाता' आदि शब्द-प्रयोगों को देखा जा सकता है। 'मोचीराम' और 'लोहसांय' जैसी कविताओं से प्रस्तुत किए गए उदाहरण इस बात के ठोस सबूत हैं कि कवि शब्दों के चयन को विशेष महत्व प्रदान करता है। भले ही वह शब्दों को तराशने अथवा भारी भरकम बनाने की अपेक्षा सहज प्रयोग पर बल देता है, किंतु कविता में शब्दों अक्षरों के माध्यम से 'कथ्य' का रंग किस प्रकार भरा जाता है, इसकी प्रतीति निम्न पंक्तियों में देखी जा सकती है - 'शब्द किस तरह/ कविता बनते हैं/ इसे देखो/ अक्षरों के बीच गिरे हुए/ आदमी को पढ़ो/ क्या तुमने सुना कि यह/ लोहे की आवाज़ है या/ मिट्‌टी में गिरे हुए खून/ का रंग।'

6.10.2 सपाट बयानी

नयी कविता बिम्ब केंद्रित रही है और अक्सर कवियों में बिम्ब का ऐसा घटाटोप तैयार हुआ कि सातवें दशक तक आते-आते कई कवियों को यह महसूस हुआ कि कविता को बिम्ब से मुक्त कराके ही उसे जीवंत और प्रासंगिक रखा जा सकता है। उनके सामने बिम्ब प्रधान कविता कुछ शक की चीज़ बन गई और सपाटबयानी की तरफ कई कवि झुके और उसे विश्वसनीय माना जाने लगा। सातवें दशक तक आते-आते हिंदी कविता में जिस सपाटबयानी ने जन्म लिया उसके संबंध में डॉ0 नामवर सिंह की धारणा है कि कविता में सपाटबयानी का यह आग्रह वस्तुतः गद्य सुलभ जीवंत वाक्य-विन्यास को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास है, जिसके मार्ग में बिम्बवादी रूझान निश्चित रूप से बाधक रहा है। बिम्बों की निरर्थकता तथा सपाटबयानी को कविता की अनिवार्य आवश्यकता मानते हुए वह आगे लिखते हैं कि काव्य-भाषा के लिए भी प्रायः बिम्ब योजना हानिकारक सिद्ध हुई है। बिम्बों के कारण कविता बोलचाल की भाषा से अक्सर दूर हटी है। बोलचाल की सहज लय खण्डित हुई है, वाक्य विन्यास की शक्ति को धक्का लगा है, भाषा के अंतर्गत क्रियाएँ उपेक्षित हुई हैं, विशेषणों का अनावश्यक भार बढ़ा है और काव्य-कथ्य की ताकत कम हुई है। इन कमजोरियों को दूर करने के लिए ही कविता में तथाकथित 'सपाटबयानी' अपनाई जा रही है, जिसमें फिलहाल काफी संभावनाएँ दिखाई पड़ती हैं। यहाँ डॉ0 नामवर सिंह एक बात की ओर भी संकेत करते हैं कि कविता में बिम्ब ढूंढने वाले अध्यापक जब बिम्ब ढूंढने लगते हैं तो इससे उनकी अपनी जानकारी का तो पता चलता है, किंतु कविता के बारे में कोई नयी

बात नहीं मालूम होती और न उस पद्धति से कविता के किसी नये पक्ष के प्रकाशित होने की संभावना ही है। इस वातावरण में यदि तथाकथित 'सपाटबयानी' में रचे-पचे रोज़मर्रा की ज़िंदगी से लिये गये जाने-माने बिम्ब अनदेखे चले जाएं और इस प्रकार उनका विशेष कथ्य भी साधारण मानकर उपेक्षित हो जाए तो आश्चर्य नहीं।

यदि उपर्युक्त कथन को कोई ध्यानपूर्वक तथा गहराई से नहीं समझेगा तो वह यह भी कह सकता है कि डॉ0 नामवर सिंह काव्य में बिम्ब को अस्वीकार कर सपाटबयानी की वकालत कर रहे हैं। किंतु कथन की ओर गंभीरता पूर्वक ध्यान देने से ज्ञात होगा कि डॉ0 नामवर सिंह ने जिस 'सपाटबयानी' की चर्चा की है वह वस्तुतः बिम्ब से रहित नहीं है, क्योंकि उन्होंने अपने वक्तव्य में इस बात की आशंका प्रकट की है कि कहीं' तथाकथित सपाटबयानी में रचे-पचे रोज़मर्रा की ज़िंदगी से लिये गये जाने-माने बिम्ब अनदेखे न चले जाएँ। यहां एक और बात भी स्पष्ट होती है कि कोरी सपाटबयानी के द्वारा परिस्थितियों के सीधे साक्षात्कार की बात नहीं की जा सकती। अतः रोज़मर्रा की ज़िंदगी से लिये गये रचे-पचे बिम्बों से निर्मित सपाटबयानी को कविता की अनिवार्य विशेषता स्वीकारा जा सकता है। डॉ0 हुकुमचन्द राजपाल धूमिल की काव्य-भाषा पर सपाटबयानी के संबंध में अपने विचार प्रकट करते समय लिखते हैं - 'सपाटबयानी' अथवा साठोत्तरी कविता में शब्दों को खोलकर रखने से प्रतीकों और बिम्बों के प्रयोग को लेकर किसी प्रकार की भ्रांति नहीं होनी चाहिए। प्रायः धूमिल को वक्तव्यों के आधार पर सपाटबयानी का कवि स्वीकार किया जाता है और इसके साथ यह भी कहा जाता है कि उसकी कविताओं में प्रतीकों तथा बिम्बों का प्रयोग नहीं हुआ है। हम उस प्रकार के विचारों से सहमत नहीं हैं क्योंकि समकालीन कवियों में धूमिल का स्थान अग्रणी कवियों में इसलिए प्रतिष्ठित है क्योंकि वह भाषा को अपने अनुरूप चलाता है। शब्दों का प्रयोग कई रूपों में करता है - एक शब्द अस्सी बार प्रयुक्त होकर अपना कोशीय अर्थ बनाए रख कर भी काल, प्रसंग, स्थिति एवं अवसर के अनुरूप अपना अर्थ विकसित करता है। इतना स्पष्ट है कि धूमिल के शब्द प्रयोग में प्रायः प्रतीक की समाविष्टि रहती है। जूता, लोहा, जंगल, घास, नींद, रोटी, भूख इत्यादि शब्द अपने कोशगत अर्थ तक ही सीमित नहीं हैं - इससे स्पष्ट है कि उसकी काव्य-भाषा प्रतीकात्मक है। इस प्रकार धूमिल की काव्य-भाषा को 'प्रतीकात्मक सपाटबयानी' कहना उचित होगा। सपाटबयानी लगती है पर उसका अर्थ संदर्भ अथवा प्रसंग से जानने पर उसके विस्तार एवं व्यापक होने का बोध सहज ही हो जाता है। सपाटबयानी के दर्जनों उदाहरण न प्रस्तुत करके 'रोटी और संसद' शीर्षक कविता सपाटबयानी की सशक्त कविता कही जा सकती है, यहां उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा रही है - 'एक आदमी/ रोटी बेलता है/ एक आदमी रोटी खाता है/ एक तीसरा आदमी भी है/ जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है/ वह सिर्फ रोटी से खेलता है/ मैं पूछता हूँ/ 'यह तीसरा आदमी कौन है?'/ मेरे देश की संसद मौन है।' वैसे 'पटकथा' को सपाटबयानी का सबसे लम्बा उदाहरण कहा जा सकता है, जिसके संबंध में कुछ आलोचकों ने यहाँ तक आरोप लगाया है कि सपाटबयानी के कारण ही यह कविता शिथिलता का बोध कराती है, 'पटकथा' लम्बी होने के कारण इस अभाव की अनेक बार सूचना देती है। जिन आलोचकों को 'पटकथा' की भाषा 'गद्य की भाषा' या 'वक्तव्य' नज़र आते हुए पूरी कविता से शिथिलता का बोध होता है, उनको इस कविता की निम्न पंक्तियों को नजरंदाज़ नहीं करना चाहिए - 'मैंने कहा - आज़ादी/ और दौड़ता हुआ खेतों की ओर/ गया। वहाँ कतार के कतार/ अनाज के अंखुए फूट रहे थे/ मैंने कहा - जैसे कसरत करते हुए/ बच्चे/ तारों पर/ चिड़ियाँ चहचहा रही थीं/ मैंने कहा - कांसे की बजती हुई घंटियाँ/ खेत की मेंड़ पार करते हुए/ मैंने एक बैल की पीठ थपथपाई।'

सपाटबयानी के कारण ही धूमिल द्वारा आज़ादी के उल्लास का यह वर्णन अपनी अलग अहमियत रखता है। यही नहीं ऊपर से देखने पर जो गद्य की भाषा प्रतीत होती है उस सपाटबयानी के भीतर क्या कुछ छुपा हुआ है, उसका एक अन्य उदाहरण 'पटकथा' से ही देखा जा कसता है - 'मैंने देखा हर तरफ/ रंग बिरंगे झंडे फहरा रहे हैं/ गिरगिट की तरह रंग बदलते हुए/ गुट से गुट टकरा रहे हैं/ वे एक दूसरे को दुस्-दुर, बिल-बिल कर रहे हैं/ हर तरफ तरह-रह के जंतु हैं/ श्रीमान किंतु हैं/ मिस्टर परंतु हैं/ कुछ रोगी हैं/ कुछ भोगी हैं/ कुछ हिजड़े हैं/ कुछ जोगी हैं/ तिजोरियों के/ प्रशिक्षित दलाल हैं/ आँखों के अंधे हैं/ घर के कंगाल हैं।' इस सपाटबयानी में एक प्रवाह है, वाक्यों मे क्षिप्रता और लघुता है। वे तेजी से उठते हैं और टूट-टूटकर बिखर जाते हैं। इनमें तुक है और आक्रोश का वेग है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि धूमिल की कविता की भाषा मे जो सपाटबयानी आई वह पूरी तरह से बिम्बों से रहित है, यह नहीं कहा जा सकता। बल्कि यह कहना उचित होगा कि इस बदली हुई भंगिमा में अच्छी सपाटबयानी बिम्बों को इस तरह से अपने में समाहित करती है कि बिम्बों की उसमें अलग से चमकने वाली सत्ता लुप्त हो जाती है।

6.10.3 व्यंग्य

धूमिल का व्यंग्य ऊपर से देखने पर भले ही सहज लगता है किंतु वह पैना और तीक्ष्ण है। व्यंग्य बोध की दृष्टि से 'मोचीराम' कविता विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जहाँ कवि कहता है - न कोई छोटा है/ न कोई बड़ा है/ मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है/ जो मेरे सामने/ मुरम्मत के लिए खड़ा है।' पूरी कविता व्यंग्याभिव्यक्ति की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कविता है, जिसे साठोत्तरी हिंदी कविता की उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

धूमिल के व्यंग्य की सबसे बड़ी विशेषता यह कही जा सकती है कि उसमें तीखेपन के साथ-साथ बौखलाहट जरा भी नहीं है। 'पटकथा' जैसी लम्बी कविता में से इस संदर्भ में दर्जनों उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। वकीलों, वैज्ञानिकों, अध्यापकों, नेताओं, दार्शनिकों, लेखकों, कवियों, कलाकारों अर्थात् तथाकथित बुद्धिजीवियों पर निम्न पंक्तियों के द्वारा धूमिल ने व्यंग्य किया है - 'नहीं अपना कोई हमदर्द/ यहां नहीं है। मैंने एक-एक को/ परख लिया है।/ मैंने हरेक को आवाज़ दी है/ हरेक का दरवाज़ा खटखटाया है/ मगर बेकार ....। मैंने जिसकी पूंछ/ उठाई है उसको मादा पाया है।/ वे सब के सब तिजोरियों के/ दुभाषिये हैं/ वे वकील हैं/ वैज्ञानिक हैं/ अध्यापक हैं/ नेता हैं/ दार्शनिक हैं/ लेखक हैं/ कवि हैं/ कलाकार हैं/ यानि की कानून की भाषा बोलता हुआ/ अपराधियों का एक संयुक्त परिवार

धूमिल ने इस देश की संसद, समाजवाद, आज़ादी, चुनाव, नेता और राजनीति सभी पर पैना व्यंग्य किया है, जो कविता के पाठक को अपनी उपस्थिति से आमंत्रित करता है, उद्वेलित करता है और हमारे सामने कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न रखता है। इस देश के बारे में धूमिल का कहना है - 'हिमालय से लेकर हिंद महासागर तक/ फैला हुआ/ जली हुई मिट्टी का ढेर है/ जहां हर तीसरी जुबान का मतलब/ नफरत है/ साजिश है/ अंधेर है/ यह मेरा देश है।'

राजनेता इस देश की जनता को किस प्रकार के आश्वासनों के द्वारा छलते रहते हैं, इसके संबंध में व्यंग्य करता हुआ कवि कहता है - 'अब कोई बच्चा/ भूखा रहकर स्कूल नहीं जाएगा। अब कोई छत बारिश में/ नहीं टपकेगी/ अब कोई आदमी कपड़ों की लाचारी में/ अपना नंगा चेहरा नहीं पहनेगा/ अब कोई दवा के अभाव में/ घुट-घुट कर नहीं मरेगा। अब कोई किसी की रोटी नहीं छीनेगा/ कोई किसी को नंगा नहीं करेगा/ अब यह ज़मीन अपनी है/ आसमान अपना है।'

धूमिल की एक कविता है जिसका शीर्षक है 'एक कविता : कुछ सूचनाएँ', इस कविता में कवि ने समन्वयवादियों को हत्यारा, दार्शनिकों को जेवर खरीदने में व्यस्त बतलाकर, हिजड़ों से लिंग बोध पर भाषण कराकर, वेश्याओं द्वारा आत्मशोध पर कविताएँ पढ़वाकर तथा प्रेम में असफल छात्राओं को अध्यापिकाएँ बनने सरीखी स्थितियों में व्यंग्य-प्रहार किया है। धूमिल की व्यंग्य-दृष्टि केवल यहीं तक सीमित नहीं रही अपितु उसने सैंकड़ों विषय अपने व्यंग्य के लक्ष्य के रूप में चुने। इसमें देहाती समाज, कस्बा और शहरी समाज सभी शामिल हैं।

वास्तव में धूमिल का सारा काव्य समस्याओं का काव्यात्मक लेखा है, जिसमें आदमी, परिवार, समाज तथा देश की विवशताओं को प्रस्तुत करता हुआ वह आँसू और हाय की स्थिति तक पहुँचता है और व्यंग्य करता हुआ 'आग' की प्रेरणा देता है।

धूमिल ने प्रत्येक उस वस्तु को अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाया जो उसकी दृष्टि में ठीक नहीं। उनकी कविताएँ पढ़कर उनसे प्रकट होने वाले व्यंग्य को समझने पर ज्ञात होता है कि कवि जिस सामाजिक विकृति की बात कर रहा है उस विकृति से हमारा भी कोई संबंध है। उसको उत्पन्न करने में न सही, उसे बनाये रखने में या फिर उसे बने रहने में सहायता पहुँचाने में ही सही, कहीं-न-कहीं हम शामिल अवश्य हैं। शायद यही वजह है कि धूमिल की कविताएँ अपनी उपस्थिति से पाठकों को आमंत्रित करती हैं, उद्विग्न करती हैं और उद्वेलित करती हैं। अपने समय के ज़रूरी सवालों से टकराकर हमारे सामने महत्वपूर्ण प्रश्न रखती हैं।

6.11 सारांश

सन् साठ से सत्तर तक समकालीन कविता का एक दौर सिर्फ़ निषेध और नकार का रहा है और दूसरा दौर उस कविता का रहा है जिसका प्रारंभ तो अकविता आंदोलन से हुआ लेकिन बाद में

लोहियावादी समाजवाद से प्रभावित होकर तत्कालीन व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह और आक्रोश जिसका विषय बना। धूमिल इसी दूसरे दौर के कवि हैं।

- अकविता आंदोलन का प्रभाव धूमिल की प्रारंभिक कविताओं पर देखा जा सकता है किंतु बाद में सामाजिक प्रतिबद्धता से प्रेरित होकर उनकी कविता का विकास होता दिखाई देता है।
- धूमिल ने साठोत्तरी कविता को अपनी अभिव्यक्ति भंगिमा से एक नया जीवन और रूप प्रदान किया। उनकी कविता किसी न किसी स्तर पर संसद और सड़क से सम्बद्ध है। अर्थात उनकी कविता सही मायनों में जनतंत्र की कविता है।
- उनकी काव्य शक्ति का मूल उत्स गँवई अनुभव और किसानी संस्कार रहा है। इसलिए उनकी कविता के बिंब, शब्द, मुहावरे अनायास ही किसान की दुनिया से आते हैं।
- धूमिल कविता, कविता के भविष्य, कविता की सार्थकता को लेकर भी चिंतित थे। उनकी बहुत-सी कविताएँ 'कविता' के बारे में ही हैं।
- आधुनिक हिंदी काव्य-भाषा को संचरणशील गतिमत्ता, त्वरा, ऊर्जा और उर्वरता देने में धूमिल ने बहुत योगदान दिया और हिंदी कविता को एक नयी भाषा से सम्पन्न किया।

6 .12 प्रश्न

1. 'धूमिल का कवि गंवई अनुभव और किसानी संस्कार का कवि है।' इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?
2. साठोत्तरी हिंदी-कविता के संदर्भ में धूमिल के व्यवस्था विरोधी स्वर की सोदाहरण समीक्षा कीजिए।
3. 'एक सही कविता पहले एक सार्थक वक्तव्य होती है।' इस कथन की व्याख्या करें।
4. धूमिल की 'पटकथा स्वाधीन भारत का एक दहकता हुआ दस्तावेज है।' इस कथन की व्याख्या करें। कविताओं के संदर्भ में इस कथन की सार्थकता पर प्रकाश डालें।
5. धूमिल की काव्य-भाषा संबंधी विशेषताओं को स्पष्ट करें।

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1. नागार्जुन की सभी कविता-पुस्तकें
2. प्रतिनिधि कविताएँ, सं० डॉ० नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. नागार्जुन, डॉ० प्रभाकर माचवे, राजपाल एंड संस, दिल्ली।
4. नागार्जुन विशेषांक : 'आलोचना', सं० डॉ० नामवर सिंह।
5. नागार्जुन विशेषांक : 'सापेक्ष', सं० डॉ० महावीर अग्रवाल
6. नागार्जुन का रचना संसार, डॉ० विजय बहादुर सिंह
7. नागार्जुन संवाद, डॉ० विजय बहादुर सिंह
8. नागार्जुन पर डॉ० रामविलास शर्मा का लेख (नयी कविता और अस्तित्ववाद, राजकमल, दिल्ली।)
9. शमशेर जी की कविता (नागार्जुन पर) और लेख
10. केदारनाथ अग्रवाल की कविता (नागार्जुन पर)
11. मुक्तिबोध की काव्य प्रक्रिया : अशोक चक्रधर।
12. मुक्तिबोध का साहित्य विवेक और उनकी कविता : डॉ० लल्लन राय।
13. 20. अंधेरे में : इतिहास, संरचना और संवेदना, सं० बच्चन सिंह, इलाहाबाद अभिव्यक्ति प्रकाशन, मूल्य 40 रूपया।
14. डॉ० गणेश तुलसीराम अष्टेकर, कटघरे का कवि धूमिल, पंचशील प्रकाशन, जयपुर।
15. डॉ० हुकुमचन्द राजपाल, समकालीन बोध और धूमिल का काव्य, कोर्णाक प्रकाशन दिल्ली।
16. डॉ० कुमार कृष्ण, दूसरे प्रजातंत्र की तलाश में धूमिल, साहित्यनिधि, दिल्ली।
17. डॉ० मंजु अगव्राल, धूमिल : काव्य यात्रा, ग्रंथम प्रकाशन, कानपुर।
18. डॉ० मंजुल उपाध्याय, समकालीन कविता और धूमिल, अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद।
19. डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, समकालीन हिंदी कविता, राजपाल, दिल्ली।

NOTES

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAHI-112
छायावादोत्तर काव्य

खंड

2

नयी कविता-I

इकाई 7
अज्ञेय के काव्य में आधुनिक भावबोध 117

इकाई - 8
अज्ञेय : काव्यभाषा और काव्य-शिल्प 130

इकाई 9
शमशेर काव्य की विचार भूमि 143

इकाई 10
शमशेर का काव्य : संवेदना और शिल्प 160

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी
गुरूनानक देव
विश्वविद्यालय, अमृतसर

प्रो. गोपाल राय
सी-3, कावेरी, इग्नो आवासीय
परिसर मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

प्रो. नामवर सिंह
32-ए, शिवालिक अपार्टमेंट
अलकनंदा, नई दिल्ली

प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. निर्मला जैन
ए-21, /17, कुतुब एन्क्लेव, फेज़-1,
गुड़गाँव, हरियाणा

प्रो. प्रेम शंकर
बी-16, सागर विश्वविद्यालय
परिसर, सागर

प्रो. मुजीब रिज़वी
220, ज़ाकिर नगर
नई दिल्ली

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
3, बैंक रोड, इलाहाबाद

प्रो. लल्लन राय
3, प्रीत विला, समर हिल
शिमला

प्रो. शिवकुमार मिश्र
एफ-17, मानसरोवर पार्क कालोनी
पंचायती हॉस्पिटल मार्ग,
वल्लभ विद्यानगर, गुजरात

स्व. शिव प्रसाद सिंह

प्रो. सूरजभान सिंह
आई-27, नारायणा विहार
नई दिल्ली

संकाय सदस्य
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
डॉ. जवरीमल्ल पारख
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. विमल खांडेकर

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

इकाई लेखक	इकाई संख्या	पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. परमानंद श्रीवास्तव गोरखपुर (उ.प्र.)	20 एवं 21	डॉ. राकेश वत्स **संपादक**
डॉ. अपूर्वानंद महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय नई दिल्ली	22 एवं 23	प्रो. लल्लन राय

सामग्री निर्माण

प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
निदेशक , मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू नई दिल्ली

कैमरा रेड्डी कॉपी निर्माण
श्री नरेश कुमार
आवरण
श्री सांख्या सामंत

अप्रैल, 2003 (पुर्नमुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2000

ISBN- 81-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खंड परिचय

आधुनिक कविता-I पर आधारित इस पाठ्यक्रम का यह पाँचवाँ खंड है। इस खंड का शीर्षक है- 'नयी कविता'। इस खंड में नयी कविता के दो कवियों को लिया गया है - अज्ञेय तथा शमशेर। अज्ञेय नयी कविता के प्रवर्त्तक कवि भी माने जाते हैं। 'तार सप्तक' के द्वारा जिस 'प्रयोग और अन्वेषण' की बात अज्ञेय ने तार-सप्तक में संकलित कवियों के बारे में कही थी, उसी का बाद में चलकर नयी कविता में विकास हुआ। हालांकि 'तार सप्तक' में संकलित सभी-कवियों का विकास एक ही दिशा में नहीं हुआ। कुछ बाद में प्रगतिशील कवि के रूप में जाने गए और कुछ नयी कविता के हस्ताक्षर बने।

इस खंड में शामिल दो कवियों पर दो-दो इकाइयों में विचार किया गया है। नयी कविता के ये दोनों कवि अपने मिज़ाज में नितांत भिन्न हैं। भाव, विषय-वस्तु, जीवन दृष्टि तथा भाषा शैली में भी।

अज्ञेय आधुनिक भाव-बोध के कवि के रूप में जाने जाते हैं। छायावाद के जीवन और साहित्य में हुए परिवर्तनों को अज्ञेय सायास रेखांकित भी करते हैं। दूसरी ओर, शमशेर बहादुर सिंह हैं जो आलोचकों की नज़र में या तो जटिल हैं, या कलावादी या मार्क्सवादी। मतलब यह कि शमशेर की कविता को समझने में आलोचकों को मुश्किल हो रही है। उसका कारण यह है कि शमशेर आलोचकों द्वारा बनाए गए साँचों में फिट नहीं बैठते। शमशेर को समझने के लिए साहित्य-कला-जीवन के बारे में शमशेर की मान्यताओं को ध्यान में रखना लाजिमी है।

तो आइए, अज्ञेय की कविताओं के अध्ययन से अपनी बात शुरू करें।

इकाई 7 अज्ञेय के काव्य में आधुनिक भाव-बोध

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 छायावादोत्तर कविता : प्रयोगवाद और नई कविता
7.2.1 प्रयोगवाद : रोमांटिक तथा आधुनिक दृष्टि का द्वंद्व
7.2.2 नई कविता : वैयक्तिकता तथा सामाजिक सरोकार : संबंध और द्वंद्व
7.2.3 मूल्यबोध और समकालीन कविता
7.3 अज्ञेय : आत्मबोध और जीवन दृष्टि
7.3.1 'भग्नदूत' (1933) से 'आँगन के पार द्वार' (1961) तक
7.3.2 'आँगन के पार द्वार' के बाद अज्ञेय
7.4 अज्ञेय की कविता : आधुनिक बोध और संवेदना
7.4.1 समय का बोध
7.4.2 स्वाधीन चेतना : व्यक्तित्व की खोज
7.4.3 प्रकृति, प्रेम, सौंदर्य, आत्मदान, मृत्यु आदि अनुभव
7.5 प्रमुख कविताओं के आधार पर अज्ञेय का मूल्यांकन
7.5.1 'असाध्य वीणा' में अज्ञेय
7.5.2 अन्य कविताएँ
7.6 सारांश
7.7 प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जान सकेंगे कि :

- आधुनिक भाव-बोध के कवि के रूप में अज्ञेय की क्या विशेषताएँ हैं
- अज्ञेय की कविताओं के आधार पर उनके आधुनिक बोध और संवेदना का क्या रूप है
- प्रमुख कविताओं के आधार पर अज्ञेय का मूल्यांकन कैसे किया जाए।

7.1 प्रस्तावना

अज्ञेय जैसे कवि को स्नातकोत्तर स्तर पर पढ़ने का अर्थ है उनके **व्यक्तित्व, आधुनिक बोध, रचना प्रक्रिया, नएपन के प्रति आकर्षण** - इन सबकी समझ के साथ पढ़ना। यह याद करते हुए पढ़ना कि एक आधुनिक कवि को पढ़ रहे हैं जिसकी दृष्टि में कविता का बहुत सारी चीज़ों के साथ संबंध बदल गया है। उस कवि को पढ़ रहे हैं जिसके व्यक्तित्व को भूल पाना कठिन है। एक ओर कविता में सिद्धांत के तौर पर अज्ञेय व्यक्तित्व से दूरी बनाने की बात करते हैं तो दूसरी ओर कुछ ऐसा करते रहते हैं कि उनके एक अलग व्यक्तित्व की उपस्थिति कविता में बनी रहती है। छायावादी कवि का व्यक्तित्व और तरह से कविता में आता था। वह आत्मानुभूति की कविता थी। अज्ञेय **मैं** से दूरी बनाकर चलते हैं, लेकिन व्यक्तित्व की स्वतंत्रता का बोध पाठक को कराते रहते हैं। एक स्तर पर उनकी कविता ही **व्यक्तित्व की खोज** की कविता का रूप ले लेती है। पहले ही ध्यान में रखें कि अज्ञेय **प्रयोगवाद** नामक काव्य-आंदोलन के प्रवर्तक के रूप में भी जाने जाते हैं। वे कहते रहे हैं कि प्रयोग का कोई वाद नहीं होता। पर **प्रयोगशीलता** को कविता की प्रमुख समस्या के रूप में बार-बार विश्लेषित भी करते रहे हैं। यह बात छिपी नहीं रह गई है कि अज्ञेय ने प्रयोगवाद की दिशा निर्धारित की है। उसका काव्यशास्त्र बनाया है। **रोमांटिक भाव-बोध में स्वाधीनता** का, **आत्मचेतना** का अनुभव जोड़ दें तो अज्ञेय का आधुनिक भाव-बोध समझ में आने लगेगा। अज्ञेय वस्तु और शिल्प की नवीनता

के रूप में कितने सजग हैं, यह उनके आधुनिक अनुभव या भाव-बोध को देखते ही समझ सकते हैं।

अज्ञेय को पढ़ते हुए छायावादोत्तर कविता के परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखना होगा। आरंभिक कविताओं में अज्ञेय छायावाद के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं, परंतु वहीं कुछ-कुछ नएपन का आग्रह भी दिख जाता है। छायावाद के अंत के साथ प्रगतिवाद आया। यह 1935-36 का समय है। अज्ञेय प्रगतिशील लेख संघ के आयोजनों में उपस्थित रहे परंतु व्यक्तित्व की स्वतंत्रता शीघ्र ही उनका प्रमुख आग्रह बनी तथा 1943 में **तार सप्तक** का संपादन भले ही संयोग हो, तार सप्तक में कवि अज्ञेय का अपना वक्तव्य और संपादक अज्ञेय का वक्तव्य **प्रयोग** और **अन्वेषण** को कविता का महत्वपूर्ण प्रयोजन बताते हैं। प्रगतिवाद सामाजिक चेतना के साथ अपनी काव्य-भूमि का निर्माण करता है। प्रयोगवाद की मुख्य समस्या नए अनुभव, नए मूल्य-बोध और भाषा-शिल्प के नए प्रयोग की है।

अज्ञेय को कवि के रूप में पढ़ने के लिए **दूसरा सप्तक** की भूमिका के इस अंश को ध्यान में रखें। दूसरा सप्तक (1951) की भूमिका के शब्द हैं - वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फलप्रद होता है। राग वही रहने पर भी **रागात्मक संबंधों की प्रणालियाँ** बदल गई हैं। कवि नए तथ्यों को उनके साथ नए रागात्मक संबंध जोड़कर नए सत्यों का रूप दे - यही नयी रचना है। यह बात ध्यान में रहे कि तीसरा सप्तक (1959) को **नयी कविता** के एक प्रतिनिधि चयन के रूप में देखा जाता है जिसकी भूमिका में अज्ञेय कहते हैं - 'नयी कविता की प्रयोगशीलता का पहला आयाम भाषा से संबंध रखता है।' अब हम देख सकते हैं कि अज्ञेय की कविता की मुख्य पहचान है - वस्तु और भाषा तथा रूप की नवीनता। उन्हें पढ़ते हुए कविता की समग्र बनावट (अंतर्वस्तु और भाषा) पर ध्यान देना ज़रूरी है। याद रखना ज़रूरी है कि अज्ञेय की कविता आधुनिक भाव-बोध की कविता है जो पहले से प्रचलित काव्य-विधान से संभव नहीं है।

अज्ञेय के पाठ के अनुकूल दृष्टि और पद्धति विकसित करते हुए उनकी कविता **कलगी बाजरे की** पर ज़रूर ध्यान जाना चाहिए। यह कविता बताती है कि एक ढर्रे पर चलने वाली कविता से अज्ञेय का विरोध कहाँ और क्यों है। कुछ पंक्तियाँ हैं -

अगर मैं तुमको
    ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
    या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुंई,
    टटकी कली चम्पे की
    वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
    बल्कि केवल यही :
    ये उपमान मैले हो गए हैं
    देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच!
    कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।

सही पद्धति यही होगी कि हम अज्ञेय की विशेषताओं को कविता में ही देखें और समझें। कई बार कविता का अर्थ जानना ज़रूरी या पर्याप्त नहीं होता। समग्र पाठ और प्रभाव ग्रहण ज़रूरी होता है।

7.2 छायावादोत्तर कविता : प्रयोगवाद और नई कविता

अज्ञेय को व्यापक अर्थ में आधुनिक कवि के रूप में देखना चाहिए। मुख्यतः वे प्रयोगवादी या प्रयोगशील कवि हैं। उनकी दृष्टि में नयी कविता प्रयोगशील कविता का ही विकास है। परंतु याद रहे नयी कविता यदि एक अर्थ में प्रयोगवादी या प्रयोगशील कविता का विकास है तो दूसरे अर्थ में प्रगतिवादी या प्रगतिशील कविता का विकास है। नयी कविता में प्रगतिवाद का सामाजिक सरोकार भी है और प्रयोगशीलता की सहज स्वाभाविक आकांक्षा भी। चमत्कारपूर्ण प्रयोग का आग्रह नयी कविता में कम है या नहीं है। अज्ञेय जब 'नदी के दीप' या 'यह दीप अकेला' जैसी कविता लिखते हैं तो वैयक्तिकता और सामाजिकता का द्वंद्व भी दिखाई देता है। जब वे कहते हैं:

यह दीप अकेला स्नेह-भरा
है गर्व-भरा मदमाता पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

तो सामाजिकता को स्वीकार भी करते हैं परंतु आगे याद दिलाते हैं कि सर्जक व्यक्तित्व का अँकेलापन अद्वितीयता खोने के लिए नहीं है। यह सामाजिकता और वैयक्तिकता का द्वंद्व अज्ञेय की कविता का बहुत ज़रूरी संदर्भ है। यह अज्ञेय की कई कविताओं में प्रकट है। अज्ञेय 'साँचे ढले समाज' की जगह 'अच्छी कुंठारहित इकाई' के पक्ष में हैं। अज्ञेय का यह एक मुख्य काव्य-अभिप्राय है।

7.2.1 प्रयोगवाद : रोमांटिक तथा आधुनिक दृष्टि का द्वंद्व

अज्ञेय ने जिस काव्यादर्श को प्रयोगवाद में क्रमशः मूर्त किया उसमें यदि एक द्वंद्व 'रोमांटिक' और 'आधुनिक' के बीच था तो दूसरा 'परंपरा' और 'आधुनिकता' के बीच। रोमांटिक अनुभव का जान-बूझकर निषेध अज्ञेय के यहाँ नहीं है। परंतु जैसा पहले संकेत किया गया, 'आत्म-चेतना' या खास तरह के 'आत्म-बोध' से जुड़कर वही आधुनिक-बोध बन जाता है। इसी प्रकार, अज्ञेय परंपरा को अस्वीकार नहीं करते पर उसे 'पोटली में बाँधकर रखा गया पाथेय' भी नहीं मानते। उससे एक तनावपूर्ण संबंध बनाते हुए वे 'आधुनिक अनुभव' तक पहुँचते हैं। यह तनाव ही अज्ञेय को आधुनिक भाव-बोध का कवि बनाता है।

'भग्नदूत' में अज्ञेय का अनुभव और कहने का ढंग छायावाद से भिन्न नहीं है। ये कविताएँ हैं भी छायावाद वाले दौर की हीं - 1929 से 1932 के बीच कीं। संग्रह छपा 1933 में। विषय वही - ससीम असीम के प्रणय प्रसंग। 'चिन्ता' (1941) में कुछ भिन्नता है। प्रेम का अनुभव कुछ प्रगाढ़ है। प्रेम सख्यभाव लिए हुए। 'इत्यलम्' (1946) में 1933 से 1946 तक की कविताएँ संकलित हैं। इनमें कहीं प्रेम की विफलता है तो कहीं बौद्धिकता का रंग लिए आत्म-व्यंग्य। कहीं स्त्री-देह के प्रति और कहीं प्रकृति के लिए आकर्षण। रोमांटिक और आधुनिक स्वभाव का द्वंद्व 'हरी घास पर क्षण भर' (1949), 'बावरा अहेरी' (1954) और 'इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये' (1957) में अधिक गहरा हुआ है। 'हरी घास पर क्षण भर' के आगे अज्ञेय नयी कविता आंदोलन के निकट हैं और उसपर मिली-जुली प्रतिक्रिया करते हैं। अनुभूति और संवेदना की गहराई भी इस कालखंड की कविताओं में प्रकट है। प्रयोगवाद-काल की कविताओं में मुखरता है। एक तरह का उद्दाम अतिकथन भी है - 'आह मेरा श्वास है उत्तप्त / धमनियों में उमड़ आयी है लहू की धार / प्यार है अभिशप्त / तुम कहाँ हो, नारि!' पर 'मौन भी अभिव्यंजना है' - यह अज्ञेय समझते हैं और अधिक सांकेतिकता की ओर उन्मुख हैं।

7.2.2 नई कविता : वैयक्तिकता तथा सामाजिक सरोकार : संबंध और द्वंद्व

एक सुविधापूर्ण विभाजन यह है कि 1950 से 1960 के बीच की कविता नयी कविता है। इस दृष्टि से 'तीसरा सप्तक' (1959) को नयी कविता का प्रतिनिधि संग्रह माना जाता है। 1960 के बाद की हिंदी कविता एक अलग प्रकार के मोह-भंग की सूचक है। साठोत्तरी कविता लगभग

एक अवधारणा बन चुकी है। अज्ञेय आगे की कविता के साथ जुड़ाव नहीं अनुभव करते। यही कारण है कि 'चौथे सप्तक' के प्रकाशन का आगे की नयी कविता पर कोई प्रभाव नहीं है।

नयी कविता वाले दौर का एक प्रमुख द्वंद्व है **व्यक्तित्व की स्वतंत्रता और सामाजिक दायित्व** का द्वंद्व। इस विषय पर न केवल तीव्र विचार-मंथन दिखई देता है, बल्कि अज्ञेय की 'नदी के दीप', 'यह दीप अकेला कविताएँ भी पाङ्क्क को प्रभावित करती हैं । इनमें कवि सामाजिक प्रवाह में घुल-मिल जाना चाहता है, पर सृजनात्मकता की अद्वितीयता और विशिष्टता बचाकर।

क) यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा
यह समिधा : ऐसी आग हठ्ठीला बिरला सुलगायेगा
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मै। स्वमं विसर्जिन
यह दीप, अकेला, स्नेह-भरा
है गर्व-भरा मदमाता, पर
इसका भी पंक्ति को दे दो

-- यह दीप अकेला

ख) किंतु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा।
हम सदा से द्वीप है स्रोतस्विनी के।
किंतु हम बहते नहीं हैं
क्योंकि बहना रेत होना है।

-- नदी के द्वीप

अज्ञेय के ये दोनों उदाहरण 'यह दीप अकेला' 'नदी के द्वीप -- इन प्रतिनिधि कविताओं से लिए गए हैं। अकेला दीपक जो स्नेह-भरा गर्व-भरा-भरा है सर्जनात्मक अद्वितीयता अर्थात् वैयक्तिकता का प्रतीक है। अज्ञेय उसे पंक्ति को अर्थात सामाजिकता को दे देना चाहते हैं। पर उसके अकेलेपन को जीवंत स्वाधीन रखकर। इसी द्वीप का द्वीपत्व महत्वपूर्ण है। वह धारा में है, धारा से ही बना है, पर जब बन गया है, तो धारा में विलीन हो जाना उसे स्वीकार नहीं। क्योंकि बह जाना रेत हो जाना है और रेत की तरह धारा में मिलने की सार्थकता ही क्या। इसलिए धारा में होकर भी उसको अद्वितीयता बनी रहे यही कवि को भी स्वीकार है।

.2.3 मूल्यबोध और समकालीन कविता

अज्ञेय को पढते हुए आप बराबर अनुभव करेगे कि वे अवधारणाओं, विचारों मूल्यों के कवि हैं पर वे औसत मूल्य को भी अपने निजी व्यक्तित्व के स्पर्श से से नया मूल्य बना देते हैं। नयी कविता आंदोलन के बाद भी वे समकालीन काव्य परिदृश्य पर अपनी निजी पहचान बनाए रख सके - यह अपने आप में महत्वपूर्ण है। प्रेम, विषाद, मृत्यु का उनका अपना अनुभव कविता में नया विचार बनता है। उनका मूल्य बोध उनका काव्य मुहावरा बन जाता है। कभी उनका कथन इतना सादा है :

मै आस्था हूँ
तो मै निरंतर उठ्ठते रहने की शक्ति हूँ
मै व्यथा हूँ
लो मै मुक्ति का श्वास हूँ

कभी संकेत पर भी उनका खारा बल है। कविता प्रेम की हो तो ज़रूरी नहीं कि प्रेम की अभिव्यक्ति ढर्रे पर चलकर संभव हो। उधार कविता में एक तरह की नाटकीयता है, पर प्रेम एक असीमित अकथित मूल्य है जिसे संवेदनशील पाङ्क्क ग्रहण कर सकता है :

मैंने कहा : प्यार? उधार?
— —
उस अनदेखे अरूप ने कहा - हाँ,
क्योंकि ये ही सब चीज़ें तो प्यार हैं -
यह अकेलापन, यह अकुलाहट,
यह असमंजस, अचकचाहट,
आर्त अनुभव..............
यह अंधकार में जाग कर सहसा पहचानना
कि जो मेरा है वही ममेतर है।

महत्वपूर्ण है प्यार की अस्पष्टता, प्यार की व्यापकता। पर प्यार ऐसा कि बंधना कोई शर्त नहीं है। यही है प्रेम के प्रति एक आधुनिक दृष्टिकोण। प्रेम प्रगाढ़ता में बाँधता नहीं, मुक्त करता है। 'सागर' श्रृंखला की कविताओं में सागर मुक्त करता है। करुणा, मानवीय आत्मीय सहज मूल्य हैं। 'आत्मदान' सहज मूल्य है। 'हम खोते हैं तो होते हैं।'

7.3 अज्ञेय : आत्मबोध और जीवन दृष्टि

अज्ञेय का आत्मबोध आत्मलीनता तक सीमित नहीं है। आप अनुभव करेंगे कि अज्ञेय का आत्म-बोध व्यक्ति-सत्य और व्यापक सत्य के बीच एक नया संबंध बनाता है। अज्ञेय जीवन से प्रेम करते हैं पर इस प्रेम को निस्संग विस्मय का-सा भाव बताते हैं। जीवन सुंदर है आश्चर्यजनक रूप से, सुंदर है पर ज़रूरी है कि जीवन को सीधे देखें, काँच में से न देखें। काँच में से देखेंगे तो रूपों में भटक जाएंगे। जीवन तक पहुँचेंगे ही नहीं। 'सोन मछली' कविता यही कहती है। प्रतीक नया नहीं है पर अर्थ नया है। संकेत के लिए बिम्ब नया है :

हम निहारते रूप :
काँच के पीछे हाँप रही है मछली।
रूप-तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।

यहाँ मछली का प्रतीक सत्य के अन्वेषण में सहायक है। अज्ञेय की जीवन-दृष्टि के प्रमुख संदर्भ हैं - व्यक्ति स्वातंत्र्य और व्यक्तित्व का विसर्जन, या अहं का विलयन या आत्मदान। जैसा पहले अज्ञेय की कविताओं (यह दीप अकेला, नदी के द्वीप) के उदाहरणों को ध्यान में रखकर कहा गया है - व्यक्तित्व एक ओर विराट सामाजिकता के प्रति समर्पित है - ऐसे, कि उसे दे दिया जाना है, पर दूसरी ओर उसका विशिष्ट अद्वितीय पक्ष जो सर्जनात्मकता का स्रोत है, उसे बचा लेना भी कवि-कर्म का हिस्सा है।

7.3.1 'भग्नदूत' (1933) से 'आँगन के पार द्वार' (1961) तक

अज्ञेय के आत्म-बोध को कविताओं में देखें। जब वे कहते हैं :

दुःख सबको माँजता है
और -
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।

--'हरी घास पर क्षण भर से'

यहाँ संकेत है कि दुःख आत्म-परिष्कार और आत्म-प्रसार, दोनों में किस तरह सहायक है। **'बावरा अहेरी'** में अहेरी सूर्य है। कवि सूर्य से प्रार्थना करता है कि वह उसके मन-विवर में छिपी **'कलौंस'** या कालिमा को दूर करे - भाषा प्रश्न की, पर प्रार्थना के आशय के साथ :

एक बस मेरे मन-विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोड़कर क्या तू चला जायेगा?

-- बावरा अहेरी

'अरी ओ करुणा प्रभामय' (1959) और 'आँगन के पार द्वार' (1961) की कविताओं में आत्म-बोध, आत्मदान का बोध है। वही कवि की जीवन-दृष्टि भी है। सर्जनात्मक अनुभव एक आस्तिक का-सा अनुभव है। उसे आलोचक एक नए आध्यात्मिक अनुभव के रूप में भी देखते आए हैं। एक नए रहस्यवाद के रूप में :

मैंने देखा
एक बूँद सहसा
उछली सागर के झाग से :
रंगी गयी क्षण भर
ढलते सूरज की आग से।

अज्ञेय स्वीकार करते हैं कि नया काव्यानुभव उनके लिए 'सूने विराट' के सम्मुख एक 'आलोक छुआ अपनापन' है। वही 'नश्वरता के दाग' से 'उन्मोचन' भी है। वही 'काल' में 'कालातीत' को संभव करने का क्षण है। ये धारणाएँ बार-बार आपके सामने अज्ञेय के पाठ के क्रम में आएंगी।

7.3.2 'आँगन के पार द्वार' के बाद अज्ञेय

अज्ञेय की जिजीविषा उन्हें एक नए मानवबाद के कवि के रूप में देखने के लिए प्रेरित करती है। यह केवल धारणा या विचार नहीं, जीवन-बोध है, सजग काव्य-बोध है। 'बना दे चितेरे' कविता की अंतिम पंक्तियाँ हैं :

तू अंतहीन काल के लिए फलक पर टाँक दे -
क्योंकि यह माँग मेरी, मेरी, मेरी है कि प्राणों के
एक जिस बुलबुले की ओर मैं हुआ हूँ उदग्र, वह
अंतहीन काल तक मुझे खींचता रहे -------------

'मानव अकेला' मनुष्य में कवि की अदम्य आस्था का संकेत है। यहाँ 'मानव' को 'अँगारे-सा', 'भगवान-सा',. 'अकेला' कहना विशेष अर्थ रखता है। जहाँ लोकाचार राख की युगों-युगों की परतें हैं - मनुष्य है कुछ ऐसा :

भीड़ों में
जब जब जिस-जिससे आँखें मिलती हैं
वह सहसा दिख जाता है
मानव
अंगारे-सा भगवान-सा
अकेला।

रमेशचन्द्र शाह अज्ञेय के एक सजग पाठक-आलोचक हैं। वे मानते हैं कि अज्ञेय के लिए **आधुनिकता 'संस्कार' है, संस्कारवान** होने की क्रिया है, बल्कि एक प्रक्रिया है। इसलिए **आधुनिकता उनके लिए पश्चिमी ढंग का** विच्छिन्नता-बोध नहीं है। अज्ञेय का आत्म-बोध उस **महामौन के अनुभव तक पहुँचना** चाहता है जो अविभाज्य है। 'असाध्य वीणा' में कलाकार ने **सृजन प्रक्रिया के इस रहस्य** को जान लिया है और दूसरों पर प्रकट भी कर दिया है। इस कविता पर हम आगे भी विचार करेंगे। **अभी यही पंक्तियँ देखे जिनसे अज्ञेय के आत्म-बोध और**

जीवन-दृष्टि का अनुमान किया जा सकता है। आप इन पंक्तियों को सतर्कता से पढ़ें - यहाँ एक-एक शब्द महत्वपूर्ण है :

श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में -
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था -
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी -
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रेमय
जो शब्दहीन
सब में गाता है।

7.4 अज्ञेय की कविता : आधुनिक बोध और संवेदना

पहले ही यह स्पष्टीकरण ज़रूरी है कि आधुनिकता समय-सापेक्ष संज्ञा है और वह मूल्य-बोधक भी है। समसामयिकता से एक सीमित अर्थ का बोध होता है। यहाँ मूल्य का आग्रह नहीं है। आधुनिकता मूल्य-बोध है और उसका संदर्भ व्यापक है। इसलिए इलियट जैसे विचारक परंपरा के साथ द्वंद्वात्मक संबंध से आधुनिक भाव-बोध को सम्बद्ध करते रहे हैं। आधुनिकता परंपरा को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं करती। उससे प्रश्न करती है। प्रश्नशीलता आधुनिक भाव-बोध की अभिव्यक्ति की खास युक्ति है। वह रीति या रूढ़ि के विरूद्ध है। आधुनिकता में विद्रोह और विक्षोभ का विशेष अनुभव भी शामिल है। निर्वैयक्तिकता भी उसका खास लक्षण है। अज्ञेय जैसे आधुनिक बोध के कवि के लिए प्रेम सामान्य प्रेम नहीं, दुख सामान्य दुख नहीं, मुक्ति या मृत्यु सामान्य मुक्ति या मृत्यु नहीं। प्रकृति भी वही नहीं, जो दूसरों के लिए है। अज्ञेय को श्वेत चाँदनी 'वंचना' लगती है, आकाश का गहन विस्तार 'झूठ' लगता है, पूर्णिमा की शांति 'निस्सार' लगती है। आधुनिकता का बोध कभी आघात पैदा करने वाला है।

7.4.1 समय का बोध

आधुनिक औद्योगिक बस्तियाँ, पहाड़ियों से घिरी छोटी-सी घाटी में विकर्षण पैदा करती हैं। मुँहझांसी चिमनियाँ दिन-रात धुआँ उगलती हैं। यह समय है। यह अनुभव भी समय का विशिष्ट अनुभव है : 'मैं वह धनु हूँ जिसे साधने / में प्रत्यंचा टूट गयी है।' कविजनोचित सत्य से हटकर यह अनुभव भी एक बदले हुए समय का सच है :

क्रौंच बैठा हो कभी बल्मीक पर
तो मत समझ
वह अनुष्टुप बाँचता है संगिनी के स्मरण में
जान ले वह दीपकों की टोह में है -----

-'हरी घास पर क्षण भर' से

अज्ञेय समय को सीधे या स्थूल रूप में प्रत्यक्ष नहीं करते। समय के बदलने के साथ प्रेम, प्रकृति और अन्य जीवनानुभवों का अर्थ कैसे बदल जाता है यह दिखाते हैं। 'दूर्वाचल' कविता प्रकृति के बहाने प्रेम को एक नयी दृष्टि से देखने और व्यक्त करने वाली कविता है। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

7.4.2 स्वाधीन चेतना : व्यक्तित्व की खोज

रचनात्मक स्वाधीनता और **व्यक्तित्व की खोज** के संकेत अज्ञेय की आरंभिक कविताओं में भी मिलते हैं। जब वे लिखते हैं 'सखि आ गये नीम को बौर' तो वे परंपरा से हटते हैं, परिपाटी से हटते हैं। आम्र वृक्ष से बौर का संबंध न जोड़कर, नीम से जोड़ने के पीछे अभिव्यक्ति की नई आज़ादी का बोध है। **सत्य का अन्वेषण** एक ऐसा अभिप्राय है जिसमें आप अज्ञेय की स्वाधीन चेतना का अनुभव कर सकते हैं। अज्ञेय दूसरों के दिए सत्य पर निर्भर नहीं हैं। सत्य की नई खोज करते हैं। कभी यही खोज व्यक्तित्व की खोज का रूप ले लेती है। 'घर कुटीर का छोटा-सा दिया', 'छोटी-सी ज्योति' जैसे प्रयोगों में आप अज्ञेय की स्वाधीन चेतना और व्यक्तित्व की खोज की झलक पा सकेंगे।

क) मेरे छोटे घर - कुटीर का दिया
तुम्हारे मंदिर के विस्तृत आँगन में
सहमा-सा रख दिया।

-- 'आँगन के पार द्वार' से

ख) कितनी दूरियों से कितनी बार
कितनी डगमग नावों में बैठकर
मैं तुम्हारी ओर आया हूँ
ओ मेरी छोटी-ज्योति!
कितनी बार मैं,
धीर, आश्वस्त, अक्लान्त
ओ मेरे अनबुझे सत्य! कितनी बार.......

--'कितनी नावों में कितनी बार' से

देखें कि यही **अनबुझे सत्य** की खोज कवि के लिए **व्यक्तित्व की खोज** भी है। अज्ञेय के लिए व्यक्तित्व की खोज **कुण्ठा-रहित इकाई** की खोज है - याद करें - 'यह दीप अकेला', 'नदी के द्वीप' जैसी कविताएँ और इस स्पष्टीकरण को देखें :

अच्छी कुण्ठा रहित इकाई
साँचे ढले समाज से........

7.4.3 प्रकृति, प्रेम, सौंदर्य, आत्मदान, मृत्यु आदि अनुभव

अज्ञेय आधुनिक-बोध और संवेदना के कवि हैं। इसे हम और अधिक तीव्रता से अनुभव करेंगे - प्रकृति, प्रेम, सौंदर्य, आत्मदान, मृत्यु आदि अनुभवों की अभिव्यक्ति के रूप में। अज्ञेय की एक प्रसिद्ध कविता है 'दूर्वाचल' - यह प्रकृति और प्रेम दोनों का एक सर्वथा नया बोध प्रस्तुत करती है। आगे जब हम अज्ञेय की काव्य-भाषा और शिल्प पर विचार करेंगे तो यह कविता फिर याद आएगी। यह पूरी कविता इस प्रकार है :

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी।
    बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में
    मैंने आँख भर देखा।
दिया मन को दिलासा-पुनः आऊँगा।
(भले ही बरस-दिन अनगिन युगों के बाद!)
क्षितिज ने पलक-सी खोली,
तमक कर दामिनी बोली -
    'अरे यायावर! रहेगा याद?'

यह कविता माँग करती है कि बार-बार पढ़ें। हड़बड़ी में, जल्दी में कोई एक सीधा अर्थ निकालने से बचें। अर्थ की व्याप्ति-सी है कविता में। खुली है। नए-नए अनुमानों, अर्थों के लिए। यात्रा का अनुभव है। प्रकृति को यात्री की दृष्टि से देखा जा रहा है। कल्पना के उपयोग में कवि सक्रिय है। इस तरह यात्री और कवि एक ही हैं। एक हो गए हैं। पर्वत-प्रदेश का सुरम्य चित्र। एक अद्‌भुत बिम्ब। नम्र है - गिरि का पार्श्व। पार्श्व है, इसीलिए नम्र है। यों पूरा परिदृश्य स्निग्ध कोमलता लिए हुए है। चीड़ पंक्ति : ऊँचाई : 'डगर चढ़ती' - डगर चढ़ना, जैसे उमंगों की उठान। और नीचे पैरों में बिछी पतली नदी। जैसे 'दर्द की रेखा'। अज्ञेय का प्रयोग है - 'दर्द की रेखा'। 'दर्द' शब्द यों ही कहीं आए तो एक हल्कापन आने का डर है। परंतु यही अज्ञेय की क्षमता है - दर्द की रेखा-सरीखी खिंची है, पतली नदी। जैसे चित्र में जड़ी हो, अंकित हो। नीड़ों में विहग-शिशु। यह है राग, प्रेम, वत्सलता, प्रेम की फलश्रुति। फिर यह आश्वासन कि फिर आऊँगा। पर यात्री का स्वभाव नहीं है उन्हीं जगहों पर बार-बार जाना। इसलिए दामिनी का तमक के साथ व्यंग्य - 'अरे यायावर! रहेगा याद।' झूठे आश्वासन पर चोट। यात्री का अनुभव जैसे प्रेम का अनुभव। प्रेम का एक वह सघन क्षण, जिसे दुहराया नहीं जा सकता।

प्रेम के क्षण दुहराए नहीं जाते - यह अज्ञेय बार-बार कहते हैं। कितनी ही कविताओं में। अज्ञेय के लिए प्रेम बिना आशा, बिना आकांक्षा के भी संभव है - यह आधुनिक बोध है प्रेम का :

ओ प्यार। कहो, है इतना धीरज,
चलो साथ
यों : बिना आशा-आकांक्षा
गहे हाथ?

'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' से

अज्ञेय के लिए प्रेम वह अनुभव है जिसमें 'अभिमान की कसक' रोने नहीं देती। अर्थात् भावुकता पर नियंत्रण-सा बना रहता है।

सौंदर्य की ऐन्द्रिक अनुभूति भी परिचित अनुभव में कुछ नया जोड़ती है। वह आधुनिक संवेदना के कारण ही :

बेल-सी वह मेरे भीतर उगी है, बढ़ती है।
उसकी कलियाँ हैं मेरी आँखें,
कोंपलें मेरी अँगुलियों में अंकुराती हैं,
फूल-अरे, यह दिल में क्या खिलता है।

प्रश्न ही सौंदर्य को एक नया आयाम देता है। कभी सागर का बोध है जो घेरता है पर निर्बंध करता है मुक्त करता है। सौंदर्य का बोध तटस्थता देता है, मुक्त करता है, यही एक आधुनिक कवि का बोध है।

अपने लिखे हुए को भी मिटाते चलना - अज्ञेय जैसे कवि के लिए यह भी आत्मदान है। 'मैं सच लिखता हूँ / लिख लिख कर सब / झूठा करता जाता हूँ।' यह निस्संगता आधुनिक बोध है। अज्ञेय के यहाँ मृत्यु का वरण है। डर नहीं है। मृत्यु का स्वीकार - एक आधुनिक कवि का स्वीकार है। प्रेम और मृत्यु अभिन्न हो जाते हैं यहाँ। देखें, कि आधुनिक कवि के बोध में विडम्बना का बोध किस तरह शामिल है :

सागर को प्रेम करना
मरण की प्रच्छन्न कामना है
मरण अनिवार्य है
प्रेम
स्वच्छंद वरण है

अज्ञेय के मृत्यु-बोध के लिए रमेशचन्द्र शाह इन पंक्तियों की याद दिलाते हैं :

> शब्द यह सही है सब व्यर्थ है
> पर इसलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ है

और निष्कर्ष निकालते हैं कि क्षण-क्षण जो मरता दिखता है वही कवि अविरल अंतःसत्व है। (अज्ञेय, रमेशचन्द्र शाह, पृ.37)

इस तरह हम देख सकते हैं कि अज्ञेय के यहाँ प्रकृति, प्रेम, सौंदर्य, आत्मदान, मृत्यु जैसे अनुभव आते हैं तो किस प्रकार आधुनिक बोध और संवेदना का हिस्सा बन कर आते हैं।

7.5 प्रमुख कविताओं के आधार पर अज्ञेय का मूल्यांकन

छायावादोत्तर कविता में प्रयोगवाद और नयी कविता के महत्वपूर्ण कवि अज्ञेय का अध्ययन करते हुए हमने उनके काव्य-विकास, आधुनिक बोध और संवेदना, स्वाधीन चेतना और व्यक्तित्व की खोज जैसे विषयों पर विचार किया है और अज्ञेय की कविता के प्रति उत्तरोत्तर अपने को सजग बनाया है। प्रमुख कविताओं के अंश बीच-बीच में आते रहे हैं और हम उनमें अज्ञेय की विशेषताओं को ठीक-ठीक देख सके हैं। अज्ञेय की काव्य-यात्रा में से कुछ कविताओं को चुनकर अलग से हम विचार कर सकते हैं। इससे यह भी पता चलेगा कि किस तरह कविता के मर्म को पहचानें और किस तरह कविताओं का विश्लेषण तथा मूल्यांकन करें।

7.5.1 'असाध्य वीणा' में अज्ञेय

आप अज्ञेय की कविताओं से कुछ विशिष्ट महत्वपूर्ण पाठ विश्लेषण के लिए चुनना चाहेंगे तो उनकी सबसे महत्वाकांक्षी कविता 'असाध्य वीणा' की ओर ज़रूर ध्यान जाएगा। यह एक लंबी कविता है जिसके मूल में आख्यान है। आख्यान का आधार यह संदर्भ है कि वीणा असाध्य तब तक है जब तक वह चेतन किरीटी तरू से कटी हुई है। जो अपने को कलावंत मानकर वीणा बजाना चाहता है वह असफल है। जो वीणा में किरीटी तरू की उपस्थिति मानकर उसे साधना चाहता है, बजाना चाहता है वह सफल होता है। एक तो कविता की शब्दावली पर ध्यान दे जिससे कविता एक मिथकीय परिवेश निर्मित करती है :

> केश कम्बली/ वज्रकीर्ति / किरीटी तरू / वासुकि नाग / तथता / महामौन / महाशून्य / अविभाज्य / अभिमंत्रित / राजा-रानी / राजसभा

फिर कथा-विन्यास पर ध्यान दें - प्रियवंद केशकम्बी का आगमन, राजा का स्वागत, आशय-ज्ञापन, असाध्य वीणा का प्रियंवद के समक्ष रखा जाना, वीणा का इतिहास-वृत्त, किरीटी तरू से वज्रकीर्ति द्वारा निर्माण, किरीटी तरू का वर्णन, वीणा की असाध्यता का उल्लेख, सच्चे स्वर-सिद्ध की प्रतीक्षा, केशकम्बली का साधना-प्रयत्न, प्रभाव, प्रियवंद का उत्तर, प्रस्थान........।

कविता जो मिथकीय वातावरण बनाती है उसमें देखें किरीटी तरू की ऊँचाई का वर्णन : (किरीटी तरू की व्यंजना : मुकुटधारी, वृक्षराज)

> उसके कानों में हिमशिखर रहस्य कहा करते थे अपने
> कंधों पर बादल सोते थे-------------
> जड़ उसकी जा पहुँची थी पाताल-लोक
> उसकी गंध प्रवण शीतलता से फण टिका नागवासुकि सोता था

देखें वीणा को संभालने-साधने का यह ढंग :

> केशकम्बली गुफागेह ने खोला कम्बल।

धरती पर चुपचाप बिछाया।
वीणा उस पर रख, पलक मूँदकर, प्राण खींच
करके प्रणाम
अस्पर्श छुअन से छुए तार

वीणा का बजना क्या है जैसे वृक्ष का परिवेश उभरता हो! स्मृतियों के साथ! एक-एक झंकृति के लिए अत्यंत सतर्क बिम्ब योजना है : 'पन्थी के घोड़े की टाप अधीर / अचंचल धीर थाप येसों के भारी खुर की /------------बटिया पर चमरौंध की रुंधी चाप सातवें के लिए / और आठवें को कुलिया की कटी मेड़ से बहते जल की छुल-छुल------------।'

प्रियवंद के लिए वीणा बजाने की प्रक्रिया में अहं का विलयन अनिवार्य है :

मुझे स्मरण है -
पर मुझको मैं भूल गया हूँ :

असाध्य वीणा' में वीणावादक का विलक्षण प्रभाव कुछ ऐसा :

डूब गये सब एक साथ।
सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे।

महत्वपूर्ण यह है कि अपने को भूलकर ही प्रियवंद को स्वर-सिद्धि मिली। हम अज्ञेय को पढ़ते हुए कुछ प्रयोगों की विशिष्टता पर ध्यान दें, यह आवश्यक है - जैसे :

करके प्रणाम
अस्पर्श छुअन से छुए तार

'स्पर्श' वादन-प्रक्रिया का अंग है। यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि तार ' छुए' नहीं गए। कहा जा रहा है कि स्पर्श (तार को काटने की-सी अर्थ-ध्वनि) का प्रयत्न नहीं किया गया। जैसे, अपने आप बज उठी वीणा।

इस तरह 'असाध्य वीणा' को पढ़ते हुए हम अज्ञेय के आधुनिक भाव-बोध और संवेदना को भाषा में पूर्णतर अभिव्यक्ति पाते हुए देख सकते हैं। ये कविताएँ हर बार संपूर्ण पाठ की माँग करती हैं।

7.5.2 अन्य कविताएँ

हमारे अध्ययन के बीच कुछ कविताओं के संदर्भ संकेत उभरते रहे हैं जैसे 'यह दीप अकेला', 'नदी के द्वीप', 'कलगी बाजरे की', 'दूर्वाचल'....। कुछ कविताएँ अलग से विचारणीय हैं, जैसे - 'सम्राज्ञी का नैवेद्य दान', 'आज तुम शब्द न दो'। 'सम्राज्ञी का नैवेद्य दान' पर टिप्पणी है - 'जापान की सम्राज्ञी कोमियो प्राचीन राजधानी नारा के बुद्ध मंदिर में जाते समय असमंजस में पड़ गई थी कि चढ़ाने को क्या ले जाए। फिर रीते हाथ गयी थी।' महत्वपूर्ण है यह तर्क कि जो फूल जहाँ खिला है, वहीं खिला रहे, मैं वहीं उसे अर्पित करती हूँ। इस तर्क में ही कविता या काव्यात्मकता है। इस काव्यात्मक तर्क को इन पंक्तियों में देखें :

जो कली खिलेगी जहाँ, खिली,
जो फूल जहाँ हैं
जो भी सुख
जिस भी डाली पर
हुआ पल्लवित, पुलकित,
मैं उसे वहीं पर
अक्षत, अनाघ्रात, अस्पृष्ट अनाविल,

हे महाबुद्ध!
अर्पित करती हूँ तुझे।

अज्ञेय का आत्म-सजग व्यक्तित्व 'नदी के द्वीप' जैसी कविता में कहना चाहता है कि उसे खोकर समाज के साथ सम्पृक्ति निरर्थक है। द्वीप को धारा से अलग बने रहना है। रेत नहीं होना है। कभी ज़्यादा तेज़ प्लवन हो, टूट-फूट हो तो फिर रेत में से छनकर पैर टिकाकर द्वीप में नए व्यक्तित्व का आकार बनेगा। नदी तब माँ की तरह उसे संस्कारित करेगी। कविता को एकदम शुरू से पढ़ें और द्वीप की प्रतिज्ञा से परिचित हों :

हम नदी के द्वीप हैं
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर
स्रोतस्विनी बह जाए
वह हमें आकार देती है
हमारे कोण, गलियाँ, अंतरीप, उभार, सैकत कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं
माँ है वह
है, इसी से हम बने हैं।

'आज तुम शब्द न दो' कविता काव्य-प्रक्रिया से संबंधित है। आप अज्ञेय को पढ़ते हुए बराबर अनुभव करते आए हैं जैसे कवि अपनी अभिव्यक्ति से संतुष्ट नहीं हो पाता। जैसे एकमात्र उपयुक्त शब्द या सार्थक अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा बनी ही रहती है। जिस स्रोत से अभिव्यक्ति संभव होने वाली है, उससे कवि का एक तनाव-भरा द्वंद्वात्मक रिश्ता बना रहता है। अब इन पंक्तियों को देखें :

आज तुम शब्द न दो, न दो
        कल भी मैं कहूँगा
तुम पर्वत हो अभ्रभेदी शिलाखण्डों के गरिष्ठ पुंज
चाँपे इस निर्झर को रहो, रहो
तुम्हारे रन्ध्र रन्ध्र से
तुम्हीं को रस देता हुआ
फूटकर मैं बहूंगा

'बावरा अहेरी' से

इस काव्य-प्रक्रिया की एक खास झलक हम अज्ञेय की ही कविता 'शब्द और सत्य' में देख सकते हैं। आप इस समूचे अध्ययन-क्रम में देख रहे होंगे कि अज्ञेय बार-बार 'शब्द' पर लौटते हैं। अज्ञेय शब्द और सत्य में भी तनावपूर्ण द्वंद्वात्मक संबंध ही देखते हैं। जिस 'आलोक स्फुरण' में वे मिलते हैं वहीं अभिव्यक्ति की सार्थकता है। पहले 'शब्द और सत्य' कविता को देखें :

यह नहीं कि मैंने सत्य नहीं पाया था
यह नहीं कि मुझको शब्द अचानक कभी-कभी मिलता है :
दोनों जब तक सम्मुख आते ही रहते हैं।
प्रश्न यही रहता है :
दोनों जो अपने बीच एक दीवार बनाए रहते हैं
मैं कब, कैसे, उनके अनदेखे
उसमें सेंध लगा दूँ
या भरकर विस्फोटक
उसे उड़ा दूँ?
कवि जो होंगे हों, जो कुछ करते हैं करें,
प्रयोजन मेरा बस इतना है :

ये दोनों जो
सदा एक-दूसरे से तनकर रहते हैं
कब, कैसे, किस आलोक-स्फुरण में
इन्हें मिला दूँ -
दोनों जो हैं बंधु, सखा, चिर सहचर मेरे

इस कविता को एकाधिक बार पढ़ें। इसमें वे संकेत हैं जिनके सहारे अज्ञेय की अनेक कविताएँ अपना अर्थ खोल सकेंगी। खास बात यह है कि अज्ञेय जैसा एक आत्म-सजग आधुनिक कवि जो पहले कहा जा चुका है, कविता की जो रीति बन चुकी है, उससे संतुष्ट नहीं है। सर्जनात्मकता कवि के लिए नएपन में ही सार्थक है। अधिकतर कवि सत्य को पहले से प्राप्त मानते हैं। वे सत्य को कहने के लिए शब्द को साधन के रूप में देखते हैं। यहाँ अज्ञेय तो कविता को सबसे पहले शब्द मानते हैं। वे सत्य को अन्वेषण का विषय मानते हैं और शब्द को भी। फिर मानते हैं कि दोनों एक-दूसरे के अनुरूप होकर नहीं परस्पर टकराकर नया काव्यत्व प्राप्त करते हैं। अज्ञेय का बल प्रयोगशीलता पर इसीलिए है कि कविता बार-बार नया अर्थ, नया रूप प्राप्त करना चाहती है।

7.6 सारांश

छायावादोत्तर कविता में प्रयोगवाद और नयी कविता के अग्रणी कवि के रूप में अज्ञेय का महत्व निर्विवाद है। आधुनिक भाव-बोध और संवेदना के कवि के रूप में उनकी एकदम अलग पहचान है। उनके आधुनिक बोध के मूल में है - व्यक्तित्व की खोज। व्यक्तित्व की खोज का समकक्ष है - अभिव्यक्ति की खोज। अज्ञेय के लिए काव्य-प्रक्रिया का अपना महत्व है। शब्द और सत्य में निरंतर द्वंद्व की स्थिति बनी रहती है। अज्ञेय निर्वैयक्तिक संवदेना को महत्व देते हैं। तनाव और द्वंद्व की स्थिति में ही अज्ञेय को नया काव्योन्मेष उपलब्ध हो पाता हैं।

अज्ञेय की प्रकृति, प्रेम, आत्मदान, मृत्यु संबंधी कविताओं में सब कुछ नयी प्रश्नशील निगाह से देखा जा रहा है। प्रकृति केवल अलंकरण तक सीमित नहीं है। प्रेम ढर्रे से अलग है। मृत्यु भय नहीं देती। वरण के लिए एक अप्रत्याशित विकल्प देती है। एक ओर अहं का विलयन अज्ञेय का ज़रूरी सरोकार है। दूसरी ओर व्यक्तित्व का तेजस् अंश बचाए रखने की चिंता अज्ञेय को सबसे अलग प्रमाणित करती है। अज्ञेय की स्वाधीन चिंता के निहितार्थ अनेक है।

अज्ञेय की कई कविताएँ काव्य-प्रक्रिया की ही कविताएँ हैं। उनमें अधिकतर कविताएँ अवधारणात्मक हैं जो व्यक्तित्व और सामाजिकता के द्वंद्व को, रोमांटिक आधुनिक के द्वंद्व को प्रत्यक्ष करती हैं। ज़िजीविषा अज्ञेय का अधिक प्रिय काव्य-मूल्य है। वह संघर्ष की सार्थकता का पर्याय है। अज्ञेय आधुनिक भावबोध के एक अत्यंत महत्वपूर्ण कवि के रूप में बराबर पढ़े जाते रहेंगे और शब्द-अर्थ का नया संबंध खोजने-पहचानने में सहायक होगे।

7.7 प्रश्न

1. छायावादोत्तर हिंदी कविता में अज्ञेय के महत्व पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।
2. अज्ञेय के काव्य-विकास के परिप्रेक्ष्य में सनकी जीवन-दृष्टि का विश्लेषण कीजिए।
3. अज्ञेय की कविता के एक प्रमुख अभिप्राय के रूप में व्यक्तित्व की खेज को परिभाषित कीजिए।
4. 'नदी के द्वीप' कविता का विश्लेषण तथा मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 8 अज्ञेय : काव्यभाषा और काव्यशिल्प

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 प्रयोगवाद और नयी कविता : काव्यभाषा और काव्यशिल्प
 8.2.1 प्रयोगवाद और नयी कविता के संदर्भ में संप्रेषण की समस्या और काव्यभाषा
 8.2.2 प्रयोगवाद : रूपगत प्रयोग की समस्या
 8.2.3 नयी कविता : यथार्थ दृष्टि : काव्यभाषा और काव्यशिल्प
8.3 अज्ञेय की काव्यभाषा
 8.3.1 काव्यबिंब
 8.3.2 काव्य प्रतीक
 8.3.3 मिथकीयता और काव्यभाषा
 8.3.4 नया सादृश्यविधान और अन्य विशेषताएँ
8.4 काव्यशिल्प
 8.4.1 रूप और शिल्प के प्रति दृष्टिकोण
 8.4.2 प्रगीतात्मकता
 8.4.3 लम्बी कविताएँ
 8.4.4 नाटकीयता तथा अन्य रूपगत विशेषता
8.5 प्रमुख कविताएँ : काव्यभाषा और काव्यशिल्प की दृष्टि से मूल्यांकन
 8.5.1 अज्ञेय की कुछ छोटी कविताएँ : संक्षिप्तता और संगठन
 8.5.2 हल्की-फुल्की व्यंग्य कविताएँ : रूप तथा भाषायी संगठन
8.6 सारांश
8.7 प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- प्रयोगवादी कवियों के सामने आई भाषा की समस्या की प्रकृति को पहचान सकेंगे।
- अज्ञेय के काव्य में बिंबों के वैशिष्ट्य को जान सकेंगे।
- लंबी कविता के रूप में 'असाध्य वीणा' का विश्लेषण और मूल्यांकन कर सकेंगे।
- अज्ञेय की काव्यभाषा और काव्य शिल्प की विशेषताएँ बता सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

इकाई 20 के अंतर्गत अज्ञेय के काव्य में आधुनिक भावबोध की एक पहचान बना लेने के बाद आपके लिए अज्ञेय को पढ़ना, उनके काव्य में रुचि लेना, उनकी कविता की भाषा और शिल्प की विशेषताएँ समझना अधिक सहज जान पड़ेगा। अज्ञेय जैसे आधुनिक कवि के पाठ की एक समस्या यह होती है कि कई बार पाठक पुरानी कविता की अपनी पसंद के आधार पर या आधुनिक छायावादी कवियों पंत-प्रसाद-निराला-महादेवी की अपनी पसंद के आधार पर अज्ञेय को पढ़ना और जाँचना चाहता है। अज्ञेय की कविता की माँग यह है कि उन्हें उनके अपने बदले हुए भावबोध और शिल्प के आदर्श के अनुसार पढ़ा जाए इसीलिए हमने अज्ञेय के अंतर्विरोधों को भी उनकी विशेषताएँ मानकर पढ़ने का रास्ता सुझाया है। जैसे अज्ञेय व्यक्तित्व की खोज के कवि हैं, पर व्यक्ति या व्यक्तित्व से दूरी बनाकर। वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक के बीच का उनका द्वन्द्व अब आप पहचान रहे होंगे जिसके कारण प्रेम की कविता केवल प्रेम की कविता नहीं रह जाती, प्रकृति की कविता केवल प्रकृति की कविता नहीं रह जाती। अज्ञेय

भावुकता से बचते हैं और बौद्धिक अनुभूति के निकट अपनी काव्यसंवेदना निर्मित करते हैं। पिछली इकाई के पाठ को याद करते हुए हम अब अज्ञेय की काव्यभाषा और काव्यशिल्प पर विचार कर सकेंगे।

इस अध्ययन में हम एक तो काव्यभाषा की विशिष्टता और शिल्प की विशिष्टता को समझने का प्रयास करेंगे। दूसरे काव्यभाषा के जो संघटक तत्व हैं (जिनसे काव्यभाषा सामान्यभाषा से भिन्न काव्यभाषा बनती है) - अलंकार, बिम्ब, प्रतीक, मिथक - इन्हें अज्ञेय की कविताओं में देख सकेंगे। शिल्प के अंतर्गत रूपगत समस्याएँ हमारे विश्लेषण का विषय बनेंगी। जैसे प्रतीकात्मकता और छोटी कविताएँ, नाटकीयता और लम्बी कविता। अब आप यह भी देखेंगे कि अज्ञेय वाचिक कविता (बोलकर पढ़ी जाने वाली कविता) और मुद्रित कविता (पृष्ठ पर छपी हुई कविता) में भेद करते हैं और शिल्प में छूट लेते हैं। कहीं मौन ही भाषा हो जाती है, कहीं मुद्रण चिह्न भी भाषा का काम करते हैं।

इस अध्ययन की सार्थकता यह होगी कि आप स्वयं कविता में भाषा और शिल्प की विशेषताएँ पहचानने लगें। यह समझा सकें, कि क्यों अज्ञेय भाषा पर और भाषा में शब्द पर अधिक बल देते हैं।

यहाँ भी छायावादोत्तर कविता के परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखना ज़रूरी होगा। हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि छायावाद ने आने वाले नये काव्य के लिए स्वयं आधार तैयार किया। निराला ने तो कविता की मुक्ति की व्यापक संभावना देखी। पंत कविता में चित्रभाषा और भाषा में निहित संगीत आदि पर बल देते रहे। छायावादी कवि अपनी अनुभूति को महत्व देते रहे और यथार्थ के भीतर भी एक विशेष भावलोक का ही निर्माण करते रहे। प्रगतिशील कवियों ने सामाजिक संघर्ष आदि को कविता के माध्यम से व्यक्त किया और कला या रूप की अधिक चिन्ता नहीं की। अज्ञेय प्रयोगवाद के प्रवर्तक की तरह दृश्य पर आये और काव्यभाषा और शिल्प की समस्या को प्रयोगशीलता की समस्या के रूप में देखते रहे।

अज्ञेय की काव्यभाषा और काव्यशिल्प पर विचार करने के लिए हमारा ध्यान सबसे पहले सप्तकों की भूमिकाओं की ओर जाना चाहिए। हम यहाँ कवि की कुछ स्थापनाओं को ध्यान में रखें - 'कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है - शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है या कुछ भिन्न पाता है।' (आत्मनेपद, पृ0 37) 'कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़कर अब इन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी नहीं छुआ गया.......। भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतों से, अंकों और सीधी तिरछी लकीरों से छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उल्टे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से - सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।' (आत्मनेपद, पृ. 37)

इस अध्ययन में हमारी दृष्टि और पद्धति इन्हीं स्थापनाओं के आधार पर बननी चाहिए। अज्ञेय का सारा बल नये प्रयोगों पर है। नयी काव्यभाषा प्रयोगशीलता में सहायक है। पहले से प्राप्त साधन भाषा में नया और बड़ा अर्थ भरने में सहायक हैं। यही चुनौती है अज्ञेय जैसे आधुनिक कवि के सामने। फिर यह कविता 'वाचिक' से अधिक 'मुद्रित' कविता है। इसलिए मुद्रण चिह्न तक भाषा का काम देने या करने लगते हैं। पहले हम व्यापक आधार पर प्रयोगवाद-नयी कविता के संदर्भ में काव्यभाषा और शिल्प की इन विशेषताओं को समझेंगे। फिर अज्ञेय की काव्यभाषा और काव्यशिल्प पर कुछ ठोस महत्वपूर्ण कविता के उदाहरणों के आधार पर विचार करेंगे। 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने नयी शिल्प-दृष्टि का महत्व स्पष्ट किया है और कहा

है - "नया कवि नयी वस्तु को ग्रहण और प्रेषित करता हुआ शिल्प के प्रति कभी उदासीन नहीं रहा है।"

इस अध्ययन की पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि हम अज्ञेय की काव्यभाषा की दुरूहता को भी जाँच सकें। यह दुरूहता कहाँ गुण है, कहाँ दोष : यह देख सकें। कहाँ यह अनिवार्य है, कहाँ अलग से आरोहण। इस प्रकार हम अज्ञेय की काव्यभाषा तथा काव्यशिल्प की विशिष्टता से भी परिचित हो सकेंगे, सीमाओं से भी।

8 .2 प्रयोगवाद और नयी कविता : काव्यभाषा और काव्यशिल्प

प्रयोगवाद से पहले के आधुनिक काव्य-परिदृश्य पर विचार करते हुए हम प्रयोगवाद और नयी कविता वाले दौर की भाषा-शिल्प की विशिष्टता की ओर आयें तो अधिक सुविधा होगी। किसी समय की काव्यभाषा अचानक नयी नहीं हो जाती। पहले से नवीनता के संकेत मिलने लगते हैं। छायावाद से प्रसाद-पंत-निराला-महादेवी ने काव्यभाषा की विशिष्टता की पहचान करायी, जहाँ काव्यभाषा में लाक्षणिकता, सांकेतिकता, प्रतीक विधान पर बल था। फिर प्रगतिवादी काव्यभाषा में जनपदीय बोलचाल की भाषा काव्यभाषा बनी जो यथार्थ को सीधे सम्प्रेषित करने के लिए प्रयत्नशील थी। प्रयोगवाद में भाषा की नयी खोज, वस्तु और भाषा में नये संबंध पर बल देने का आग्रह दिखाई पड़ा।

यहाँ अज्ञेय-काव्य के एक प्रमुख आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी के इस कथन पर ध्यान दें - "प्रयोगवाद में अज्ञेय के माध्यम से काव्यभाषा का पुनर्सृजन आरंभ होता है। ------ भाषा का अधिक से अधिक सतर्क और सर्जनात्मक प्रयोग करके ही अज्ञेय ने अपनी रचना को इतना निखारा है। भाषा जितनी सर्जनात्मक होगी कलाकृति उतनी ही विशुद्ध और प्रामाणिक होगी।" (भाषा और संवेदना, रामस्वरूप चतुर्वेदी/तीसरा संस्करण/पृष्ठ 16) यहाँ आपके मन में कुछ प्रश्न उठ सकते हैं। प्रयोगवाद के सभी कवि क्या अज्ञेय की काव्यभाषा के संस्कारित मार्ग पर ही चल रहे थे या उनमें विविधताएँ भी थीं। 'तारसप्तक' में मुक्तिबोध की काव्यभाषा अज्ञेय जैसी थी या भिन्न थी? 'दूसरा सप्तक' में शमशेर की काव्यभाषा अज्ञेय जैसी थी या भिन्न थी ? रघुवीर सहाय की काव्यभाषा अज्ञेय जैसी थी या भिन्न थी? आप इसके परीक्षण में लगेंगे, तो भिन्नता स्पष्ट दिखाई देगी। प्रयोगवाद से नयी कविता की भाषा-प्रकृति भी भिन्न है - रघुवीर सहाय इसी को प्रमाणित करते हैं। यह बात उदाहरणों से भी आप समझ सकेंगे।

आपकी इकाई 20 में पढ़ी हुई कविता है 'दूर्वाचल' - अज्ञेय की एक तरह की प्रेम कविता शुरू की पंक्तियाँ हैं : (ज़रूरी है कि आप भाषा पर ध्यान दें)

पार्श्वगिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी।
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में
मैंने आँख भर देखा।

दिया मन को दिलासा - पुनः आऊँगा।
(भले ही बरस-दिन-अनगिन युगों के बाद)

दूसरा सप्तक' में रघुवीर सहाय की कविता है : 'भला'। उसका आरंभिक अंश देखें

मैं कभी-कभी कमरे के कोने में जाकर
एकांत जहाँ पर होता है,
चुपके से एक पुराना कागज़ पढ़ता हूँ,

मेरे जीवन का विवरण उसमें लिखा हुआ,
वह एक पुराना प्रेम-पत्र है जो लिखकर
भेजा ही नहीं गया, जिसका पाने वाला
काफी दिन बीते गुज़र चुका

यहाँ रूप और भाषा की भिन्नता देखें। अज्ञेय के उदाहरण में प्रतीकात्मकता का-सा कसाव या संगठन है। रघुवीर सहाय में बोलचाल की भाषा की सादगी और बेपरवाह शिथिलता या ढीलापन। शब्द अज्ञेय के यहाँ भी 'दर्द' और 'दिलासा' जैसे हैं पर समूची भाषायी प्रकृति भिन्न है। कविता अलग-अलग तरह का प्रभाव बनाती है। रामस्वरूप चतुर्वेदी जिस शुद्धता पर बल देते हैं उसकी चिन्ता रघुवीर सहाय को नहीं है। यह संकेत है कि प्रयोगवाद से नयी कविता तक काव्यभाषा और शिल्प के प्रति दृष्टिकोण काफी बदल जाता है।

प्रयोगवाद और नयी कविता के संदर्भ में संप्रेषण की समस्या और काव्यभाषा

संप्रेषण की दृष्टि से प्रयोगवाद - नयी कविता वाले दौर में काव्यभाषा के क्षेत्र में जो समस्याएँ उपस्थित होती हैं उन्हें इस प्रकार देख सकते हैं - बोलचाल की भाषा, सृजनात्मक गद्य की भाषा, कविता की भाषा। लम्बे समय से माना जाता रहा है कि एक होती है कविता की भाषा और दूसरी गद्य की भाषा। प्रयोगवाद - नयी कविता ने यह भेद मिटा दिया। अज्ञेय भी बोलचाल की भाषा का पक्ष लेते हैं और कविता में ऐसा प्रयोग भी करते हैं :

मेरा भावयंत्र?
एक मचिया है सूखी घास-फूस की
उसमें छिपेगा नहीं औघड़ तुम्हारा दान -

(आज तुम शब्द न दो)

बंधी लीक पर रेलें लादे माल
चिहुँकती और रँभाती अफराये डाँगर-सी
ठिलती चलती जाती हैं।

(औद्योगिक बस्ती)

पर ऐसे उदाहरण अज्ञेय के यहाँ अधिक नहीं हैं। संभव है प्रगतिवाद के दबाव से ही इस तरह का भाषा आग्रह अज्ञेय में कभी स्थान पा सका हो। मूलतः उनका उद्देश्य काव्यभाषा की सर्जनात्मकता को अर्जित और समृद्ध करना ही रहा है। जहाँ प्रयोगवाद - नयी कविता के कवि छायावादी काव्यभाषा को तोड़ रहे थे, वहीं बोलचाल की भाषा को काव्यभाषा का आदर्श मानकर संतुष्ट न थे। वे काव्यभाषा में नयी भंगिमायें विकसित करना चाहते थे।

आपका ध्यान यहाँ इस बात की ओर जाना चाहिए कि प्रयोगवाद का विद्रोह जड़ हो चुके उपमान प्रतीकों के प्रति था जिनमें नयी अभिव्यक्ति असंभव थी। आपकी पढ़ी हुई कविता है 'कलगी बाजरे की' - जो प्रयोगवाद की बदली हुई काव्यदृष्टि का घोषणापत्र है। इसमें कवि पुरानी काव्य-भाषा की रूढ़ियों को चुनौती देता है और नये अप्रस्तुतों, नये प्रतीकों का औचित्य सिद्ध करता है - कवि अपनी प्रेमिका को 'बाजरे की कलगी' कहता है और 'सांध्य नभ की तारिका' नहीं कहता। 'शरद के भोर की नीहार न्हाई कुंई' नहीं कहता। 'टटकी कली चम्पे की' नहीं कहता। 'वगैरह-वगैरह' कहकर वह ऐसे तथाकथित कविजनोचित उपमानों को खारिज करता है और इस नतीजे पर आता है :

ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।

नये सम्प्रेषण के लिए नयी काव्यभाषा के औचित्य की इस व्याख्या को ध्यान में रखें।

8.2.2 प्रयोगवाद : रूपगत प्रयोग की समस्या

रूप या फार्म की समस्या पर विचार करते हुए पहले तो यह जान लें कि काव्यभाषा की समस्या भी एक अर्थ में काव्यशिल्प की समस्या है, रूप की समस्या है। अज्ञेय छंद को काव्यभाषा की आँख कहते हैं। रामविलास शर्मा मानते हैं कि काव्यभाषा की जो भी समस्याएँ हैं शिल्प की भी समस्याएँ हैं। प्रगीतात्मक कविता की भाषा और लम्बी कविता की नाटकीय भाषा में अन्तर होगा ही। दूसरी ओर 'असाध्यवीणा' जैसी लम्बी नाटकीय कविता में प्रगीतात्मकता का स्पर्श बना रह सकता है। सानेट अपना विन्यास भाषा के भीतर ही संभव करता है। इसे उदाहरणों से समझें। अज्ञेय की ही कविता है 'कतकी पूनो' : शुरू की पंक्तियाँ हैं :

छिटक रही है चाँदनी
मदमाती, उन्मादिनी,
कलगी-मौर सजाव ले
कास हुए हैं बावले,
पकी ज्वार से निकल शशों की जोडी गयी फलाँगती -
सन्नाटे में बाँक नदी की जगी चमक कर झाँकती।

इस गीत के छंद, गीत, प्रवाह पर ध्यान दें। जैसे एक झूमता हुआ-सा गतिमय प्रकृति-दृश्य। और हरी घास पर क्षण भर कविता का यह ठहरा-ठहरा-सा गद्यविन्यास। इसी आधार पर कहा जाता है कि गद्य ने कविता को कहीं मुक्त किया है। अनेक रूपात्मक काव्य संभावनाओं के लिए जगह बनायी है। यहाँ आप मुद्रण चिह्नों का भाषा होना भी देख सकते हैं और गद्य में कविता के शिल्प का रचाव भी देख सकते हैं :

चलो, उठें अब;
अब तक हम थे बंधु
सैर को आये -
(देखे हैं क्या कभी घास पर लोट-पोट होते सतभैये शोर मचाते?)
और रहे बैठे तो
लोग कहेंगे
धुंधले में दुबके प्रेमी बैठे हैं
वह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने!

(हरी घास पर क्षण भर)

अब अज्ञेय की दृष्टि से रूप को देखें। उनके अनुसार "छन्द के द्वारा हम साधारण बोलचाल के गद्य की लय को नियमित करते हैं।" - यहाँ "छन्द स्वरों को स्पष्टतर करता है, भाषा की गति को धीमा करता है।" (भवन्ती, पृ.27) आप इस दृष्टि से नये ढंग के काव्यप्रयोगों की रूपगत विशिष्टता को देखें। प्रयोगवादी कवियों ने रूपगत प्रयोगों के क्षेत्र में अंग्रेज़ी की आधुनिक कविता से कम नहीं सीखा है। शमशेर ने फ्री असोसियेशन टेक्नीक (मुक्त साहचर्य शिल्प) के अपने प्रयोगों के संदर्भ में यह स्वीकार किया है, दूसरी ललित कलाओं से भी सीखा है। गिरिजाकुमार माथुर ने टेकनीक पर बल देना सहज ही स्वीकार किया है।

8.2.3 नयी कविता : यथार्थ दृष्टि : काव्यभाषा और काव्यशिल्प

प्रयोगवाद से आगे नयी कविता वाले दौर में रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, केदारनाथ सिंह भी लिखते रहे, अज्ञेय भी। इस दौर में मूल्यगत संक्रमण सबसे बड़ी समस्या रही है। युग के यथार्थबोध ने काव्यात्मक, अकाव्यात्मक का भेद मिटा दिया। अज्ञेय विराट 'सागर' का यथार्थ थे। भाषाशिल्प की चुनौती सुलझाने के लिए काव्यगत प्रयोगशीलता का क्षेत्र विस्तृत करना पड़ा। हम केवल दो उदाहरण आमने-सामने रखकर नयी कविता वाले दौर के अज्ञेय की दो काव्यभंगिमाएँ देख सकते हैं। एक ओर क्षुब्ध जीवन-चित्र ऐसा सपाट साधारण :

चाबुक खाये
भागा जाता
सागर तीरे
मुँह लटकाये
मानो धरे लकीर
जमे खारे झागों की
रिरियाता कुत्ता यह
पूँछ लड़खड़ाती टागों के बीच दबाये।

('जीवन', कितनी नावों में कततनी बार)

दूसरा चित्र यह : एक काव्यात्मक 'उलाहना' - (यहाँ प्रतीकात्मकता केवल छंद नहीं, भाषागत विन्यास को प्रभावित करती है) :

नहीं, नहीं, नहीं।
मैंने तुम्हें आखों की ओट किया
पर क्या भुलाने को?
मैंने अपने दर्द को सहलाया
पर क्या उसे सुलाने को?
मेरा हर मर्माहित उलाहना
साक्षी हुआ कि मैंने अंत तक तुम्हें पुकारा
ओ मेरे प्यार। मैंने तुम्हें बार-बार, बार-बार असीसा
तो यों नहीं कि मैंने विछोह को कभी भी स्वीकारा।
नहीं, नहीं, नहीं।

('उलाहना', कितनी नावों में कितनी बार)

यह भेद हमें करना चाहिए कि कहाँ अज्ञेय सफल हैं, कहाँ असफल। कहाँ उनकी प्रयोगशीलता कविता की ताकत बनती है, कहाँ कमज़ोरी। यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं कवि अपनी भाषा प्रयोग विधि से पूरी तरह संतुष्ट रहा हो। असंतोष इसी अर्थ में महत्वपूर्ण है कि कविता में किसी नयी उपलब्धि के लिए कवि को व्यग्र बनाता है।

8.3 अज्ञेय की काव्यभाषा

अज्ञेय के संबंध में यह याद रखना ज़रूरी है कि उन्होंने अपनी काव्यभाषा विकसित करने के लिए बहुत लम्बा संघर्ष किया है। 'भग्नदूत' और 'चिन्ता' की कविताएँ काव्यभाषा की दृष्टि से अत्यंत साधारण हैं। छायावादी भावुकता का बहुत सतही रूप उनकी सीमा है पर आगे का कृतित्व क्रमशः अज्ञेय की सर्जनात्मक क्षमता को भाषा और संवेदना दोनों दृष्टियों से समृद्ध करता है। 'तारसप्तक' के दूसरे संस्करण में अज्ञेय की इस स्थापना पर ध्यान दें : "काव्य सबसे पहले शब्द है। और सबसे अंत में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है।....... ध्वनि, लय, छंद आदि के सभी प्रश्न इसी में से निकलते हैं और इसी में विलय होते हैं।" इससे आप समझ सकते हैं कि अज्ञेय के लिए काव्यभाषा कविकर्म का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है। काव्यभाषा की सर्जनात्मक विशिष्टता 'असाध्यवीणा' में सबसे अधिक प्रकट है। पिछली इकाई में इस कविता पर हुई चर्चा को ध्यान में रखें। याद करें, प्रियंवद के साधे जाने पर वीणा जब झंकृत होती है तो उससे जो संगीत रचा जाता है, उसका प्रभाव कैसा है :

डूब गए सब एक साथ
सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे

काव्यभाषा यहाँ गहन सर्जनात्मक अनुभव बनती है। शब्द तो शब्द है, यहाँ तो अज्ञेय से ही शब्द लेकर कहें - 'मौन भी अभिव्यंजना' है।

8.3.1 काव्य बिंब

काव्यभाषा को संगठित करने वाले उपादान के रूप में बिम्ब महत्वपूर्ण है। एक बार यह समझ लें कि बिंब इमेज शब्द के अर्थ में क्रमश: विकास हुआ है। छायावादी काव्यबिंबों से अज्ञेय के काव्यबिंबों का अन्तर समझना चाहेंगे तो हिन्दी कविता में बिम्बविधान के एक अध्येता कवि केदारनाथ सिंह का यह कथन सहायक होगा। वे कहते हैं - ''सामान्यत: बिंब शब्द का प्रयोग मूर्तिमत्ता अथवा चित्रात्मकता के अर्थ में किया जाता है। परन्तु आज की समीक्षा में उसका चित्रात्मकता वाला अर्थ गौण हो गया है और वह उन समस्त काव्यगत विशेषताओं का बोधक बन गया है जो पाठक को ऐन्द्रिय चेतना के किसी भी स्तर पर प्रभावित करती हैं।'' (आधुनिक हिन्दी कविता में बिंबविधान/पहला संस्करण/पृ.2)

अब हम अज्ञेय के संवेदनात्मक बिंब, यथार्थ बिंब, स्मृति-बिंब, संश्लिष्ट तथा विखंडित बिंब का सौन्दर्य ठीक-ठीक समझ सकते हैं। अज्ञेय के बिंबविधान में वर्ण्यस्थिति और उसके बिंब को घुले-मिले सम्पृक्त रूप में देखते हैं - जैसे पहाड़ी यात्रा का यह बिंब :

मेरे घोड़े की टाप
चौखटा जड़ती जाती है
आगे के नदी-व्योम, घाटी-पर्वत के आसपास:
मैं एक चित्र में
लिखा गया-सा आगे बढ़ता जाता हूँ

संक्षिप्तता में यह समग्र बिंब भी सहज ही ध्यान में आ सकता है :

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया
तुम्हारे मन्दिर के विस्तृत आँगन में
सहमा-सा रख दिया गया।

('दूज का चाँद' / 'आँगन के पार द्वार' से)

इससे भिन्न मुक्त साहचर्य पद्धति के खंडित स्मृति-बिंब की दृष्टि से उल्लेखनीय उदाहरण है अज्ञेय की कविता : 'हरी घास पर क्षण भर' :

क्षण भर अनायास
हम याद करें
चीड़ों का वन, साथ-साथ दुलकी चलते दो घोड़े,
गीली हवा नदी की, फूले नथुने,
भर्रायी सीटी स्टीमर की,
खण्डहर,
ग्रथित अंगुलियाँ,
डाकिये के पैरों की चाप....

आप यहाँ स्मृतिबिंब के बिखरे मुक्त संयोजन को देखें। जैसे स्मृति के अवचेतन में कोई एक रील चल रही हो।

8.3.2 काव्य प्रतीक

बिंब प्रतीक के संबंध को शुरू में ही समझ लें। प्रत्येक प्रतीक मूल रूप में बिंब ही होता है। तब उसमें अनेकार्थता संभव होती है। क्रमशः विकसित होते-होते वही प्रतीक के रूप में जाना जाता है और प्रायः एकार्थक लगने लगता है। बिम्ब अधिकतर उपचेतन मन की सृष्टि होता है, प्रतीक चेतन मन की। प्रतीक परम्परा के निकट जाकर समाज का जाना पहचाना विचार बन जाता है। काव्यगत प्रतीक मूर्त अमूर्त दोनों प्रकार का हो सकता है।

अज्ञेय की कविता ''नदी के द्वीप'' में ''द्वीप'' वैयक्तिकता का प्रतीक है, ''धारा'' सामाजिकता का, सामाजिक प्रवाह का। ''बावरा अहेरी'' कविता में आप सहज जान लेंगे कि ''अहेरी'' सूर्य का प्रतीक है :

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बांध लेता है सभी को साथ:
छोटी-छोटी चिड़ियाँ
मंझोले परेवे
बड़े-बड़े पंखी....

कवि प्रतीकार्थ को यहाँ तक ले जाता है : कि वही ''मन विवर'' में दुबकी ''कलौंस'' को दूर करने वाला है, भेदने वाला है। अहेरी या शिकारी है आखिर :

एक बस मेरे मन-विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोड़कर क्या तू चला जाएगा?

8.3.3 मिथकीयता और काव्यभाषा

मिथक को हम पुराणकथा या पौराणिक कल्पना से सम्बद्ध करते हैं। मिथक को भाषा का पूरक कहा गया है। अज्ञेय नमनीयता को उसका खास गुण मानते हैं। मिथकीयता वह भाषा-प्रक्रिया है जिसमें ''काल'' का अनुभव ''दिक्'' और ''दिक्'' का अनुभव ''काल'' में बदलता है। मिथकीय बिंब, मिथकीय प्रतीक इस प्रकार की कोटियाँ (categories) भी बनी हुई हैं। ''चक्रव्यूह'' एक मिथकीय प्रतीक कहा जा सकता है। ''असाध्यवीणा'' कविता में ''केशकम्बली'', ''वज्रकीर्ति'', ''किरिटी तरू'', ''वासुकि नाग'' आदि के संदर्भ मिथकीय काव्यभाषा के लिए उपयुक्त संरचना निर्मित करते हैं :

केशकम्बली गुफागेह ने खोला कम्बल।
धरती पर चुपचाप बिछाया
वीणा उस पर रख, पलक मूँदकर, प्राण खींच,
करके प्रणाम
अस्पर्श छुअन से छुए तार
x x x x
जड़ उसकी जा पहुँची थी पाताल लोक
उसकी गंध प्रवण शीतलता से फण टिका नागवासुकि सोता था

8.3.4 नया सादृश्यविधान और अन्य विशेषताएँ

अज्ञेय की कविता में नया सादृश्यविधान काव्यभाषा को सर्जनात्मक वैशिष्ट्य देता है। आपने देखा है कि अज्ञेय ''कलगी बाजरे की'' कविता में घिसे-पिटे परम्परागत उपमानों की हँसी उड़ाते हैं और उन्होंने इसी तर्क में नये अनगढ़ अकाव्यात्मक उपमानों की काव्यगत सार्थकता भी स्पष्ट की है। अज्ञेय की ''नखशिख'' कविता में पैटर्न रीतिकालीन नखशिख जैसा ही है, पर प्रयुक्त उपमा नयी है और प्रभाव भी नया है :

तुम्हारी देह
मुझको कनक-चम्पे की कली है
दूर से ही
स्मरण में भी गंध देती है,

सादृश्यविधान की नवीनता की दृष्टि से याद कर सकते हैं अपनी पढ़ी हुई कविता ''दूर्वाचल''

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों सी।
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।

कह सकते हैं कि अज्ञेय की काव्यभाषा की सृजनात्मकता का रहस्य किसी एक युक्ति (device) में नहीं, बल्कि भाषा की समूची विधि में निहित है जिसमें सादृश्यविधान या अलंकार विधान, बिंब प्रतीक मिथक के संयोजन की संश्लिष्टता है।

8 .4 काव्यशिल्प

अज्ञेय काव्यशिल्प की सिद्धि के कवि हैं। सतर्क, सजग, दक्ष। बल प्राय: शब्द के मितव्यय और परिष्कार पर। इससे कवि की शक्ति और सीमा का एक-साथ पता चल जाता है। उनके वाक्य-विन्यास पर अंग्रेज़ी का प्रभाव भी है। तत्सम-तद्भव शब्द-प्रयोग से भाषा में कुछ ऐसा भी कर दिखाना है कि परिष्कार ही परिष्कार न दिखे। कहा गया है कि अज्ञेय में ध्वनि, शब्द, अर्थछाया, वाक्यखण्ड सबमें अंग्रेज़ी का संवेदनात्मक सूक्ष्म उपयोग देखा जा सकता है। अज्ञेय छोटी कविता लम्बी कविता में भेद नहीं करते। नहीं मानते, कि इस भेद से शिल्प की समस्या प्रभावित होती है। कई बार चुस्त सुगठित शिल्प की तुलना में उनके हल्के-फुल्केपन का अच्छा असर पड़ता है। शिल्प में कौतुकविनोद की छूट वे लेते हैं। वक्तव्य की शैली को लेकर अज्ञेय ने ''चौथा सप्तक'' की भूमिका में आपत्ति व्यक्त की है। उनका यह कथन ध्यान में रखें - ''आज की कविता बहुत बोलती है, जबकि कविता का काम बोलना है ही नहीं।'' अज्ञेय की कविता में शैली का एक-सा प्रयोग नहीं है पर यह भी नहीं कि हर शैलीगत प्रयोग पाठकों को रुचे ही।

8 .4.1 रूप और शिल्प के प्रति दृष्टिकोण

अज्ञेय का काव्य-शिल्प के प्रति क्या दृष्टिकोण है - यह अलग से बहुत प्रकट नहीं है। जहाँ काव्यभाषा या काव्यशब्द के महत्व को लेकर अज्ञेय ने बहुत लिखा है, शिल्प को लेकर उतना नहीं कहा है। वे मानते हैं कि आधुनिक कविता सीधी चेतना को छूना चाहती है, इसलिए निरे शब्दों के निरे अर्थों से आगे जाकर वह ध्वनियों, अंतर्ध्वनियों, स्वरों और अन्तःस्वरों से उलझती है। उनके अनुसार वह एक साथ दो विरोधी दिशाओं में चलती है - एक तरफ छंद के बन्धन को तोड़ती है दूसरी तरफ वह संगीत यानी गेयतत्व को अधिक अपनाना चाहती है।

8 .4.2 प्रगीतात्मकता

जैसे हम पहले देख चुके हैं कि अज्ञेय के यहाँ गीत भी हैं, गीत के ढाँचे के बिना भी लय या संगीत का रचाव है और ''असाध्यवीणा'' जैसी लम्बी कविताओं में भी प्रगीततत्व का उपयोग है। यहाँ कुछ उदाहरण भर देखें।

अज्ञेय के यहाँ सीधा सरल गीत भी कोई विशिष्टता लिये हुए है। क्या है वह? इसे आप स्वयं पहचानें। औसत गीत से क्या भिन्नता है यहाँ?

पूर्णिमा की चाँदनी
सोने नहीं देती।
निशा के उर में बसे आलोक-सी है व्यथा व्यापी -
प्यार में अभिमान की पर कसक ही
रोने नहीं देती।

गीत-टेक जैसी पंक्ति की लघुता और फिर लम्बा वाक्यविधान। इस पर ध्यान दीजिए। दूसरी ओर ''असाध्य वीणा'' में निहित प्रगीतात्मकता : अलग-अलग स्थलों में और सम्पूर्ण रचाव में :

तू उतर बीन के तारों में
अपने से गा
अपने को गा
तू गा तू गा
तू सन्निधि पा - तू खो।

8.4.3 लम्बी कविताएँ

''असाध्य वीणा'' की चर्चा हम कई दृष्टियों से करते रहे हैं। एक अन्य लम्बी कविता है ''ओ नि:संग ममेतर''। ग्यारह खण्डों की यह लम्बी कविता आंतरिक लय, वही अन्तःसंबंध संभाले हुए है, जो ''असाध्य वीणा'' की विशेषता है। तनाव नहीं। संतुलन। वही प्रगीतात्मकता का-सा रचावः

वर्षा जिसे धोती है, शरद सँजोता है,
अगहन पकाता और फागुन लहराता
और चैत काट, बाँध, रौंद, भरकर ले जाता है -
नैतिक चंक्रमण सारा -
पर दूर क्यों,
मैं ही जो साँस लेता हूँ
जो हवा पीता हूँ -
उसमें हर बार हर बार
अविराम अक्लान्त, अनाप्यायित
तुम्हें जीता हूँ।

अब अज्ञेय की इस सीमा पर ध्यान दें। उनकी लम्बी कविताएँ भी प्रगीतात्मक हैं। एक अमरीकी आलोचक आइवर विंटर्स का कहना है - छोटी कविताएँ प्रगीतात्मक होती हैं, लम्बी कविताएँ नाटकीय। अज्ञेय की लम्बी कविताएँ प्रगीतात्मक हैं। यह बहुतों की दृष्टि में अज्ञेय की सीमा है। नामवर सिंह इसे वस्तुत: अज्ञेय के भावबोध की सीमा मानते हैं। उनकी दृष्टि में जहाँ नाटकीयता और तनाव संरचना में है वही लम्बी कविताएँ अधिक सफल कही जा सकती हैं। इस तरह देखें तो प्रसाद की लम्बी कविता ''प्रलय की छाया'' में तनाव है, ''राम की शक्तिपूजा'' और ''अंधेरे में'' कविताओं में भी नाटकीय तनाव है। इस संबंध में अज्ञेय अपनी कवि-प्रकृति की सीमा बताते हुए सहज स्पष्टीकरण देते हैं - ''लम्बी कविताएँ भी होती हैं, हो सकती हैं। पर उनको कलात्मक एकता और गठन देने वाली चीज़ फिर दूसरी हो जाती है - भाव की संहति और तीव्रता नहीं। वह ढंग दूसरा है, और कहूँ कि मेरा वह नहीं है।''

8.4.4 नाटकीयता तथा अन्य रूपगत विशेषताएँ

अज्ञेय की कविता में नाटकीयता है तो बहुत सीमित रूप में। वह अधिक से अधिक कथन की भंगिमा है। ''असाध्यवीणा'' में नाटकीय तनाव की तीव्रता न हो, नाटकीयता तो है ही। आप दृश्य पर प्रियवंद का आना, उनका संकोच, वीणा को साधना-सँभालना देखते हैं। फिर वीणा की झंकृति। सभा का मौन। वह विलक्षण सन्नाटा। सबका तिरना एक साथ। पार जाना अलग-अलग। कथा की मंद मंथरगति के बावजूद नाटकीयता पूरे संयोजन में है। इसके अतिरिक्त अज्ञेय की अपेक्षाकृत छोटे आकार की कविताओं में आत्मकथन या सम्बोधन की भंगिमाएँ नाटकीयता लिये हुए हैं। ''बना दे चितेरे'', ''उधार'', ''चिड़िया ने ही कहा'' में ये भंगिमाएँ एक साथ भाषा की, रूप की विशिष्टता सूचित करती हैं। आप इनके कुछ उदाहरण देखें :

क) बना दे चितेरे,
मेरे लिए एक चित्र बना दे।
पहले सागर आँक :
हाँ पहले आँक :
सागर आँक कर फिर आँक उछली हुई मछली :

उपर अधर में
जहाँ ऊपर भी अगाध नीलिमा है
उछली हुई मछली
जिसकी मरोड़ी हुई देहवल्ली में
उसकी जिजीविषा की उत्कट आतुरता मुखर है।

("बना दे चितेरे" से)

ख) सबेरे उठा तो धूप खिलकर छा गयी थी
और एक चिड़िया अभी-अभी गा गयी थी।
मैंने धूप से कहा : मुझे थोड़ी गरमाई दोगी उधार?
चिड़िया से कहा : थोड़ी मिठास उधार दोगी?
मैंने घास की पत्ती से पूछा : तनिक हरियाली दोगी -
तिनके की नोक-भर?

("उधार" से)

ग) मैंने कहा
कि "चिड़िया"
मैं देखता रहा -
चिड़िया चिड़िया ही रही।

फिर जाने कब -
मैंने देखा नहीं :
भूल गया था मैं क्षण भर को तकना।

('चिड़िया ने ही कहा')

उदाहरण क में गति और स्थिरता के द्वन्द्व में चित्रात्मकता, ख में कोमल आत्मीय संवाद, ग में विस्मय ये सब प्रयोग अज्ञेय के शिल्पकौशल का आभास देते हैं।

अज्ञेय की हाइकू शैली (जापानी शैली) की कविताएँ अनुवाद-संस्कार से संभव हुई हैं पर वे कवि की सहज प्रकृति का भी परिचय देती हैं - "धूप" इस शैली की एक रचना है :

सूप-सूप भर
धूप - कनक
यह सूने नभ में गयी बिखर :
चौंधाया
बीन रहा है
उसे अकेला एक कुरर

इन उदाहरणों से आप अज्ञेय के काव्यशिल्प की विशेषताओं के बारे में एक स्पष्ट धारणा बना सकेंगे।

8 .5 प्रमुख कविताएँ : काव्यभाषा और काव्यशिल्प की दृष्टि से मूल्यांकन

यहाँ हम कुछ अन्य कविताओं के आधार पर एक बार फिर अज्ञेय की काव्यभाषा और काव्यशिल्प की विशेषताओं को समझने का प्रयत्न कर सकते हैं। अज्ञेय की लम्बी यात्रा से कुछ कविताओं को चुन पाना कठिन है। कभी-कभी अल्पचर्चित कविताएँ अज्ञेय की काव्यभाषा और शिल्प की विशेषता से अधिक परिचित कराती हैं।

अज्ञेय की काव्यभाषा में जो निखार आया है वह स्वीकृत परिपाटी से हटने के कारण। कभी तत्सम शब्दों के बीच ठेठ देशज शब्दों को रखकर अज्ञेय एक नयी विशेषता पैदा करते हैं।

अज्ञेय के आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी मानते हैं कि अज्ञेय के लिए भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं, अपने से एक नया साक्षात्कार है। नयी काव्यभाषा के कारण हम यथार्थ को अधिक नये रूप में जानने लगते हैं।

8.5.1 अज्ञेय की कुछ छोटी कविताएँ : संक्षिप्तता और संगठन

हमने पहले भी ''दूर्वाचल'' जैसी छोटी कविता के संगठन पर विचार किया है। हम आपके अपने आस्वाद विश्लेषण के अभ्यास के लिए दो छोटी कविताएँ यहाँ पुनः दे रहे हैं :

क)
ओ एक ही कली की
मेरे साथ प्रारब्ध-सी लिपटी हुई
दूसरी, चम्पई पंखुड़ी।
हमारे खिलते-न-खिलते सुगंध तो
हमारे बीच में से होती
उड़ जाएगी।

ख)
चुप-चाप चुप-चाप
झरने का स्वर
हममें भर जाय,
चुप-चाप चुप-चाप
शरद की चाँदनी
झील की लहरों पर तिर आय,
चुप-चाप चुप-चाप
जीवन का रहस्य
जो कहा न जाय, हमारी
ठहरी आँखों में गहराय,
चुप-चाप चुप-चाप
हम पुलकित विराट में डूबें
पर विराट् हम में मिल जाय -
चुप-चाप चुप-चाप।

पहली कविता **क** प्रणय की अनुभूति की कविता है। राग संबंध की प्रगाढ़ता का बिंब है। ''प्रारब्ध'' संकेत है कि संबंध क्षण भर का नहीं, जीवनपर्यन्त बना रहने वाला है। ''दूसरी, चंपई पंखुड़ी'' कली से अभिन्न है। सौन्दर्य कोमलता में अद्वितीय। पर भूलना कठिन है कि खिलते-न-खिलते गंध तो शेष नहीं रह जाएगी। होने में, संयुक्त होने में क्षति का अहसास। दूसरी कविता **ख** में प्रकृति से और प्रकृति में व्याप्त विराट सत्ता में घुल-मिल जाने का चित्र है। भाषा भंगिमा की दृष्टि से इन प्रयोगों पर ध्यान दें - ''भर जाय''/तिर जाय/गहराय/ - और अंत में ''चुप-चाप चुप-चाप''। पाठ की विशिष्टता। वाचिक का काव्यगुण। मुद्रणचिह्न से ही इस गुण को पहचान पा रहे हैं - पर ध्वनि ऐसी, कि बोलकर ही इसका वैशिष्ट्य जानेंगे।

8.5.2 हल्की-फुल्की, व्यंग्य-कविताएँ : रूप तथा भाषायी संगठन

अज्ञेय में अभिजात्य की गरिमा सब स्वीकार करते हैं। इस ओर कम ही ध्यान जाता है कि अज्ञेय ने व्यंग्यविनोद की हल्की-फुल्की कविताएँ भी लिखी हैं। इनमें कवि की यथार्थ के प्रति तीखी प्रतिक्रिया भी देख सकते हैं। एक कवि के समग्र अध्ययन में भाषा की इस क्रीड़ावृत्ति पर भी ध्यान जाना चाहिए :

जाट रे जाट
तेरे सिर पर खाट
परजातंतर की

देस रे देस
तेरे सिर पर कोल्हू
इसका भार तू कैसे ढोयेगा
जिसे पेरेंगे जाट बाहम्न बनिया तेली खत्री

आप ही देखें कि यह भाषा यह ढंग अज्ञेय केवल स्वाद बदलने के लिए अपनाते हैं या उनके भीतर ऐसा विक्षोभ भी व्याप्त था जिसे कहना उनकी सहज प्रकृति या शैली के अनुरूप न था।

अंत में एक बार और याद कर लें - ''दूसरासप्तक'' के सम्पादकीय में अज्ञेय ने लिखा था 'लेकिन जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है - वैसे-वैसे हमारे उससे रागात्मक संबंध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं - और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा संबंध टूट जाता है।' अज्ञेय आत्मबोध के ही कवि नहीं हैं, यथार्थ के नये अनुभवों को जब-तब भाषा में प्रत्यक्ष करने वाले कवि भी हैं।

8 .6 सारांश

अज्ञेय आधुनिक भावबोध के ऐसे कवि हैं जिन्होंने काव्यभाषा और काव्यशिल्प की दृष्टि से खड़ी बोली की हिन्दी कविता को नयी समृद्धि दी है। उन्होंने छायावादी संस्कारों के प्रभाव से मुक्त होने में वह नयी काव्यभाषा अर्जित की जिससे प्रयोगवाद और आगे नयी कविता की पहचान बनी। रोमांटिक-आधुनिक के बीच, वैयक्तिक-निर्वैयक्तिक के बीच, शब्द और सत्य के बीच अज्ञेय जो द्वन्द्व अनुभव करते हैं उसी से उनकी महत्वपूर्ण कविताएँ दूर्वाचल, नदी के द्वीप, यह द्वीप अकेला, बावरा अहेरी, बना दे चितेरे, असाध्यवीणा संभव हुई हैं। अज्ञेय की आत्मचेतना बिंब, प्रतीक, मिथक, नये सादृश्यविधान के साथ एक विशेष संबंध बनाती है जिससे आदर्श काव्यभाषा और शिल्प का संगठन संभव होता है। काव्यभाषा की नयी खोज कवि के लिए एक नया साक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार है और परम्परागत काव्यभाषा के लिए चुनौती है। उसके प्रति सार्थक प्रतिरोध है। अज्ञेय की नयी काव्यभाषा आकस्मिक घटना नहीं है। उसके पीछे लंबा संघर्ष है। अज्ञेय अपने परिचित अभ्यस्त मार्ग पर चलकर ही अपना काव्यशिल्प विकसित करते हैं। उनकी छोटी कविताएँ कभी अवधारणात्मक है कभी प्रगीतात्मक। उनकी लम्बी कविताएँ नाटकीय भी हैं और प्रगीतात्मक भी। उनमें नाटकीय तनाव वैसा नहीं है जैसा ''राम की शक्तिपूजा'' (निराला) और ''अंधेरे में'' (मुक्तिबोध) की संरचना में दिखाई देता है। पर ''असाध्यवीणा'' में नाटकीय तत्व मौजूद हैं। कुछ अन्य लम्बी कविताओं में भी। अज्ञेय की काव्यभाषा और काव्यशिल्प के पीछे एक लम्बा संघर्ष है।

8 .7 प्रश्न

1. प्रयोगवाद में भाषा की समस्या कवि के लिए क्यों महत्वपूर्ण है?
2. अज्ञेय के काव्यबिम्बों का वैशिष्ट्य स्पष्ट कीजिए।
3. लंबी कविता के रूप में 'असाध्य वीणा' का विश्लेषण तथा मूल्यांकन कीजिए।
4. अर्थ की सघनता और भाषागत संगठन या कसाव की दृष्टि से अज्ञेय की किसी एक छोटी कविता का विश्लेषण तथा मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 9 शमशेर काव्य की विचार-भूमि

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 शमशेर काव्य की विचार-भूमि
 9.2.1 लिविंग प्रिंसिपल की खोज
 9.2.2 मार्क्सवाद : व्यक्तित्व निर्माण की आधारभूत सामग्री के रूप में
 9.2.3 विवेक और भावबोध का द्वंद्व
 9.2.4 उर्दू कविता (ग़ज़ल) और शमशेर
 9.2.5 आत्म-सत्य बनाम समाज-सत्य
 9.2.6 सामाजिकता और यथार्थवाद
 9.2.7 कला और सामाजिक दायित्व
 9.2.8 अवसाद और अकेलेपन की भावना
9.3 सारांश
9.4 प्रश्न

9.0 उद्देश्य

शमशेर पर आधारित इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- शमशेर काव्य की विचार-भूमि के बारे में जान सकेंगे जिसमें जीवन और कला के बारे में शमशेर का नज़रिया, मान्यताएँ, रचनाकार व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक विचार-, प्रणालियाँ, तथा इन सबके संदर्भ में उनका आत्मसंघर्ष भी स्पष्ट होगा।
- इस इकाई के अध्ययन से शमशेर की कविता को जानने-समझने के बारे में जो प्रयास हुए हैं, उनपर आरोपों-प्रत्यारोपों का जो सिलसिला चला है, उसकी जानकारी भी आपको मिलेगी।
- शमशेर काव्य की इस वैचारिक पृष्ठभूमि से आप शमशेर के काव्य को समझने की दिशा में प्रवृत्त भी हो सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

शमशेर बहादुर सिंह आधुनिक दौर के सबसे जटिल कवि माने जाते हैं। यह सच है कि उनकी काव्य-संवेदना सरल नहीं है, लेकिन कविता के पाठकों के बीच शमशेर के दुरूह माने जाने के पीछे कुछ कारण रहे हैं। आम तौर पर हम किसी रचनाकार को पढ़ते समय पहले उसका विचार जानने की कोशिश करते हैं। अगर इस विचार के बारे में हमें किसी भी तरह कुछ पता चल जाता है, तो उसी के साँचे में उसकी सारी रचनाओं को बैठाकर देखने लगते हैं। उदाहरण के लिए, रामधारी सिंह दिनकर के विषय में प्रचलित मान्यता है कि वे उग्र राष्ट्रवादी विचारों के थे। उनकी अनेक कविताएँ इसकी पुष्टि करती हैं। उसी प्रकार यह कहा जाता है कि 'नए पत्ते' के दौर के 'निराला' साम्यवादी विचारों से प्रभावित हैं, नागार्जुन प्रगतिशील हैं, अज्ञेय रहस्यवादी हैं, राजकमल चौधरी अराजकतावादी हैं, इत्यादि। किंतु कवियों के साथ इस प्रकार के विशेषण एक सीमा तक ही कवि-संसार में प्रवेश करने में पाठक के लिए सहायक होते हैं। प्रायः तो यह देखा गया है कि इस प्रकार के विशेषण कवि के संपूर्ण कर्म को समझने के रास्ते में बाधक बन जाते हैं। सुसंगत विचार या विचारधारा खोजने में विश्वास रखने वालों की परेशानी तब और बढ़ जाती है जब लेखक अपनी टिप्पणियों, निबंधों और वक्तव्यों में जिन विचारों का समर्थन करता हुआ, जिनका प्रचार करता हुआ दिखलाई पड़ता है, उसकी कविताएँ कहीं भी उनके मेल में

पड़ती नहीं दीखतीं। इसके चलते उलझन में पड़ा हुआ पाठक-आलोचक कवि में अंतर्विरोधों के दर्शन करने लगता है और फिर इन अंतर्विरोधों की सामाजिक-आर्थिक, मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है। किसी कवि को पढ़ने-समझने और उससे आत्मीयता स्थापित करने के मार्ग में इस प्रकार की व्याख्याओं से दिशा-भ्रम के अलावा और कुछ नहीं होता। शमशेर बहादुर सिंह को पढ़ते समय इस दिशा में और भी सतर्कता ज़रूरी है।

शमशेर बहादुर सिंह की कविताओं को लेकर अच्छे-भले रसज्ञ शिकायत करते पाए जाते हैं कि इनका पूरा आनंद उठाने में उन्हें दिक्कत पेश आती है। शमशेर ने 1949 में जब अपना पहला कविता-संग्रह 'उदिता' तैयार किया (जो उस साल छप न सका) तो उसकी भूमिका में इस परेशानी का ज़िक्र यों किया - 'बाज मेरे दोस्तों को मेरी कुछ रचनाओं से लुत्फ उठाने में दिक्कत महसूस हुई है, जहाँ मैं समझता हूँ कि न होनी चाहिए थी या जितनी हुई उससे बहुत कम होनी चाहिए थी।' अपनी कविताओं को लेकर वे इतने आश्वस्त क्यों हैं? वे आगे बताते हैं- '.......जब ये रचनाएँ लिखी गईं, उस वक्त मुझे किसी पाठक की दिक्कत का ख्याल नहीं था.....सिवाय अपने उस पाठक के, जिसके सामने मैंने अपनी बातों को खास अपने लहजे में, खास अपने मन के रंग में, अपनी लय, अपने सुर में, खोलकर, एक ख़ाब की तरह, एक उलझी हुई याद के बहुत अपने छायाचित्र की तरह, रखने की कोशिश की है।' तात्पर्य यह कि शमशेर अत्यंत ही निजी-भाव की कविताएँ लिख रहे थे। उनका कवितारंभ हिंदी में छायावादी स्वर के उत्कर्ष में हुआ। छायावाद की श्रेष्ठतम रचनाएँ लिखी जा चुकी थीं और स्वयं उसके स्थपतियों को अब कविता के नए रूपाकार की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था। इसी समय, छायावाद का गहरा रंग लिए लेकिन भावों और वाणी में सरलता के उद्दाम आवेग का एक रेला भी आया, जिसे बाद में सुविधा के लिए 'उत्तर छायावादी काव्य' कहा गया। दरअसल यह स्वच्छंदतावाद की ही एक धारा थी। शमशेर की आरंभिक कविताओं की पृष्ठभूमि छायावादी और उत्तर-छायावादी काव्य-संस्कारों से निर्मित हुई। लेकिन उनकी एकांत-प्रियता और विशिष्ट निजीपन ने उनकी कविताओं को नितांत भिन्न स्वर और रूप प्रदान किया। इसलिए आरंभिक दौर से लेकर तो बाद तक के शमशेर को पढ़ते समय इस बात के प्रति सावधान रहना भी आवश्यक है कि उन्हें किसी एक काव्य-धारणा के लक्षणों के आधार पर समझने की कोशिश न की जाए। दूसरी गड़बड़ी, जो प्रायः शमशेर की कविताओं के साथ हुई है और जिसकी ओर आलोचक नंदकिशोर नवल ने इशारा किया है, वह है उनमें नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल की तरह 'ठोस अर्थ की खोज' करना, जबकि उनके अनुसार शमशेर ने 'अर्थ को ज्यादा से ज्यादा छोड़कर कविता लिखी है।' डॉ. नवल का मत है कि शमशेर ने 'अर्थ को अधिक से अधिक छोड़कर कविता लिखी और उसमें वह जादू भर दिया, जो अधिक से अधिक मानवीय है और अधिक से अधिक कविता का जादू।' दिक्कत सिर्फ यह है, जैसा कि ऊपर भी कहा गया है कि उन्हें प्रायः कलावाद, रूपवाद, अतियथार्थवाद और प्रभाववाद के द्वारा समझने-समझाने की कोशिश की गई है, जिससे उनकी दुरूहता घटने के बदले बढ़ती ही चली गई है।'

अशोक वाजपेयी ने इसी बात को शमशेर की कविताओं के एक संचयन 'टूटी हुई बिखरी हुई' की भूमिका में इस प्रकार कहा है - शमशेर की कविताओं का 'आप किसी अन्य अभिप्राय के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकते। वह अपने आत्यंतिक अर्थ में परम नैतिक कविता है, प्रार्थना की तरह पवित्र...।' शमशेर की संपूर्ण काव्य-साधना के आशय को अशोक वाजपेयी इस प्रकार व्यक्त करते हैं - 'उनकी दुनिया 'टूटी हुई बिखरी हुई' है, पर अपनी सुंदरता और अर्थमयता में मुकम्मल। उसमें टूटे-बिखरे हुए से ही सजग, पर सहज, संयमित, पर तनाव-भरी मानवीयता सहेजने और हम तक पहुँचाने की संकोच और संदेह भरी चेष्टा है।'

शमशेर की कविताओं को पढ़ने के पहले वैसी रूढ़ियों से मुक्ति आवश्यक है जो तथाकथित काव्य-आंदोलनों ने बना रखी हैं। इसलिए उनके काव्य-लोक में प्रवेश के लिए और उस संसार की सदस्यता प्राप्त करने के लिए किसी भी पाठक को शमशेर के मनोजगत, विचार के प्रति उनके दृष्टिकोण, संसार के प्रति उनकी दृष्टि तथा कविता के उनके व्यवहार को सावधानी से समझना ज़रूरी होगा। प्रायः हिंदी आलोचना ने यह दायित्व अब तक पूरा नहीं किया है,

हालांकि शमशेर की श्रेष्ठता को सीधे-सीधे अस्वीकार करने का दुस्साहस भी एकाध को छोड़कर शायद ही किसी ने दिखाया हो। इसलिए हम शमशेर को पढ़ने का रास्ता उन्हीं की उंगली पकड़कर तय करेंगे और उस दरम्यान यह भी देखेंगे कि इस रास्ते से कई सुधी समीक्षक कैसे और क्यों भटक गए हैं।

9 .2 शमशेर काव्य की विचार-भूमि

9 .2.1 लिविंग प्रिंसिपल की खोज

कोई रचनाकार या कलाकार शमशेर बहादुर सिंह के लिए आकर्षक इसलिए होता है कि वह कोई ऐसी चीज़ पैदा कर रहा होता है जिससे हम जाने-अनजाने अपनी अनुभूतियों या अपने अनुभवों की तुलना करते चलते हैं। ऐसे कलाकार को समझने के अपने तरीके के बारे में उनका कहना है, 'चूँकि मेरी दिलचस्पी शैली और प्रकार में और तकनीक में रही है, तो अलग-अलग रचनाकारों की, कवियों की, आर्टिस्टों की जो शैलियाँ हैं उनमें भी रही है।.......मैं डिसकवर करना चाहता हूँ कि इस रचनाकार का जो एक लिविंग प्रिंसिपल है वह क्या है।' यह उद्धरण खुद शमशेर को समझने के लिहाज़ से काफी महत्वपूर्ण और अर्थपूर्ण भी है। अक्सर रचनाकारों की विश्व-दृष्टि या विचारधारा की खोज की जाती है। इस विश्व-दृष्टि या विचारधारा की जगह शमशेर रचनाकार के 'लिविंग प्रिंसिपल' को खोजने-समझने की ज़रूरत बताते हैं, जो यह एक सही रवैया लगता है।

रघुवीर सहाय को शमशेर ने ज़िंदगी में जिन तीन चीज़ों की 'बड़ी ज़रूरत' बताई थी, उनमें एक था - मार्क्सवाद। एक इंटरव्यू में मार्क्सवाद से अपने रिश्ते को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि मार्क्सवाद से नज़रिया बेहतर, वैज्ञानिक और विश्वसनीय होने के साथ-साथ दृष्टि में विस्तार मिलता है और विश्व-बंधुता का अहसास भी होता है। मार्क्सवाद से रचनाकार को दिशा मिलती है और उसकी वेदना में धार आ पाती है। लेकिन इसी मार्क्सवाद से शमशेर का रिश्ता हिंदी के आलोचकों के लिए खासा सिरदर्द बना रहा है। प्रायः सबने अपनी मुश्किल किसी न किसी ढंग से बताई है और अपने-अपने हिसाब से उसका समाधान भी किया है, लेकिन उनकी चर्चा के पहले शमशेर की आरंभिक कविताओं के संकलन 'उदिता' की भूमिका की ये पंक्तियाँ पठनीय हैं - '.....अगर मेरी वाणी में इन्सान का दर्द है - छोटा सा दर्द सही, मगर सच्चा दर्द.....भावुकता, ललक, आकांक्षा, तड़प और आशा, कभी घोर रूप में निराशा भी लिए हुए, कभी उदासी, कभी-कभी उल्लास भी......एक प्रेमी कलाकार, एक मध्यवर्गीय भावुक नागरिक का, जो मार्क्सवाद से रोशनी भी ले रहा है और सांस्कृतिक और धार्मिक विविध परंपराओं में अपनी नैसर्गिक शक्ति और ऊर्जा के स्रोत भी (अपनी सीमा में अपनी शक्ति भर) तलाश रहा है, एक ऐसा व्यक्ति जिसको सभी देशों और साहित्यों से प्यार है और सबसे अपने दिल को जोड़ता है (प्रेम की भावुकता ने जो बीज़ बोया वह मैं देखता हूँ कि अकारथ नहीं गया: क्योंकि पूरी मनुष्य जाति से प्रेम, युद्ध से नफरत और शांति की समस्याओं से दिलचस्पी - ये सब बातें उसी से धीरे-धीरे मेरे अंदर पैदा हुईं.....) तो, अगर उपर्युक्त तमाम सूत्रों के साथ इन्सान से जुड़ता हूँ, तो मेरे लिए फिलहाल इतना काफी है।' यहाँ चिह्नित करने लायक शब्द हैं - 'सभी देशों और साहित्यों से प्यार', 'प्रेम की भावुकता', 'पूरी मनुष्य जाति से प्रेम, युद्ध से नफरत और शांति की समस्याओं से दिलचस्पी' और फिर इन सभी सूत्रों के साथ इन्सान से जुड़ने की कोशिश। ये कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिनके माध्यम से शमशेर को समझा जा सकता है।

सबसे अधिक दिलचस्प है 'प्रेम की भावुकता' को गौरव का स्थान दिया जाना। यह इसलिए कि आज भी मार्क्सवादी विचारक और रचनाकार अगर प्रेम को सम्मान देने को तैयार हो भी जाएँ, तो भावुकता को श्रेयस्कर मानने में उन्हें हिचकिचाहट बनी रहेगी। कम्युनिस्टों का प्रशिक्षण ही कुछ ऐसा होता है कि भावुक होने को वे कमज़ोर होने की निशानी मानते हैं। शमशेर भावुकता को वस्तुपरकता के साथ शत्रुतापूर्ण रिश्ते में नहीं रखते। प्रायः यह समझा जाता रहा है कि ठंडी वस्तुपरक दृष्टि अपनाने के लिए भावुकता से दूर रहना बहुत ज़रूरी है।

ऐसी धारणा वाले शमशेर को दुर्बल भावुक समझते रहे हैं। लेकिन उन्हें 1844 की आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपियों में मार्क्स के इस वाक्य को ध्यान से पढ़ना चाहिए : The dominion of the objective being in me, the sensuous outbrust of my life-activity, is passion, which thus becomes here the activity of my being.

न प्रेम सीमित है, न ही उनकी भावुकता का दायरा तंग है। वे उन्हें क्रिस्टोफर काडवेल की तरह ही ग्रहण करते हैं, जिन्होंने 'प्रेम' शीर्षक अपने निबंध में लिखा है कि 'सामाजिक संबंधों में विद्यमान भावात्मक तत्व को मनुष्य ने 'प्रेम' का नाम दे दिया है।' मार्क्सवादियों का विरोध पूँजीवाद से दरअसल इस वजह से होना चाहिए कि वह तमाम सामाजिक संबंधों को आर्थिक संबंधों में और उन्हें भी बाज़ार द्वारा तय किए गए संबंधों में बदलते हुए इस भावात्मक तत्व को जला डालता है। काडवेल इस व्यवस्था के बारे में लिखते हैं, 'आज मानो प्रेम और आर्थिक संबंध दो विपरीत ध्रुवों पर जमा हो गए हैं।.....विलगाव एक भयंकर तनाव को जन्म देता है और यही बूर्जुआ समाज में व्यापक परिवर्तन की प्रक्रिया आरंभ कर देता है।' इसी निबंध में उन्होंने प्रेम को All the unused tenderness of man's instincts कहा है। भावना, जिसे जबर्दस्ती ज़मीन के अंदर गाड़ दिया गया है, जब विस्फोट के साथ बाहर आती है तो समाज का पूरा ढाँचा चकनाचूर हो जाता है। यही क्रांति है। शमशेर इसी क्रांति के मुरीद हैं। इसीलिए प्रेम की भावुकता उन्हें कमज़ोर करने की जगह इन्सानों के साथ सही रिश्ते कायम करने में मदद करती है।

9.2.2 मार्क्सवाद : व्यक्तित्व निर्माण की आधारभूत सामग्री के रूप में

अज्ञेय ने शमशेर के बारे में कहा है, 'शमशेर की कविता में निहित मूल्य-दृष्टि में और उनकी घोषित राजनीति में, राजनीतिक दृष्टि में, लगातार एक विरोध रहा है और अभी तक है।' यह घोषित राजनीतिक दृष्टि मार्क्सवाद के अलावा और कुछ नहीं। पर इस संबंध में स्वयं कवि का विचार यह है - 'मार्क्सवाद को मैं सामाजिक, राजनैतिक पहलुओं से नहीं देखता, बल्कि हमारे युग में वह मानव के गहनतम चिंतनों से जुड़ा है।' अतः मार्क्सवाद उनके लिए राजनीतिक दृष्टि-मात्र न होकर उनके रचनाकार व्यक्तित्व के निर्माण की आधारभूत सामग्री है। 'दूसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा है कि यह कलाकार पर निर्भर करता है कि वह अपने चारों ओर बिखरे पड़े सुंदरता के खजाने का कितना इस्तेमाल कर सकता है। लेकिन कलाकार में यह क्षमता आए, इसके लिए ज़रूरी है कि वह अपने चारों तरफ की ज़िंदगी मे दिलचस्पी ले, उसे ठीक-ठाक, यानी वैज्ञानिक आधार पर समझे। शमशेर के लिए यह वैज्ञानिक आधार मार्क्सवाद है। मार्क्सवाद उन्हें अपनी अनुभूतियों और अनुभवों को सुलझाने में, उन्हे स्पष्ट करने में मदद करता है, जिससे उनकी 'कला-चेतना' जग पाती है। इसी वक्तव्य में वे आगे लिखते हैं, 'इस तरह अपनी कला-चेतना को जगाना और उसकी मदद से जीवन की सच्चाई और सौंदर्य को अपनी कला में सजीव से सजीव रूप देते जाना : इसी को मैं साधना समझता हूँ। और इसी में कलाकार का संघर्ष छिपा हुआ देखता हूँ।' इस तरह, यह देखना कठिन नहीं है कि शमशेर के प्रशंसकों ने उनकी कवि-दृ.ष्टि या कला-चेतना और मार्क्सवाद मे जो भेद देखा था, वह स्वयं शमशेर के लिए कहीं भी मौजूद नहीं था।

मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी, दोनों ही तरह के आलोचकों ने और पाठकों ने भी प्रायः अज्ञेय की तरह ही शमशेर के अंदर मार्क्सवाद को लेकर द्वंद्व चलते हुए देखा है। यहाँ मुक्तिबोध को लेकर अब तक चली आ रही उलझन की याद आना स्वाभाविक है। शमशेर और मुक्तिबोध में कई स्तरों पर समानता है। कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि मुक्तिबोध को लेकर जो बहस थीं, उसने अपनी परिणति प्राप्त कर ली है और यह अंततः हिंदी की प्रौढ़ आलोचना-दृष्टि के कारण ही संभव हो सका है। लेकिन अभी हाल में, शमशेर की मृत्यु के बाद उनकी स्मृति में 'सापेक्ष' नामक पत्रिका का जो अंक निकला है, वह उसे गलत साबित कर देता है। मार्क्सवादी आलोचक डॉ.शिव कुमार मिश्र ने सुल्तान अहमद को दिए गए इंटरव्यू में यह विचार व्यक्त किया है - 'मुक्तिबोध की कविता में ऐसा कुछ है जो दूसरों को पार्टिक्यूलरली मार्क्सवाद के विरोधियों को यह गुंजाइश देता है कि वे उन्हें अपने ढंग से एनालाइज़ करके महान सिद्ध कर

दा....... उनमें भी ऐसा तमाम कुछ है, जो उनकी मार्क्सवादी, प्रगतिशील, ह्यूमन, मानसिकता से मेल नहीं रखता।' 'वह तमाम कुछ' क्या है, जो प्रगतिशील, मानवीय मानसिकता के विरुद्ध है? पूरे इंटरव्यू में शिवकुमार जी यह नहीं बताते। लेकिन वे यह ज़रूर कहते हैं कि शमशेर में मनुष्य, समाज, राष्ट्र और उनके भविष्य को लेकर गहरी चिंता का भाव है; वे तमाम मानव-विरोधी शक्तियों के आजीवन खिलाफ रहे; वे सेक्यूलर-माइंडेउ ह्यूमन थे; वर्ण, जाति, धर्म और नस्ल जैसी संकीर्ण विचारधाराओं से बहुत दूर थे; मनुष्यता के बारे में, उसके सुख-दुख के बारे में, सामान्यजन के बारे में, निर्धन जनता के बारे में, मध्य वर्ग की आर्थिक बदहाली के बारे में उन्हें चिंताएँ थीं। यह सब कुछ कहने के बाद, शमशेर की संवेदना का दायरा बहुत विशाल देखने के बाद भी शिवकुमार जी यह कहने को मजबूर हैं कि 'बहुत से ऐसे प्रभाव भी शमशेर पर रहे, जिनको एक सीमा तक रुग्ण भी कह सकते हैं।' ये रुग्ण प्रभाव क्या हैं और उनके कौन-से लक्षण शमशेर में प्रकट होते हैं, इसे स्पष्ट करना शिवकुमार जी को ज़रूरी नहीं लगा।

शमशेर पर रुग्ण प्रभाव देखने का यह रोग नया नहीं है, यह 'नई कविता और अस्तित्ववाद' में संकलित डॉ. रामविलास शर्मा के निबंध 'शमशेर बहादुर सिंह का आत्म-संघर्ष और उनकी कविता' को पढ़ने से पता चलता है। शमशेर इलियट-पाउण्ड के प्रशंसक थे। डॉ. शर्मा ने इस पर टिप्पणी की है -- 'शमशेर यह कहकर अपने मन को समझा लेते थे कि इलियट-पाउण्ड की 'अस्वस्थ' विषय-वस्तु से हमें क्या लेना-देना है, हम तो उनके शिल्प को सराहते हैं। वास्तव में बात थी इन 'अस्वस्थ' कवियों के भाव-बोध पर मुग्ध होने की। उनका भाव-सौंदर्य उन्हें अपनी ओर खींचता था और उनका विवेक उन्हें फटकारता था कि यह सब व्यक्तिवादी प्रपंच है।' अज्ञेय ने कवि की मूल्य-दृष्टि और उसकी घोषित राजनीति में विरोध देखा था। यहाँ डॉ. शर्मा कवि के भाव-बोध और उसके विवेक में खींचतान देखते हैं। यह विवेक मार्क्सवाद ही है। विवेक (मार्क्सवादी) और भाव-बोध (अस्वस्थ व्यक्तिवादी) के बीच द्वंद्व मुक्तिबोध में भी था। पर डॉ. शर्मा इन दोनों में फर्क यह पाते हैं कि जहाँ मुक्तिबोध में इसे लेकर काफी उलझन थी, वे तड़पते थे, अपने-आपसे लड़ते थे, लहूलुहान हो जाते थे, वहीं शमशेर सजीले जिस्म के गुनगुनाने पर रीझ कर रह जाते हैं, अंधेरे कुएँ या बावड़ी में उतरने की फुरसत उन्हें नहीं मिलती।

क्या संयोग है कि कुछ ऐसा ही द्वंद्व या संघर्ष डॉ. रघुवंश को भी दिखाई पड़ता है......'वैचारिक स्तर पर शमशेर में एक विरोधाभास बना रहा है।......व्यक्तित्व की प्रखर चेतना के साथ उसमें सामाजिक दायित्व का आग्रह भी है। इस प्रकार का आंतरिक द्वंद्व योरोप के तथा पश्चिम के ओडेन, स्पेण्डर, पाब्लो नेरूदा, लोर्का तथा आरेगा जैसे अनेक कवियों में पाया जाता है........परंतु जिनमें यह द्वंद्व वैयक्तिक चेतना और सामाजिक दायित्व की भावना का है, उनको शमशेर की तरह शुद्ध कवि-दृष्टि और प्रभावानुभव में पलायन की सुविधा नहीं मिल सकी।' सजीले जिस्म पर रीझकर रह जाने के रुग्ण स्वभाव के साथ यहाँ हमें शमशेर के पलायनवादी चरित्र का भी पता चलता है। रघुवंश जी की धारणा है कि कवि अपने इस अंतर्द्वंद्व का समुचित समाधान सर्जन के स्तर पर' नहीं कर सका है। 'सापेक्ष' के 'शमशेर-अंक' में डॉ. रामविलास शर्मा अपनी तीन दशक पुरानी धारणा को दुहराते हुए अपनी बात को स्पष्ट करते हैं- 'शमशेर की रचनाओं में काव्य-कौशल को लेकर उधेड़बुन ज्यादा है। उनकी उलझनों का एक कारण यह है कि वे अपने रीतिवादी रुमानी सौंदर्य-बोध से अपने मार्क्सवादी विवेक की संगति नहीं बिठा पाए।'

9 .2.3 विवेक और भावबोध का द्वंद्व

विवेक यानी मार्क्सवाद और भाव-बोध के बीच कोई अंतर खुद शमशेर महसूस करते थे या नहीं, और अगर करते थे तो उनका समाधान उन्होंने किस तरह किया -- इस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। अभी हिंदी आलोचना में बिल्कुल ही अलग पद्धतियों और विश्वासों को लेकर चलने वाले चिंतकों के बीच इस मसले पर जो एकमत स्थापित हुआ है, भले ही उनके

मकसद अलग-अलग हो, उसे ठीक से देखना कवि को समझने के लिहाज से तो उपयोगी होगा ही, अपने आप में शिक्षाप्रद भी होगा। विजयदेव नारायण साही के चर्चित निबंध 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' में भी कवि के विवेक और सौंदर्य-बोध के दरम्यान एक ऐसी खाई देखी गई है, जिसे वह नहीं पाट सका है। साही ने मार्क्सवाद को लेकर शमशेर के अंदर चलने वाली कशमकश के क्रमिक विकास को कुछ इस तरह देखा है - 'दूसरा सप्तक' के वक्तव्य में शमशेर 'समाज-सत्य' को आग्रहपूर्वक 'मार्क्सवाद' का पर्याय घोषित करना ज़रूरी समझते हैं। 1961 तक जो चीज़ मार्क्सवाद थी, वह 'समाज', 'सत्य का मर्म' हो गई। बेशक इन दस वर्षों में परिवर्तन हुआ है, कम से कम आग्रह का। कम से कम शमशेर के लिए एक लाभ इसमें अवश्य दिखता है कि 'अपनी भावनाओं में', 'अपनी प्रेरणाओं में', 'अपने संस्कारों में, 'समाज-सत्य के मर्म को ढालना' और उसमें अपने को पाना उतना कठिन नहीं है जितना वह जिसे वे मार्क्सवाद के नाम से अभिहित करते हैं।' दूसरे शब्दों में, शमशेर धीरे-धीरे मार्क्सवाद के बंद दायरे से बाहर निकलते हैं, उससे मुक्ति प्राप्त करते हैं। लेकिन इस मुक्ति के बाद भी वे समाज-सत्य के मर्म को अपनी प्रेरणाओं में ढालना चाहते हैं। साही अपने इसी निबंध में इस संबंध में ये विचार व्यक्त करते हैं - 'समाज-सत्य को निजी उपलब्धि बनाना उसे आत्मसात करना या उपयोग में लाना है। लेकिन शमशेर के लिए काव्यानुभूति के केंद्र में.....उसकी सत्ता नहीं है। ...... वह एक तरह से हाशिये पर स्थित है।' वे आगे कहते हैं - '.........'उस दौर' में भी जब वह वास्तविकता के बाहरी आकारों की ओर बहुत आकर्षित थे, तब भी उनके लिए मार्क्सवाद शुद्ध वस्तुपरकता का दूसरा नाम था।' इसीलिए जो चीज़ 'उस दौर' में भी हाशिये से आगे नहीं बढ़ी थी, बाद में उसका (मार्क्सवाद का) 'छूटता हुआ दामन उनके लिए मोह-भंग का रूप नहीं लेता, बल्कि केंचुल छोड़कर चुपचाप आगे बढ़ जाने की अनुभूति देता है।' साही के अनुसार शमशेर का विकास प्रगतिवादी दौर के बाद मार्क्सवाद से मुक्ति की दिशा में हुआ है। वैसे तो उस दौर में भी वह हाशिये पर ही था, पर अब तो उतारी हुई केंचुल की तरह वह पीछे छूट गया है।' इस मान्यता को शमशेर ने स्वयं आगे चलकर चुनौती दी है।

यह देखना बहुत मुश्किल नहीं कि मार्क्सवादियों और गैर-मार्क्सवादियों को भी शमशेर के मार्क्सवाद को लेकर हमेशा संशय बना रहा। इसकी वजह उन्होंने खुद बताई है - '.........मैं उस अर्थ में मार्क्सवादी कभी नहीं रहा जिस अर्थ में मेरे प्रगतिशील दोस्त, मसलन शिवदान चौहान और राजीव सक्सेना हैं।' 1964 में साही ने बताया कि शमशेर ने मार्क्सवाद को केंचुल की तरह उतार दिया है, यहाँ 1991-92 में खुद शमशेर ज़ोरों से मार्क्सवाद को अपनी सच्ची ज़रूरत बता रहे हैं। सिर्फ अपने लिए ही नहीं, रचना-कर्म मात्र के लिए मार्क्सवाद की क्या अहमियत है - एक इंटरव्यू में उसके बारे में वे कहते हैं, 'एक लेखक के रूप में मार्क्सवादी होना ज़रूरी है, इस तथ्य को मैं व्यावहारिक रूप में मानता हूँ।' यानी मात्र सैद्धांतिक स्तर पर नहीं, व्यावहारिक स्तर पर, रचना-कर्म के ठोस धरातल पर मार्क्सवाद की अनिवार्यता उनकी निगाह में बनी हुई है। लेकिन यह मार्क्सवाद, जो शमशेर का 'लिविंग प्रिंसिपल' है, वह उनके प्रगतिशील मित्रों के मार्क्सवाद से थोड़ा (!) भिन्न है। यह भिन्नता इसलिए है कि उन्होंने मार्क्सवाद को विचारधारा मात्र के रूप में ग्रहण नहीं किया, बल्कि वह उसे मानव के गहनतम चिंतनों से जुड़ा हुआ मानकर चलते रहे। अर्न्स्ट फिशर ने 'आर्ट आइडियोलॉजी' में लिखा है - 'मार्क्सवाद एक विचारधारा नहीं है, लेकिन कम्युनिस्ट पार्टियों ने एक विचारधारात्मक व्यवस्था खड़ी की और उसे 'मार्क्सवाद-लेनिनवाद' का नाम दिया।' उनका कहना है कि विचारधारा में विचार अपनी गति खो देते हैं, इस कारण वे अपनी द्वंद्वात्मकता खो देते हैं और परिणामस्वरूप अपनी वास्तविकता भी। विचारधाराएँ बंद किलों की तरह हैं। यहाँ विचार 'डॉग्मा' के ताबूत में बंद कर दिया जाता है। फिशर लिखते हैं कि प्रत्येक विचारधारा में सत्य का परिणाम नहीं, बल्कि 'ताकत का सबूत' ही निर्णायक तत्व हो जाता है। पर मार्क्सवाद के बारे में उनका विचार है कि वह शक्ति-परीक्षा पर नहीं, बल्कि यथार्थ की सापेक्षता में तुलनीय अपने वैज्ञानिक निष्कर्षों के सत्य पर निर्भर करता है। मार्क्सवाद का लक्ष्य, उसका स्वप्न है - संपूर्ण मनुष्य। जो अलगाव का शिकार न हो, जिसकी प्रत्येक क्षमता विकसित हो, यानी सृजनशील मनुष्य! मार्क्सवाद को 'गाइड टु एक्शन' कहा जाता रहा है, पर वह 'डायरेक्ट गाइड टु एक्शन' नहीं है। फिशर ठीक ही कहते हैं कि मार्क्सवाद का विलक्षण सर्जनात्मक पक्ष यह नहीं है कि वह

वर्ग-संघर्ष का आह्वान करता है। (क्योंकि मार्क्स के बहुत पहले ही वर्गों और वर्ग-संघर्ष के अस्तित्व की खोज की जा चुकी थी), बल्कि यह है कि वह वर्ग-संघर्ष के दौरान अपने आपको पहचान पाने, उद्घाटित करने,- स्वयं को प्राप्त कर पाने के मनुष्य के ऐतिहासिक लक्ष्य की चेतना प्रदान करता है।

कला या साहित्य के इतिहास से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रचनाकार प्रायः विचारों के प्रति आकर्षित होता है, विचार-प्रणाली के प्रति नहीं। विचार-प्रणाली या विचारधारा उसे हमेशा अपर्याप्त और बंधनकारी जान पड़ी है। दुनिया-भर के रचनाकारों पर मार्क्सवाद का असर उसमें निहित समाजवाद के उस विचार के चलते हुआ, जिसमें आज़ादी, न्याय, मानवीयता - मनुष्य का स्वप्न और एक स्वप्न की भांति मनुष्यता निर्णयकारी तत्व है। रचनाकार का संघर्ष मनुष्य के अकेले होते जाने, उसके संवेदनहीन होते जाने, विकृत, अपाहिज होते जाने के विरुद्ध है। इसीलिए उस व्यवस्था के विरुद्ध भी है जो व्यक्ति को इन स्थितियों की ओर ज्यादा से ज्यादा ढकेलते जाती है, उसे और दबाती जाती है। कम्युनिज़्म इससे मुक्ति का ही नाम है, जैसा मार्क्स ने 1844 की आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपियों में लिखा है - 'कम्युनिज़्म को इसकी चेतना है कि वह मनुष्य का पुनः एकीकरण या मनुष्य की स्वयं उसके पास वापसी है, मनुष्य के आत्म-निर्वासन का अतिक्रमण है....और....इस प्रकार मनुष्य के लिए मनुष्य के द्वारा ही मानवीय सत्व का वास्तविक अर्थ में अधिग्रहण है।' उनकी निगाहों में कम्युनिज़्म यह है - 'यह मनुष्य और प्रकृति के बीच और मनुष्य और मनुष्य के बीच के द्वंद्व का वास्तविक समाधान है; स्वतंत्रता और आवश्यकता के बीच, व्यष्टि और प्रजाति के बीच के संघर्ष का वास्तविक समाधान है।' वर्ग-संघर्ष चल रहा हो या नहीं, इतिहास के किसी भी दौर में मनुष्य की पूरे तौर पर वापसी, उसके अधूरेपन का खात्मा, यह कल्पना हमेशा ही आदमी की, जो है, उससे बेहतर की ओर जाने की प्रेरणा देती रहेगी। वास्तविकता कितनी ही कठिन क्यों न हो, यह स्वप्न उसका सामना करने की शक्ति प्रदान करता रहेगा। मार्क्सवाद इस रूप में ही सार्थक बना रह सकता है कि वह इस चेतना को बनाए रखे। शमशेर कहते हैं - 'मार्क्सवाद के मूल में व्यक्ति की जो सकारात्मक आज़ादी का पक्ष छिपा है, उसे ठीक से समझे बिना मनुष्य की बराबरी के समाज की कल्पना नहीं की जा सकती।' पिछले कुछ सालों में दुनिया-भर में हुई तब्दीलियों को ध्यान में रखें, तो यह कथन बहुत सार्थक हो जाता है। व्यक्ति की सकारात्मक आज़ादी से क्या मतलब है? पूँजीवादी समाज में यह किस तरह गुम हो जाती है? आदमी के महसूस करने की ताकत यदि कुंद कर दी जाए तो वह कई तरफ से गुलाम हो जाता है। पूँजीवादी समाज में पूरा समाज ही उपयोगितावाद का कैदी होता है।

मार्क्सवाद, दरअसल, उपयोगितावाद से मुक्ति का कार्यक्रम है। लेकिन अगर कम्युनिस्ट पार्टियों की शासन-व्यवस्था में व्यक्ति की उन्हीं आंतरिक क्षमताओं, उन्हीं संवेदनाओं, उन्हीं कल्पनाओं को स्वतंत्रता दी जाएगी, जो उनके हिसाब से पार्टी के लिए, समाज के लिए, वर्ग-संघर्ष को आगे ले जाने के लिए, समाजवाद को दृढ़ करने के लिए उपयोगी हैं और अगर यहाँ बाकी भावनाओं, संवेदनाओं को अनुपयोगी, इसलिए अंधेरे कोने में डाल दिए जाने लायक मान लिया जाएगा तो यह व्यवस्था भी अंततः मानव-विरोधी ही साबित होगी। मार्क्सवाद को 'सर्विस मैनुअल' में बदलते ही मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का एक 'मैनुअल' तैयार किया जाने लगा और संवेदनाओं की काट-छाँट शुरू हो गई। इस तरह, समाजवाद के उन्मुक्त विचार को विचारधारा के ताबूत में बंद कर दिया गया। समाजवादी विश्व में जो परिवर्तन होने वाले थे, शमशेर को एक सच्चे मार्क्सवादी की तरह उनका पूर्वाभास था, 'कम्युनिस्टों के पुराने, हठी और पत्थरनुमा चरित्र के विरुद्ध जनता कहीं न कहीं विचारों की मुक्ति चाहती है, जीवन में सकारात्मक, संवेदनात्मक आज़ादी की माँग करती है।'

अर्न्स्ट फिशर ने लिखा है कि पत्थर हो चुकी विचारधाराओं के विरुद्ध उत्पन्न होने वाले नए विचार उथल-पुथल मचा देते हैं, विरोध को जन्म देते हैं और अंततः जनता को अपनी गिरफ्त में लेकर एक वास्तविक शक्ति में परिणत हो जाते हैं। शमशेर ने जनता के अंदर विचारों की ही नहीं, जीवन में संवेदनात्मक आज़ादी की भूख को भी बिल्कुल सही पहचाना था। ऊपर से इस

बात में कोई खासियत नज़र नहीं आती, लेकिन जब हम अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी पर थोड़ी गहराई से नज़र डालते हैं तो पाते हैं कि दिन-भर में हमें न जाने कितने प्रकार के अनुभव होते हैं, यह दुनिया, यह प्रकृति कितने रूपों में हमसे टकराती है, लेकिन हम उन सारे अनुभवों, उन सारी मुठभेड़ों का अर्थ नहीं समझ पाते। रास्ता चलते किसी नन्हे बच्चे की आँखों में भरी शरारत, खास ढंग से किसी पेड़ की डाली का हिल उठना, किसी कमज़ोर बूढ़े या औरत का थककर अचानक ही सड़क पर ही बैठ जाना और अपने ही हाथों अपने पाँव दबाने लगना - जाने कितनी ही चीज़ें हमारे आगे से हवा की तरह गुज़र जाती हैं, हमें छू नहीं पातीं, हम खुद उन पर ध्यान देने के लिए मुक्त नहीं होते। संवेदनाओं की समृद्धि और संवेदनाओं की आज़ादी का गहरा रिश्ता है। शमशेर आजीवन मार्क्सवाद के पक्षधर इसीलिए बने रहे कि वह मानवीय संवेदनाओं के उपयोगिता के दायरे से अलग, उनकी स्वतंत्र सत्ता में स्वीकार करने के प्रति आग्रहशील हैं और संघर्षशील भी। इस रूप में देखें तो 1936 में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ के नेतृत्व में चलने वाली प्रगतिवादी धारा की सौंदर्य-दृष्टि से वे उसी तरह अलग दिखलाई पड़ते हैं जैसे मुक्तिबोध। इस भिन्नता को इन दोनों से कहीं ज्यादा प्रगतिवाद के सिद्धांत-निर्माताओं ने चिह्नित किया। सकारात्मक मनुष्य, सकारात्मक मूल्य और उनकी उपयोगिता उन पर इतनी हावी थी कि इनसे अलग जो कुछ भी दिखा, उसे गैर-ज़रूरी और पतनशील तक घोषित कर दिया गया।

'समीक्षा की समस्याएँ' नामक निबंध में मुक्तिबोध ने इस स्थिति को यों व्यक्त किया - 'प्रगतिवादियों के व्यवहार से यह सूचित होता (था) कि वे मुक्ति-संघर्ष, राष्ट्र-प्रेम, प्राकृतिक सौंदर्य, नारी-सौंदर्य, यथार्थ आलोचना-भावना, आशा, उत्साह तथा तत्समान अन्य भावों को प्रगतिशील समझते हैं। किंतु शेष सब भावनाएँ, जैसे भयानक ग्लानि, निराशा-अनाशा, वैफल्य तथा इसी श्रेणी की अन्य सभी भावनाएँ प्रतिक्रियावादी हैं।' इस प्रवृत्ति पर अफसोस ज़ाहिर करते हुए वे कहते हैं कि चूँकि मार्क्सवादी दर्शन यथार्थ-विकास का, मानव-संज्ञा के विकास का दर्शन हैं, इसलिए उसके लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और मूलभूत है 'जीवन-तथ्यों की वास्तविकता।' वे कहते हैं कि साहित्य के प्रश्न मूलतः जीवन के प्रश्न होते हैं। 'अतः लेखक के वास्तविक मनोवैज्ञानिक-संवेदनात्मक जीवन और उसकी अभिव्यक्ति के प्रश्न, वस्तुतः उसके जीवन के प्रश्न होते हैं।' ज़रूरी नहीं कि एक आर्थिक वर्ग में रहने वाले या एक ही सामाजिक उद्देश्य को समर्पित दो व्यक्तियों के मनोवैज्ञानिक-संवेदनात्मक जीवन भी एक से हों। इसलिए ज़रूरत हो जाती हैं - दूसरे की संवेदनाओं के प्रति सहिष्णुता और सम्मान की भावना की।

शमशेर की तरह मुक्तिबोध भी विचारों के विकास, विचारों की मुक्ति की ज़रूरत महसूस करते हैं। कहते वे इसे इस रूप में हैं, 'विचारधारा या भावधारा, सिद्धांत-व्यवस्था अर्थात् ज्ञान-व्यवस्था से प्राप्त सत्य, मूलतः यथार्थ का निकटतम चित्र हैं। किंतु और निकट पहुँचने की आवश्यकताएँ और संभावनाएँ बढ़ती ही जाती हैं। इसलिए सैद्धांतिक विकास भी आवश्यक होता हैं।' यहाँ मार्क्सवाद को विचारधारा से भिन्न रूप में ग्रहण करने पर बल है। लेकिन आरंभिक प्रगतिवाद, उस दौर के अनुरूप ही, मार्क्सवाद की एक सिद्धांत-व्यवस्था के अनुकूल संवेदन-व्यवस्था तैयार करके उसी कसौटी पर रचनाओं को परखता भी रहा। इसका नतीजा यह हुआ, जैसा इसी लेख में मुक्तिबोध ने लिखा, 'यह भी पाया जाता है कि हम लोग, अपने से जो भिन्न है और भिन्न प्रकार के मनोविज्ञान को प्रदर्शित करता हैं,.......उसके बारे में यों ही विरोध भाव बना लेते हैं......हम उसकी रचनाओं की उपेक्षा कर जाते हैं, यद्यपि उसकी रचनाएँ उपेक्षा-योग्य नहीं होतीं।' शमशेर बहादुर सिंह को प्रगतिवादियों ने प्रतिपक्षी तो नहीं समझा, लेकिन अपने से भिन्न प्रकार के मनोविज्ञान को अभिव्यक्त करने वाली उनकी रचनाओं को बर्दाश्त करने में उन्हें खासी तकलीफ होती रही।

अपने जीवन में मार्क्सवादी मूल्यों को स्वीकार करके चलने वाले रचनाकारों में सबसे अधिक संघर्ष मुक्तिबोध और शमशेर को ही करना पड़ा क्योंकि इनका ढंग बिल्कुल निराला था। इन दोनों को दुश्मन नहीं, लेकिन दुश्मन को मदद पहुँचाने वालों के रूप में सशंकित भाव से देखा जाता रहा। मुक्तिबोध के विस्फोटकारी सामाजिक, राजनीतिक स्वर ने और उनके भीषण

सैद्धांतिक संघर्ष ने मार्क्सवादियों के बीच उनके प्रति विरोध को तो कम किया, लेकिन शमशेर के संपूर्ण कृतित्व को स्वीकार करने में हिचकिचाहट बनी हुई है। इसकी वजह है - भावबोध या सौंदर्यबोध के स्तर पर विचारधारात्मक जड़ता का बने रहना। इसका प्रमाण यह है कि शमशेर को मार्क्सवादी सिद्ध करने के लिए 'समय साम्यवादी' या 'लेकर सीधा नारा' जैसी कविताओं का ही उदाहरण देना पड़ता है। 'जनाधार' और 'मनाधार' वाले प्रगतिवादी दौर का विभाजन, जिसे प्रगतिवाद विरोधियों ने भी स्वीकार कर लिया, अभी भी बना हुआ है। इसे 'सापेक्ष' के 'शमशेर अंक' में नागार्जुन, डॉ.रामविलास शर्मा, डॉ. शिवकुमार मिश्र आदि के विचारों को देखकर भी समझा जा सकता है। उनके संपूर्ण कृतित्व को अलग-अलग खानों में बॉटने की प्रवृत्ति नागार्जुन के इस कथन में है - '.....यों करें (कहें?) कि 60 परसेंट प्रयोगवादी, 20 परसेंट प्रगतिशील हैं, और 20 परसेंट जीवनधर्मी......कुछ इधर-उधर और भी हैं।' यह दिलचस्प खानाबंदी प्रगतिशीलों ने ही की हो, ऐसा नहीं। शमशेर बहादुर सिंह को समझने और पसंद कर पाने के लिए कविता पढ़ने की कुछ वैसी आदत विकसित करने की ज़रूरत है जिसके अभाव का अफसोस 'दूसरा सप्तक' के ही कवि रघुवीर सहाय की इन पंक्तियों में है :

मेरी कविता में ऊषा के
भीतर मेरी मृत्यु लिखी
चिड़िया के भीतर है मेरी
राष्ट्रभावना, बच्चों में दुख।
माना सब कुछ गबड़ सबड़ है
पर मैंने यों ही देखा था....

कवि ने जिस तरह चीज़ों को देखा था, लोग उस तरह उसकी कविताओं को पढ़ते नहीं, 'पढ़े तो / उसमें कुछ चटपटा नहीं रह / जाता, बच बचता विषाद है।'

शमशेर बहादुर सिंह के लिविंग प्रिंसिपल की पहचान उनके मार्क्सवादी नज़रिए को समझे बिना संभव नहीं। ऐसा नहीं था कि कवि-जीवन की शुरूआत से ही वे मार्क्सवादी थे। 'दूसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में उन्होंने अपने शुरूआती दौर के बारे में लिखा है, '.....सन 38-39 .....से सन 42 तक मेरा रुझान ज्यादातर क्या बिल्कुल अपनी ही दुनिया के अंदर खिंचते चले जाने की तरफ रहा।' रंजना अरगड़े से बातचीत में उन्होंने कहा, '37-38-39 उस समय की मेरी कविताएँ (अधिकांश) बड़ी Grim होती थीं। मेरे जीवन में कुछ उल्लास नहीं रह गया था।' उल्लास न रह जाने का कारण था - जीवन में भयानक अकेलापन। उनके भाई डॉ. तेज बहादुर चौधरी ने उन पर लिखे अपने संस्मरण में छुटपन में माँ के गुज़र जाने, फिर पिता द्वारा दूसरा विवाह कर लेने के बाद उनमें पुत्रों के प्रति आ गई उपेक्षा और घर से अलग हॉस्टल की ज़िंदगी की चर्चा की है। अपनों के स्नेह के अभाव के साथ-साथ बाकी अभाव भी थे। इस जीवन की चर्चा करते हुए रंजना अरगड़े को शमशेर ने बताया, 'मैं अपने संसार में रहा। मेरी अपनी ज़िंदगी बन गई।' यह ज़िंदगी कला की थी, साहित्य की थी।

यात्रा' नामक गद्य-खंड में शमशेर की इस मनःस्थिति की सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है - 'मैं गरीब, मगर अपने दीन वस्त्रों में, अपनी बाह्य दशा में संतुष्ट। कारण कि काव्य और कला और नए प्रेम के हरिताभ सपनों और कुसुमित आशाओं और सुनहरी छाया में भ्रमा हुआ मेरा मन, सुख और पीड़ा से एक साथ विह्वल। अपना परिवार अपने चारों ओर केवल मूक वृक्षों और बादलों, और शाम के प्रहरों और चाँदनियों में देखता।' इस मनोदशा में मनुष्य की दुनिया निजी संसार से एकदम अलग ही जाति की मालूम पड़ती थी। पत्नी की मृत्यु ने इस मनोदशा को और गहरा कर दिया। फिर तो कला की दुनिया ही अपनी दुनिया लगने लगी, 'केवल एक पूर्ण कलित कला की आभा मेरी दौलत, मेरी निधि और मेरी अपनी गति, प्रेम और कला-साधना के संकेतों से संचालित।' इस उद्धरण में प्रेम शब्द पर ध्यान देने की ज़रूरत है। बाद में खुद शमशेर सचेत भाव से अपने इस दौर का विश्लेषण करते हुए खुद को 'मध्य वर्ग का करैक्टर' मानकर इसे एक स्तर पर नरेन्द्र और बच्चन के 'अभाव' और 'सोशल घुटन' से भी जोड़ते हैं।

लेकिन अपनी इस ज़िंदगी को एक हद तक ही पलायन कहते हैं क्योंकि ज़िंदगी के कुछ ज्यादा टूटे-फूटेपन और उखड़े बहाव की वजह से जीवन में खामोश लेकिन तेज़ भंवर बन जाते हैं। इस तरह, एकाकीपन शमशेर के लिए चुनाव की वस्तु नहीं रह गया था।

एकाकीपन शमशेर के लिए उतनी ही ठोस हकीकत था, जितनी उनके लिए मौत थी। एक दूसरे ढंग से कहा जा सकता है कि मौत उनकी ज़िंदगी का नक्शा बना रही थी। शमशेर के भाव-जगत के सदस्य वे लोग थे जो अब इस ज़िंदगी में नहीं रह गए थे। जैसे अंधकार में आँखों के कारगर न रह जाने पर शेष इंद्रियों का बोध अत्यंत तीक्ष्ण हो उठता है, वैसे ही अकेलेपन ने प्रकृति, पृथ्वी और समाज से खुद को जोड़ने वाले तंतुओं के प्रति शमशेर की संवेदनशीलता को अत्यंत तीव्र कर दिया था। उनकी रचनाओं के विषाद-भरे स्वर की विशिष्टता को पहचानना उनके इस जीवन-तथ्य को समझे बिना संभव नहीं। कारण यह है कि उनके संपूर्ण काव्य में जिस गहन वेदना की अंतर्धारा प्रवहमान है, वह उनकी वास्तविक जीवन-परिस्थितियों से उत्पन्न है। 'समीक्षा की समस्याएँ' शीर्षक लेख में मुक्तिबोध ने लिखा है - 'एक विशेष जीवनावस्था की विशेष परिस्थितियों में और उन परिस्थितियों की प्रायः नित्यता की स्थिति में, एक विशेष प्रकार की रूप-शैली की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ अपनी तीव्रतम बारंबरता स्थापित कर लेती हैं।' इसीलिए मुक्तिबोध रचनाकार के वर्ग के साथ-साथ उसके परिवार, परिवेश, परिस्थिति, व्यक्तित्व और मनोरचना के प्रति दिलचस्पी रखना ज़रूरी मानते हैं। उसकी रचनाओं को समझने के लिए वे लेखक के व्यापक अध्ययन को भी वांछनीय मानते हैं। शमशेर के व्यक्तित्व-निर्माण में और बातों के साथ-साथ उनका यह एकाकीपन केंद्रीय स्थान रखता है। ऐसा नहीं कि 'सोशलिज़्म' के विचार से संपर्क तथा कम्युनिस्ट पार्टी के संसर्ग के कारण यह भाव तिरोहित हो गया हो। दूसरा रूप इसने ज़रूर ग्रहण कर लिया था, जैसा कि 1963 की उनकी डायरी के इन वाक्यों से पता लगता है, 'सहज वार्तालाप, सहज संग मेरा खो गया है। मेरा अकेलापन मेरे युग में अकेलापन जैसा हो गया है।' अपने अकेलेपन को अपने युग के साथ जोड़कर एक बहुत ही जटिल एकाकीपन की रचना उन्होंने अपने लिए की थी। यह उन्हें अपने समकालीनों में, उनके भावों, उनके विचारों में घुल-मिल जाने से कहीं न कहीं रोक देता है, लेकिन ज़माने से काट नहीं देता पूरी तरह। उनका यह विश्वास भरा वाक्य इस प्रमाण है - 'फिर भी मैं युग की नब्ज़ को शायद ज्यादा अच्छी तरह पहचानता हूँ।'

इस अकेलेपन में रहते हुए स्नेह, प्रेम की तलाश भी शमेशर में लगातार दिखलाई पड़ती है। मार्च, 1963 की डायरी का एक हिस्सा है - '.......कुछ अपने लिए, स्नेह के क्षण के अलावा (अगर निर्मल और सहज है) और कुछ नहीं चाहता। वह क्षण क्या काफी नहीं।.....' यह स्नेह का क्षण मिलना मुश्किल था, सितंबर, 1962 की डायरी की ये तड़प भरी पंक्तियाँ इसी ओर इशारा करती हैं, 'दूसरों के लिए ललक कर बढ़ने, कुछ करने ही में क्या है? इसमें सिवाय हवा बनने के और कुछ हासिल नहीं चाहता हूँ मैं. एक तोल-मशीन की झिरी होऊँ।' पूरा माहौल, जो उन्हें चारों ओर से घेरकर दबा रहा था, भरोसे से इतना खाली हो चुका था कि वे तोल-मशीन की तरह विश्वसनीय बन जाना चाहते थे। वे आगे लिखते हैं, 'मुझे किसी से कुछ नहीं कहना चाहिए। यह भी नहीं चाहता कि मुझसे कोई कुछ न चाहे। कोई रोक नहीं। पर मुझे किसी से कुछ नहीं चाहिए' दूसरों से कोई अपेक्षा न करने का यह भाव बाद में भी बना रहता है। मार्च, 1967 के एक पत्र की ये पंक्तियाँ 56 साल की उनकी ज़िंदगी का अनुभव बताती हैं- 'दुनिया में कोई किसी को प्यार-व्यार नहीं करता । (यह मैं अपनी कह रहा हूँ.....) ....मुझे.....कभी किसी से कोई उम्मीद नहीं रही है।' लेकिन अगर उनकी दुनिया उम्मीद से खाली होती तो, शायद मार्बिड या रुग्ण होकर रह जाती। दूसरों से उम्मीद न रखने पर भी एक दूसरा अहसास उनमें था, जो बड़े ही मार्मिक ढंग से यों व्यक्त हुआ है - 'मगर मैं उसे कतई नहीं जानता....। आगे टैगोर के हवाले से प्रेमी का आदर्श रूप खींचते हुए वे कहते हैं कि वह ऐसा होना चाहिए कि जिसे वह चाहता है, उस पर कोई दबाव न डाले, उसे पूरी तरह आज़ाद छोड़ दे। उसे ऐसा होना चाहिए, 'इतना निःसंग, इतना बेगरज, इतना तटस्थ और फिर भी हमारे रग-रग के सुख और दुख से वाकिफ। वाकिफ है मगर हमें यह जानने नहीं देता कि वह वाकिफ है। न हमसे मिलने का आग्रह, न हमें अपनी तरफ खींचने की रत्ती भर कोशिश' प्रेम

का यह ऐसा उच्चादर्श है, जो औरों को बकवास लग सकता है - इतना अहसास शमशेर को भी है। और वे यह भी जानते हैं कि जिस दुनिया में वे रह रहे हैं, वहाँ इस आदर्श को लेकर चलने से ठगे जाने के खतरे ज्यादा हैं। वे खुद किसी पर दबाव डालना न चाहें, लेकिन ऐसा लगता है, जैसे, '....कहीं मैं चेखोव का ऐसा पात्र हूँ जो खुद कुछ नहीं, जिसे दूसरे हर वक्त अपने साँचे में ढालते रहते हैं। वे पूछते हैं 'क्या यही ज़िंदगी है?' इसलिए शमशेर 'एक अदृश्य कवच-निरहंकार, तटस्थ निर्मलता का' चाहते हैं, जिसे पहनकर वे इस क्रूरता-भरे जीवन का सामना कर सकें। आश्चर्य नहीं कि तरुणावस्था में जिस कला ने उन्हें अपने अंदर खींचकर अकेलेपन से मुक्त किया, विश्व से जुड़ने का रास्ता दिखाया, वह आगे भी उनके लिए वैसी ही बनी रही, 'अगर्चे कोई चीज़ बजाहिर मुझे बाँधती नहीं : सिवाय शायद कला की सच्चाई के। ज़िंदगी को मैं शायद उसी के सहारे, उसी की परतों में टटोलता, समझता, झेलता चलता आ रहा हूँ।' अपनी चेखोवियन ज़िंदगी और उसकी नियति को निरहंकार तटस्थता के साथ देखने की कूवत शमशेर ने कहाँ से पाई, जिससे वे खुद किनारे पर खड़े होकर अपने आपको, अपने रिश्तों को निःसंग भाव से देख पाते थे? वेदना के साथ-साथ यह निःसंगता उनकी भावुकता को महज उन तक नहीं रहने देती, उसे आँसुओं से लथपथ नहीं करती, उसमें एक विलक्षण कठोरता भर देती है।

शमशेर चाहते तो जीवन-भर अकेलेपन के गीत गाते रह सकते थे। लेकिन जो कला की सच्चाई उन्हें बांधती थी, वह अकेलेपन में गर्क होने की जगह संपूर्ण प्रकृति और समाज से जुड़ने का आह्वान करती थी। जैसा उन्होंने लिखा है, वे अस्तित्ववाद के संपर्क में भी आए और सुर्रियलिज़्म ने भी उन्हें प्रभावित किया, पर जल्दी ही वे इनके असर से निकल आए। अपने आपको टूटते हुए मध्य वर्ग का एक सदस्य मानकर, अपने बारे में 'उदिता' की भूमिका में उन्होंने लिखा - '..... एक तिनके का सहारा फिर सोशलिज़्म ही आड़े आया।' यह एक आकर्षक और उत्तेजक विचार था, जो पूरे व्यक्तित्व पर गहरा असर डालने की ताकत रखता था। इसीलिए शमशेर के लिए यह एक व्यक्तिगत और रचनात्मक अनिवार्यता बनकर सामने आया। मलयज ने अपने निबंध 'बात बोलेगी, पर कब?' में उन्हें उद्धृत किया है, '......मार्क्सवाद मेरी ज़रूरत थी, सच्ची ज़रूरत, उसने मुझे मार्बिड और रुग्ण मनःस्थिति से, जिसमें कि मुझे डर था कि पड़ा रहकर मैं बिल्कुल डूब ही जाऊँगा, सपाट हो जाऊँगा, मुझे उबारा।' शमशेर ने कहा, 'वह (मार्क्सवाद) मेरी एक रूहानी ज़रूरत की पूर्ति करता था।' मार्क्स ने अपने अध्ययन में बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया है कि मनुष्य दूसरे जानवरों से अलग और विशिष्ट इस अर्थ में है कि उसमें अपने आपसे बाहर निकलने की क्षमता है। वह अपने शरीर को बचाए रखने और अपनी प्रजाति में वृद्धि के काम के अलावा भी बहुत कुछ ऐसा करता है, जिसका इन ज़रूरतों से सीधे कोई संबंध नहीं है। उसके स्वभाव के इस पक्ष को, कठोर अर्थ में आवश्यकता के दायरे से बाहर सृजन की उसकी क्षमता और प्रवृत्ति को मार्क्स 'सौंदर्य' के नियमों से परिचालित मानते हैं। कला इसी क्षेत्र में पड़ती है। पूँजीवाद मनुष्य के इस अतिरिक्तपन को सीमित करता जाता है, उसके लिए अवसर घटाता जाता है और इसीलिए वह मानवीयता का पोषक नहीं रह जाता। मनुष्य के इस अतिरिक्तपन की रक्षा और उसका विकास एक मानवीय कार्यक्रम है और यह मार्क्सवाद के मूल में है। शमशेर के सामने भी सवाल यही था - '....चारों ओर अबाध फैले जीवन की पूरी शक्तियों और सारे सौंदर्य को कलाकार मुक्त रूप से कैसे दर्शा सकेगा?' वे कहते हैं - 'यहीं से उठती है सच्चे प्रगतिशील साहित्य की बहस और उसकी जिम्मेदारियाँ।' जीवन की सारी शक्तियाँ, जिनमें मनुष्य की समस्त आंतरिक क्षमताएँ भी शामिल हैं, और चारों तरफ फैला हुआ सौंदर्य - यह है कलाकार का विचरण-क्षेत्र। समस्या इसकी मुक्त रूप से अभिव्यक्ति की है। मार्क्सवाद कला के लिए और कलाकारों के लिए इसीलिए महत्वपूर्ण हो उठता है कि वह कलाकार की इस समस्या को एक ठोस जीवन-यथार्थ की समस्या के रूप में उठाता है, कलाकार के संघर्ष को एक वास्तविक सामाजिक संघर्ष मानता है और इसे शेष सामाजिक प्रश्नों-संघर्ष के साथ जोड़ देता है। वह सुंदर को उपयोगी बनाने का उद्यम है।

अफसोस कि हिंदी के प्रगतिवादी आंदोलन ने इस बहस को एकांगी तरीके से उठाया, भले ही उसके तात्कालिक कारण रहे हों, उन्हें रणनीति के लिहाज से सही भी ठहराया जाए, लेकिन शमशेर जैसे कलाकार ने मार्क्सवाद के मूल स्वप्न को पहचान लिया था, मनुष्य की सौंदर्य-चेतना से उसकी प्रतिबद्धता को समझ लिया था, इसलिए कम्युनिस्ट पार्टी से अलग होने के बाद भी, जीवन के बिल्कुल आखिरी सालों में उन्हें अपनी कला-चेतना और मार्क्सवादी चेतना में कोई अंतर्विरोध नहीं मालूम पड़ता था। उन्हें इस बात पर ताज्जुब होता था कि आलोचक उनमें किस तरह यह अंतर्विरोध देख लेते हैं। जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, हिंदी आलोचकों के बीच इसे लेकर कमोबेश सहमति है कि शमशेर का एक पक्ष मार्क्सवादी है, दूसरा नहीं। स्वाभाविक ही है कि मार्क्सवादी आलोचना उनके मार्क्सवादी पक्ष को तरजीह देना चाहे। डॉ. शिवकुमार मिश्र कहते हैं, 'सहज रूप से....... विचारधारा के स्तर पर जो रचनाएँ हैं, उनको हम ज्यादा स्थान देते हैं।' गैर-मार्क्सवादियों में तो यह धारणा बद्धमूल है, जैसा अज्ञेय, साही या दूसरों के लेखन से मालूम पड़ता है कि वे शमशेर के यहाँ मार्क्सवाद को हाशिए पर पाते हैं। दोनों तरह के विचारकों के साथ संकट यह है कि वे शमशेर के मार्क्सवाद का प्रमाण उनकी कविताओं के विषयों से ही खोजते हैं। चूँकि उनके यहाँ राजनीति, समाज को स्थूल रूप से विषय बनाकर लिखी गई कविताएँ कम मिलती हैं, इसलिए उनकी कला-दृष्टि और जीवन-दृष्टि में अनिवार्य असंगति मान ली जाती है। शमशेर के लिए मार्क्सवाद एक ज्यादा बड़ी ज़रूरत बनकर आया था। वह चारों तरफ बिखरे पड़े सौंदर्य की, जो हमें अपनी जकड़ी ज़िंदगी में उपयोगी नहीं जान पड़ता, सार्थकता बताता था। उनके लिए, उन्हीं के शब्दों में कहें तो, मार्क्सवाद '... ानतम की आँख' बनकर उभरा। दूसरे शब्दों में उसने उन्हें ज्यादा व्यापक और गहन अर्थ में सौंदर्यवादी बनाया।

9.2.4 उर्दू कविता (ग़ज़ल) और शमशेर

सौंदर्यवाद और रीतिवाद में गहरा रिश्ता है। शमशेर के बारे में एक धारणा-सी प्रचलित हो गई है कि उन पर उर्दू की रीतिवादी कविता का गहरा असर था। डॉ.रामविलास शर्मा उनमें रूमानियत और रीतिवाद का संगम देखते हैं। रूप, रस, गंध के प्रति उनकी गहरी संवेदनशीलता को 'मोह' की संज्ञा देते हैं और बताते हैं कि हालांकि शमशेर ने पंत और निराला को विशेष रूप से पढा, लेकिन 'इनका प्रभाव उनके रीतिवादी संस्कारों को निर्मूल नहीं कर सका।' शब्दों के माधुर्य, पूर्ण प्रकारात्मक न्यास तथा सुरुचिपूर्णता के प्रति उनके आग्रह को उर्दू ग़ज़लियत से जोडते हुए इसे भी उनके रीतिवादी रुझान का सबूत माना गया है। 'किस तरह आखिर मैं हिंदी में आया' शीर्षक निबंध में शमशेर लिखते हैं - 'ग़ज़ल मेरी भावुकता और आंतरिक अभावों की, अपने तौर पर, भली-बुरी एक मौन साथी थी।' शमशेर के लिए ग़ज़ल क्या है, यह बताने के लिए डॉ.रामविलास शर्मा ने उन्हें ही उद्धृत किया है, 'किसी अकेले खामोश, गुल के बिखरते हुए रंग में विभोर होकर जीवन-सुख की बहार और खिजां के दर्द से परिपूर्ण हो उठना बस यही संकेत तो ग़ज़ल का एक शेर है।' यह जानना ज़रूरी है कि डॉ.शर्मा ने वाक्य अधूरा उद्धृत किया है। यह वाक्य शुरू इस प्रकार होता है, 'एक संकेत में समाज और मानव-हृदय और उसके अनंत की बातें कह-सा जाना, और उसमें कभी-कभी बीसवीं का भ्रम खोजने लगना, अपना इन सबसे दिल हटाकर..........'। इन पंक्तियों के बाद वाक्य का वह हिस्सा शुरू होता है, जिसका इस्तेमाल शमशेर की रूमानियत को सिद्ध करने के लिए डॉ.शर्मा ने किया है। कहने की ज़रूरत नहीं कि जब वाक्य को पूरेपन में एक-साथ पढ़ा जाता है, तो शमशेर के लिए ग़ज़ल क्या है, यह ज्यादा सही ढंग से स्पष्ट हो जाता है। कवि की निगाह में शायरी की खूबी यह है - '.......कुछ समझ-बूझकर बहकाना और बहक जाना - यही तो शायरी है।' इसमें बहकाने और बहक जाने को गुण बताना जितना अर्थपूर्ण है, उतना ही उसके आगे समझ-बूझकर लगाना सार्थक है।

उर्दू कविता, जिसने शमशेर के संस्कारों को ढाला है, एक रूपक में उनके सामने आती है, '...मर्माहता विषाद-नगरी दिल्ली की भोली-बालिका.......स्वर कुछ बचपन से ही करुण.....पर आज उसका यौवन-स्वर बहुत गंभीर बहुत कोमल तथा मधुर - किंतु बहुत गंभीर हो गया है।' उनके सामने उर्दू कविता का पूरा विकास है। वे उसकी उस विशिष्टता से परिचित हैं, जिसके

चलते वह महत्वपूर्ण है। 'उर्दू कविता' नामक लेख में इस विकासक्रम की छानबीन करते हुए वे आधुनिक उर्दू कविता के बारे में यह विचार व्यक्त करते हैं, 'युग-परिवर्तन के साथ-साथ सुसंस्कृत होकर ग़ज़ल में आज प्रत्येक विषय का समावेश हो गया है, किंतु है यह पूर्व-परिचित शृंगारिक लक्षण के आधार पर ही, चाहे वह नाम-मात्र को ही क्यों न हो, तथापि उसका संकेत-व्यापार उतना गूढ़ हो गया है और अनुभूतियाँ ऐसी सूक्ष्माभिव्यक्ति ढूँढती जान पड़ती हैं कि प्रत्येक विशिष्ट कवि एक प्रकार के आध्यात्मिक रंग में रंग गया-सा दिखाई पड़ता है।' शमशेर की निगाह में ग़ज़ल की परंपरा का महत्वपूर्ण पक्ष है - शब्द-संगठन और लोच, मुहावराबंदी और सफाई का महत्व बढ़ाकर क्लिष्टता से खुद को बचाना। दूसरी चीज़, जो उन्हें खींचती है, वह है इसकी शुद्धता और सुडौलपन और इसकी वह शोखी, जिसका कहीं कोई जवाब नहीं। डॉ. शर्मा का यह विचार है कि हिंदी में तो छायावादी काव्य ने रीतिवादी परंपरा को छिन्न-भिन्न कर दिया, लेकिन चूँकि उर्दू में रीतिवादी काव्य की जड़ें गहरी थीं, इसलिए वहाँ इतना व्यापक परिवतर्न नहीं हुआ। बीसवीं सदी में उर्दू गद्य और शायरी के विकास को जिसने भी ध्यान से समझा है, वह 1937 या 1938 में शमशेर द्वारा लिखे गए निबंध की इस बात से सहमत होगा कि हालांकि उर्दू कविता की पिछली शताब्दी का पूर्वार्द्ध रीतिकाल ही था, पर बाद की उर्दू कविता के भाव-संसार की सीमा 'गुल', 'बुलबुल', 'शमा', 'परवाना' आदि शब्दों के खूंटों से स्थिर करना इनके गूढ़ अर्थ-संकेतों की व्यापकता को समझने से इन्कार करना है।

उर्दू भाषा और उर्दू कविता से शमशेर के संबंध पर कुछ विस्तार से विचार करने का कारण यह है कि उनके कवि-संस्कार के निर्माण में इनका काफी योगदान है। शमशेर को उर्दू कविता किन वजहों से अपनी ओर खींचती है - यह जानना उचित ही होगा। डॉ.शर्मा ने 'अच्छे गद्य की पहचान' नामक लेख में लिखा है कि शमशेर जानते हैं कि उर्दू में रीतिवाद के अलावा बहुत कुछ है, फिर भी 'रीतिवाद उन्हें मोहता है।' ज़रा देखें कि उर्दू काव्य में क्या कुछ है, जो शमशेर को पसंद है। नवयुक इकबाल की बेताली, जोश और तड़प, उसका स्वदेश-प्रेम, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता के लिए उसकी महत्वाकांक्षा, एकता और प्रेम की विश्वविजयिनी शक्ति और चमत्कार - ये सब उन्हें खींचते हैं। इकबाल में शमशेर को 'प्रेम-साधना और आत्म-विश्वास और आत्म-ज्ञान का संदेश' सुनाई पड़ता है। 'उर्दू कवयित्रियाँ' शीर्षक निबंध में वे बताते हैं कि उर्दू शायरी में ये एकदम अपने निजी सुख-दुख के निजीपन को भुलाकर एक सामाजिक आदर्श पर हमारी भावनाओं को उठा ले जाती हैं, उसी का चित्रण हमें मिलता है.....। इस चित्रण में परोक्षता, संकेत-व्यापार आदि मुख्य हो गए हैं। लेकिन इससे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि 'उसमें क्या मानव-हृदय का स्वर मद्धिम हुआ?' शमशेर पर उर्दू कविता इस कारण से असर डालती है कि उसमें कला का अनुप्राणित करने वाला 'मनुष्य का निजत्व' स्वाभाविक रूप से मिलता है, विनष्ट अथवा अप्राप्य सुख के ध्यान की विह्वलता मिलती है, तो आनंद की शांति और मोक्ष के लिए उन्मन मनुष्य की शक्तियों की कार्य संलग्नता और गति का व्यक्त राग भी यहाँ सुनाई पड़ता है। उन्हें गालिब अपनी व्यापकता के केंद्र में एक बड़ा हीरो नज़र आता है तो इसलिए कि वह हर बात में अपने व्यक्तित्व को सामने रखता है। उन्हें गालिब को पढ़ते हुए यह देखकर हैरानी होती है कि 'उसमें आज के, आधुनिक साहित्यकार की-सी पूरी तड़प और वेदना के बीच एक तटस्थ यथार्थवादी दृष्टि है।' गालिब की दूसरी विशेषता, शमशेर के लिए, यह थी कि उनकी दिलचस्पी किसी प्रकार के आदर्शवाद में नहीं थी - 'थी तो केवल इंसान में। उसके विडम्बनापूर्ण मगर हौसलेमंद जीवंत नाटक में।' शमशेर ने अपने इस तरह के निबंधों में जो शेर उद्धृत किए हैं, उनसे उनकी पसंद और मोह का पता चलता है। वे उर्दू कविता के असर में थे तो इसलिए कि वह इंसान के विडम्बनापूर्ण मगर हौसलेमंद जीवंत नाटक की सूक्ष्माभिव्यक्ति थी, उसके रीतिवादी सौंदर्यवाद के चलते नहीं।

9.2.5 आत्म-सत्य बनाम समाज-सत्य

उर्दू कविता से शमशेर के घनिष्ठ संबंध और पाश्चात्य काव्य के प्रति उनके गहरे आकर्षण ने आलोचकों को प्रेरित किया है कि वे इनके बारे में अपनी बनी-बनाई धारणाओं के आधार पर शमशेर की काव्य-दृष्टि की परिभाषा करें। एक तरफ डॉ.रामविलास शर्मा उन पर आरोप लगाते हैं कि निराला से प्रभावित होने के बावजूद उनका मन पश्चिम के 'ह्रासमान कवियों' से बंधा

रहा तो दूसरी तरफ विजयदेव नारायण साही और मलयज जैसे विचारक उनके कुछ पश्चिमी कवियों का आदरपूर्ण उल्लेख देखकर उन्हें 'मलार्मीय विडम्बना' की कविता आदि कहकर अत्यंत ही मुग्ध हो उठते हैं। शमशेर ने 1937 में लिखे निबंध 'उर्दू कविता' में कहा है कि आज हमारे साहित्य का सवाल हो गया है, इसलिए हमारे काव्य की सृष्टि भी बंधे हुए तंग दायरों में नहीं बढ़ सकती। सच्चे कवि की उनकी कसौटी यह है कि वह 'संस्कृतियों की ठोस अनुभूति के द्वारा हमारे व्यापक जीवन के सत्य-सौंदर्य से हमारा परिचय कराने में सशक्त है या नहीं।' वे चाहते हैं कि उसकी कविता का स्पर्श हमारे भूत और भविष्य को नए अर्थ से गौरवान्वित करे और हमारे वर्तमान की आधारभूत प्रेरणाओं और लक्ष्यों को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि कवि का मुख्य धर्म है - भावनाओं के परिष्कार के द्वारा अनुभूतियों को गहरा करना और कुछ इस तरह अर्थपूर्ण बनाना कि घोर से घोर, एकाकी परिस्थिति में भी कवि को तो शांति मिले ही, उसके माध्यम से पाठक और पाठक-समुदाय को भी शांति मिले। यह शांति पलायन नहीं है। इसे बाद में शमशेर ने स्पष्ट किया है। कला से मिलने वाली शांति समाज और प्रकृति के साथ व्यक्ति के रिश्तों की सही समझदारी में है। यह इस बात से साफ होता है कि शमशेर के अनुसार आत्म-सत्य का अन्वेषण सच्चा कलाकार अपनी अनुभूतियों में नहीं, उनके मूलों में करता है, उन मूलों में जो उसके समाज और संस्कृति की परंपरा में बहुत गहरे चले गए हैं। इस तरह, कलाकार के आत्म-सत्य के बाहर वह समाज-सत्य नहीं है, जिसके मर्म को अपने आंतरिक संस्कारों में ढालने को वे कवि का काम समझते हैं।

समाज-सत्य, कलाकार के आत्म-सत्य और कलात्मक सत्य में गहराई से धंसे मूलों में आत्म-सत्य का अन्वेषण करके समाज-सत्य के मर्म को उद्‌घाटित करता है, उसी का धंधा है वस्तु और शिल्प के प्रयोग के द्वारा कलात्मक सत्य के यथार्थ को प्राप्त करना। शमशेर की व्याख्या करते हुए साही की नज़रों से यह सूत्र ओझल रहता है, तभी वे यह कह पाते हैं कि 'शमशेर का वक्तव्य है कि कविता में हम अपनी भावनाओं की सच्चाई खोजते हैं....तलाश की यह मुद्रा **वस्तुपरकता या सच्चाई की अनुपस्थिति** को मानकर चलती है।' (ज़ोर मेरा) सच्चाई की अनुपस्थिति? लेकिन शमशेर का तो मानना है कि 'कवि जिन सत्यों को उद्‌घाटित करता है, उनका वह अपनी अनुभूतियों में साक्षी होता है।' कोई भी रचनाकार उन्हें तभी सार्थक लगता है जब वह सामाजिक चिंता, युग की झांकी और हमारी समस्याओं के किसी न किसी रूप को प्रस्तुत करे। वे कविता को 'जीवन के जीवित संदर्भों से संयुक्त' मानते हैं इसलिए संघर्ष के इलाके को रचनाकार की ऊर्जा भूमि के रूप में ग्रहण करते हैं। लेकिन बारंबार कविता की सामाजिकता और यथार्थवाद पर ज़ोर डालते हुए भी वे प्रगतिवादी दौर की प्रचलित कला-दृष्टि से अर्थपूर्ण ढंग से अलग होते हुए यह विचार व्यक्त करते हैं - 'कला की अभिव्यक्ति व्यक्ति और समाज की आशाओं-आकांक्षों और क्षणिक समर्थताओं का एक सजीव और गतिशील दर्पण है।' यहाँ क्षणिक पर जितना ध्यान देना चाहिए, उतना ही दर्पण के सजीव और गतिशील होने पर भी। शमशेर के लिए यह दर्पण बड़ा महत्वपूर्ण है, लेकिन उनके यहाँ यह कभी भी स्थिर, किसी चौखटे में बंद नहीं मिला, हमेशा गति से भरा हुआ दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार, कला जिस यथार्थ को प्रस्तुत करती है, यह भी एक संश्लिष्ट अवधारणा है। शमशेर के लिए 'यथार्थ वह सब कुछ है जो मनुष्य के जीवन में घटित और अनुभूत होता है। मनुष्य के स्वप्न, योजनाएँ, उसके समस्त कार्यकलाप, संघर्ष, आंदोलन, क्रांतियाँ, उसका सारा व्यक्तिगत और सामूहिक इतिहास.....यथार्थ है। मनुष्य की कल्पनाएँ भी उसके मानसिक जीवन का यथार्थ है।' कविता इस संपूर्ण यथार्थ को व्यक्त करने का दायित्व लेकर चलती है।

9.2.6 सामाजिकता और यथार्थवाद

'पूर्वग्रह' में प्रकाशित नेमिचंद जैन और मलयज के साथ अपनी बातचीत में शमशेर ने कहा कि 'प्रगतिशील किस्म की पत्रिकाओं ने कभी परवाह नहीं की मेरी कविताओं की आम तौर से।' जब वे खास विषयों पर लिखते थे, तब इन पत्रिकाओं को उत्साह होता था। परेशानी यह थी कि ये खास विषय, जिन्हें सरलीकृत अंदाज़ में सामाजिक या राजनीतिक (डॉ.शिव कुमार मिश्र के शब्दों में 'विचारधारात्मक') कहा जा सकता था उनकी मौलिक विषय-वस्तु के दायरे में उस तरह नहीं आते थे, जिस तरह नागार्जुन, रामविलास शर्मा या केदारनाथ अग्रवाल के यहाँ।

उनके लिए मुख्य रूप से आत्माभिव्यक्ति का दायरा बड़ा ही व्यापक था, कुछ वैसे ही जैसे सामाजिक यथार्थ मात्र बाहर दिखलाई पड़ रही घटनाओं और परिवर्तनों के अलावा ज्यादा गहराई लिए हुए था।

ऊपर उनके यथार्थ की परिभाषा हम देख चुके हैं। कला के क्षेत्र में यथार्थ और अयथार्थ के झगड़े को वे व्यर्थ मानते थे, यह 'अमूर्त कला' शीर्षक उनके निबंध से पता लगता है जिसमें वे कहते हैं कि महत्वपूर्ण सिर्फ यह है कि 'कलाकार अपने विषय के अंदर किन तत्वों, किन विशेषताओं को दिखाना चाहता है और वह उन्हें कहाँ तक दिखाने में सफल होता है।' कलाकृति का मूल्य इस पर निर्भर करता है कि वह किसी अनुभूति को कितनी सच्चाई और सफलता से व्यक्त करती है। इसलिए किसी शैली-विशेष को किसी दूसरी शैली के मुकाबले तरजीह नहीं दी जा सकती। शमशेर यह समझते थे कि कला का क्षेत्र अपने-आप में अलग ज़रूर है और यह मूलतः वस्तु और शिल्प के प्रयोग का क्षेत्र है। वे इस बात को भी अच्छी तरह समझते थे कि कलाकार जिस चीज़ को व्यक्त करना चाहता है, 'वह जाहिरी रूप-रेखा नहीं है बल्कि वह कलात्मक रूप है जो कलाकार स्वयं अपने पर्दे में महसूस करता है।' इसलिए रूप और शिल्प और शैली या टेकनीक का अभ्यास कलाकार के लिए आवश्यक ही नहीं होता, वह तो उसकी प्राथमिकता बन जाता है। नहीं तो वह किसी समाजशास्त्री, वैज्ञानिक, राजनीतिक चिंतक से अलग किस रूप में है? बचपन से ही अंग्रेज़ी, उर्दू, बंगला, हिंदी आदि के माध्यम से बिल्कुल अलग-अलग शिल्प या शैली और टेकनीक का प्रयोग करने वाले कवियों ने शमशेर को इसी वजह से प्रभावित किया कि उनमें उन्हें वे नियम मिलते थे, जिनका विकास इन कवियों ने अपनी कलात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए खुद किया था। इस तरह उनकी सफलता-असफलता और उनके प्रयोगों की सार्थकता की परीक्षा करते हुए शमशेर स्वयं अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे थे क्योंकि कला जितना प्रतिभा का मामला है, कहीं उससे ज्यादा अभ्यास या 'मश्क' का भी है।

कला संबंधी अपने इसी रवैये के चलते वे कविता पर विचार करते समय यथार्थवादी, अयथार्थवादी जैसी कोटियों में विभाजन को मुनासिब नहीं मानते, हालांकि आरंभिक काल में वे भी अलग-अलग कवियों के लिए 'स्वस्थ' और 'अस्वस्थ' जैसे विशेषणों का प्रयोग करते थे। साथ ही 'प्रगतिशील' रचनाओं के उलट 'पतनशील' रचनाओं का भी उनके दिमाग में अस्तित्व था। इलियट, पाउंड, रशिद, फ़ैज, मूर, पैचन आदि के प्रति अपने आकर्षण को वे स्वीकार करते हैं, इसलिए कि इन्होंने जीवन के रोग-शोक, आत्मा की हाय, दैन्य, पराजय, भ्रम, क्रूरता आदि को उघाड़ कर रख दिया है, लेकिन इसके साथ ही वे यह कहना भी ज़रूरी समझते हैं कि इस आकर्षण के बावजूद इनमें कुछ है जिसके विरूद्ध 'मेरा स्वस्थ मन विद्रोह करता है।' डॉ. शर्मा ने उनकी इस स्वीकारोक्ति को अपने इस निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिए उद्धृत किया है कि संस्कार शमशेर के अस्वस्थ थे, विवेक उन्हें इससे दूर हटाता था। 1952 में लिखे अपने इस निबंध की इन पंक्तियों के संदर्भ में बाद में शमशेर ने एक नोट लगाया - 'सन' 52 में मैं जैसा कुछ देखता-समझता था, वह बहुत कुछ या काफी कुछ भ्रम भी था, और साहित्यिक समझ की कमी।' यानी ऐसे सारे कवियों की अपनी विशिष्टता है, वे एक विशेष कलात्मक सत्य की अभिव्यक्ति हैं, उन्हें महत्व देने में अस्वस्थ होने का अपराध-बोध सही नहीं है। बल्कि ऐसा अपराध-बोध साहित्य समझ की कमी का सूचक है। 'एक बिल्कुल पर्सनल एसे' शमशेर का एक दिलचस्प निबंध है। इसमें वे 'अनाम' नामक एक कवि की कल्पना की मौलिक उड़ान, उसका घोर सोफिस्टकेशन, विचित्र व्यंग्य और खास प्रयोग जैसे गुणों के चलते उसके प्रति अपनी पसंद ज़ाहिर करते हैं, पर तुरंत नरेश मेहता से उसकी तुलना करके नरेश को ज्यादा 'स्वस्थ' मानते हैं। यह सारी बातचीत 'अनाम' से ही हो रही है। इसके ठीक बाद ज़रा-सी आँख दबाकर 'अनाम' शमशेर से पूछते हैं कि यह स्वस्थ और अस्वस्थ क्या चीज़ हुई! अनाम' द्वारा व्यंग्यपूर्वक किए गए इस सवाल के ज़िक्र से मालूम पड़ता है कि कला में स्वस्थ' और 'अस्वस्थ' के विभाजन को उस वक्त शमशेर भले ही स्वीकार कर रहे हों, लेकिन इसके औचित्य को लेकर उन्हें संशय तब भी था।

'स्वस्थ' और 'अस्वस्थट तथा 'प्रगतिशीलट और 'पतनशीलट को कला-चिंतन और विश्लेषण में निर्णायक शब्दों का दर्जा भारत में ही नहीं, पश्चिम में भी मिला हुआ था। इस हिसाब से काम काफ्का, दोस्तोवस्की, बेकेट, अख्मातोवा आदि के अस्वस्थ और पतनशील घोषित करके अवांछित तत्वों के रूप में प्रचारित किया गया था। ज्याँ पाल सार्त्र ने एक विचार-विमर्श में भाग लेते हुए बड़े ही आग्रहपूर्ण ढंग से निवेदन किया था कि कला-साहित्य पर बात करते समय इन शब्दों का सराहा नहीं लिया जाना चाहिए। भारत में और हिन्दी में निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवादियों में सबसे पहले इस ओर शमशेर ने ध्यान दिलाया। दूसरे व्यक्ति थे- मुक्तिबोध, जो काव्य-विवेचना की अपनी भाषा विकसित करने का आग्रह कर रहे थे। और मात्र समाजशास्त्रीय अवधारणाओं की कसौटी पर कवियों के गुण-दोष परीक्षण को लगत कह रहे थे। आगे चलकर मार्क्सवादियों के कला-साहित्य विचोरों में भी जो एक संतुलन-सा दिखलाई देता है, उसके पीछे मुक्तिबोध और शमशेर का जीवट भरा संघर्ष चल रहा है। मुक्बिोध ने इस वाद-विवाद में गहरे धंसकर सैद्धांतिक स्तर पर कड़ी लड़ाई की, शमशेर बिल्कुल अपने ढंग की कविता लिखना जारी रखते हुए और अपने आत्मभिव्यक्ति वाले अंदाज के महत्व पर जोर देते हुए यह काम कर रहे थे।

9 .2.6 कला और सामाजिक दायित्त्व

कला या कविता के दायित्व और उसके कार्य-क्षेत्र को लेकर चलने वाले वाद-विवाद में शमशेर शुरू से अंत तक इस मत के बने रहे कि "जनता के प्रति जो दायित्व है उसे कवि को नहीं भूलना चाहिए। लेकिन जनता के प्रति दायित्व के लिए कठोरता से कार्यक्रम नहीं बनाया जा सकता।" कला के सामाजिक दायित्व-निर्वाह का ययह मसला उन्हें शुरू से परेशान करता रहा था। कारण यह था कि खुद उन्हें नागार्जुन, केदार, सुमन, दिनकर आदि के मुकाबले समाज के लिए उपयोगी नहीं पाया गया था। अपने संग्रहों की भूमिकाओं में यह अन्यत्र यह कहकर कि उनकी रचनाएँ सामाजिक दृष्टि से उपयोगी नहीं है, भले ही शमशेर ने इस प्रचलित धारणा को कुछ बल पहुँचाया हो, लेकिन इससे यह समझना गलत होगा कि कला की सामाजिक उपयोगिता की सरलीवृत अवधारणा को उन्होंने स्वीकार कर लिया था। वे यह मानते रहे कि 'एक बड़ा रचनाकार अंततः जनता की ही सेवा करता है। विश्व-साहित्य के व्यापक और गहन अध्ययन ने उन्हें यह मत स्थिर करने की ओर प्रेरित किया था कि विषय कुछ भी हो, यदि रचनाकार खरा है तो यह मानवीय संवेदना का संस्कार ही करता है। इसी प्रकार वह उपयोगी हो सकती है। अच्छी कविता उनके लिए वह थी जो विचार ही नहीं, कविता का आनंद, रस और गहरी काव्यानुभूति भी प्रदान करे। ऐसी कविता वे ही लिखते हैं, जिनमें समकालीन नाना परिस्थितियों के प्रति नैसर्गिक संवेदना हो, जो खुद को इन परिस्थितियो में कहीं न कहीं बौद्धिक, नैतिक या आध्यात्मिक रूप में गहराई से जुड़ा हुआ मसहूस करते हों, जिनमें अभिव्यक्ति की अनिवार्यता तो हो ही, उसमें विशेष बल या जोर भी हो। इन गुणों से युक्त कवि जब भी रचना करते हैं तो वे हमारे चारों ओर बिखरे पड़े सौन्दर्य से बेखबर हमारे मन को उसके किसी न किसी पक्ष की तरफ मोड़ने में सफल होते हैं। इस तरह वे अपने तरीके से उस माहौल का मुकाबला करने को तैयार करहते हैं, जो हमारे सोचने-विचारने की ताकत को कुद करने से पहले हमारी इंद्रियों की संवेदन-क्षमता को सीमित करता है। शमशेर के लिए कविता या कला का काम, दुनिया में, समाज में जो कुछ घट रहा है, उसे अभिव्यक्त करना भर नहीं है। इस रूप में तो बाकी दुनियावी कामों के मुकाबले उसका दर्जा दोयम ठहरता है। पर शमशेर उसे यह हीन पद देने को तैयार नहीं। कविता जीवन-व्यापार की अभिव्यक्ति मात्र नहीं, वह स्वयं एक जीवन-व्यापार है। "चुका भी हूँ मैं नहीं' की भूमिका का अंत उन्होंने इस सार्थक वाक्य से किया है जो कविता की उपयोगिता को एक नए अंदाज में चिह्नित करता है - 'काव्य-कला समेत जीवन के उत्कर्ष के लिए निरंतर संघर्ष की ही लिला है।' इसलिए उन्हें यह कहने में कोई हिचक नहीं कि कला का संघर्ष समाज के संघर्षों से अलग कोई चीज़ नहीं हो सकती।

9.3 सारांश

शमशेर आधुनिक दौर के सबसे जटिल कवि माने जाते हैं। इसका कारण कविता को समझने की पाठक/आलोचक की वह पारंपरिक धारणा रही है जिसके चलते रचनाकार के विचारों को उसकी रचना पर आरोपित करके उसे समझने की कोशिश चलती रही है। शमशेर इस प्रक्रिया से नहीं समझे जा सकते। ठोस सामाजिक वस्तु के आधार पर भी रचनाकारों को समझा जाता है। शमशेर यहाँ भी नहीं अटते।

शमशेर के लिए मार्क्सवाद जीवन व्यवहार, व्यक्तित्व निर्माण की आधारभूत सामग्री है। मार्क्सवाद और भाव-बोध को लेकर शमशेर में द्वंद्व चलता रहा है। भावुकता को शमशेर खारिज नहीं करते, उसे गौरव प्रदान करते हैं। वे मानते हैं कि कला उस यथार्थ की कलात्मक अभिव्यक्ति है जो मनुष्य के जीवन में घटित और अनुभूत होता है। मनुष्य के स्वप्न, योजनाएँ, उसके समस्त कार्यकलाप, संघर्ष, आंदोलन, क्रांतियाँ, उसका सारा व्यक्तिगत और सामूहिक इतिहास - यथार्थ है। मनुष्य की कल्पनाएँ भी उसके मानसिक जीवन का यथार्थ है। यथार्थ की इस कलात्मक अभिव्यक्ति में शमशेर मानते हैं कि कला, टेकनीक, शैली की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। और किसी रचना को इस आधार पर नहीं कि उसमें क्या कहा गया है बल्कि इस आधार पर समझना चाहिए कि उसमें जो कुछ कहा गया है वह कलात्मकता की कसौटी पर कितना खरा है। वरना, शमशेर के अनुसार एक समाजविज्ञानी और कलाकार में क्या अंतर है।

अंत में कहें तो कह सकते हैं कि शमशेर साहित्य और कला की दुनिया के सिद्धहस्त कलाकार हैं जिन्हें समझने और जानने के लिए हमें पारंपरिक रुचि/अरुचि छोड़कर नए ढंग से देखना होगा।

9 .4 प्रश्न

1. शमशेर काव्य की विचारभूमि क्या है?
2. विवेक और भावबोध का द्वंद्व शमशेर में किस प्रकार का है?
3. कला के बारे में शमशेर के विचारों की व्याख्या कीजिए।
4. शमशेर काव्य आलोचकों/पाठकों के लिए क्यों जटिल नज़र आते हैं?
5. शमशेर के काव्य में सामाजिकता और यथार्थवाद का क्या रूप उभर कर आता है?
6. शमशेर के काव्य का मूल भाव क्या है?

इकाई 10 शमशेर का काव्य : संवेदना और शिल्प

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 शमशेर के काव्य की संवेदना के आयाम

10.2.1 कला दृष्टि

10.2.2 निज भाव की कविताएँ

10.2.3 मनुष्य और समाज

10.2.4 प्रकृति

10.2.5 प्रेम और सौंदर्य

10.3 शमशेर की कविता : आशंसा के आयाम

10.4 सारांश

10.5 प्रश्न

10.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- शमशेर की काव्य संवेदना के विभिन्न आयामों को रेखांकित कर पाएँगे,
- देख पाएँगे कि शमशेर की निजभाव की कविताओं की क्या विशेषताएँ हैं और ऐसी कविताओं में क्यों उनका मन रमता है,
- मनुष्य, समाज, प्रकृति तथा प्रेम-सौंदर्य शमशेर की कविताओं में किस रूप में और किस नज़रिये से व्यक्त होते हैं, इसे भी समझ सकेंगे,

10.1 प्रस्तावना

काव्य के मानवीय, सामाजिक सरोकार कैसे भी हों, काव्य का अंतिम लक्ष्य कला सृष्टि है, सौंदर्य का संधान करना है। काव्य जीवन का प्रतिबिंब नहीं है, कलात्मक पुनः प्रस्तुति है। दूसरी बात है - विषय विशेष से कोई रचना घटिया या बेहतर नहीं बनती। विषय कोई भी हो, कलाकार जब तक उसके प्रति संवेदित होकर सर्जना की भट्टी में उसे तपा कर कला रचना नहीं बना देता, वह कला नहीं बनती। शमशेर एक ऐसे कवि हैं जो जब तक किसी रचना को कलात्मक रूप से पूरा साध नहीं लेते, तब तक उन्हें संतोष नहीं मिलता। और कलात्मक रूप से रचना को साधने की यह प्रक्रिया शमशेर में बड़े गुपचुप ढंग से, और बहुत धीमी गति से चलती है। शमशेर चित्रकार हैं, संगीत का उन्हें ज्ञान है, बहुत अध्ययनशील हैं किंतु जीवन में बेतरतीब भी हैं। चित्रकला, संगीत और काव्य तीनों का माध्यम शमशेर की रचना-प्रक्रिया में घुलमिल कर जिस रचना का संधान करते हैं, वह आलोचकों के लिए समस्या बनी हुई है। कोई उन पर कलावादी होने का आरोप चस्पा कर रहा है और कोई उन्हें मार्क्सवादी सिद्ध करने में लगा है। बने-बनाये इन साँचों से हट कर यदि शमशेर को समझने की कोशिश की जाए, शमशेर की कला मान्यताओं को ध्यान में रखा जाए तो इनका रचना संसार, कला और सौंदर्य की जिन ऊँचाईयों पर खुलता है वह स्पृहणीय है। शमशेर बहुत अंतर्मुखी हैं, कला के लिए जीवन के व्यापक सामाजिक सरोकारबाकी प्रगतिशील कवियों की तरह उनकी रचना के सरोकार नहीं बनते। यह उनकी दिशा नहीं है। प्रेम, सौंदर्य, मनुष्य के सुख-दुख, प्रकृति उनकी रचना के आलंबन बनते हैं। इनके माध्यम से वर्तमान मनुष्य की जीवनगाथा के जिन पक्षों को वे छूते हैं, वे अद्भुत ढंग से रचना में आलोकित हो उठते हैं।

शमशेर को पढ़ना एक नए ढंग के अनुभव से गुज़रना है। तो आइये, शमशेर के काव्य की संवेदना के विभिन्न आयामां को देखें।

10.2 शमशेर के काव्य की संवेदना के आयाम

10.2.1 कला-दृष्टि

शमशेर को सौंदर्य का कवि माना गया है। विजयदेव नारायण साही ने लिखा है कि अगर उनकी सारी कविताओं के शीर्षक हटाकर उन पर एक ही शीर्षक लगा दिया जाए - सौंदर्य, तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा। 'दूसरा सप्तक' के वक्तव्य में शमशेर ने कहा कि सुंदरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है। इसके ठीक पहले का वाक्य है, "हम-आप ही अगर अपने दिल और नज़र का दायरा तंग न कर लें तो देखेंगे कि हम - सबकी मिलीजुली ज़िदगी में कला के रूपों का ख़जाना हर तरफ बेहिसाब बिखरा चला गया है।" यह स्पष्ट है कि चारों ओर हर पल होने वाला सुंदरता का अवतार ही कला के रूपों का खजाना है। 'मैं एक कहानी लेखक हूँ' में लेखक कहता है, "... मुझे वह पचड़ेवाली दुनिया - जब मैं उसको अपने से ज़रा दूरी पर रखकर देखता हूँ - रंगीन और सुंदर दिखाई देती है। उसका एक-एक काम। उसके एक-एक भाव, एक-एक संकेत। प्रत्येक उलझाव। पांसे-जाल-संबंध ... उसकी हँसी-खुशी और रोना-गाना-यह सब राग-रंग ...।" कोई रचनाकार जब जीवन-व्यापार को देखता है तो उसे हर जगह एक सौंदर्यात्मक पैटर्न नज़र आता है। एक अत्यंत ही कल्पनाशील 'डिज़ाइन' पेड़-पौधों, लोगों के चेहरों, उनके शरीर, चलने-फिरने आदि तक में अपने लिए कोई-न-कोई 'डिज़ाइन' खोज लेता है। अगर ऐसा न होता तो एक समय के बाद नई 'डिज़ाइनों' का आविष्कार रुक जाता। उसी तरह शमशेर को जीवन की हर एक हलचल में, हरकत में किसी एक नए कला-रूप की संभावना नज़र आ जाती है।

कविता लिखने के साथ-साथ शमशेर चित्र भी बनाते थे। दिल्ली में जब वे 'उकील आर्ट स्कूल' में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे थे, तब की अपनी रूटीन के बारे में लिखते हैं, " ... हर चीज़ और हर चेहरे को बगौर देखता कि उसमें अपनी ड्राइंग के लिए क्या तत्व खोज सकता हूँ ...। उस खोज़ का, हर चीज़, और चेहरे और दृश्य या स्थिति और गति का, अपना विशिष्ट आकर्षण कम न होता था ।" कहा जा सकता है कि कलाकार का नज़रिया 'सौंदर्यात्मक' ही हो सकता है और कुछ नहीं, भले ही वह राजनीतिक मसले पर लिख रहा हो या किसी चेहरे की खूबसूरती आंक रहा हो। हम पहले शमशेर का वह कथन देख चुके हैं कि कलाकार किसी जाहिरी रूप को अभिव्यक्त नहीं करता, वह उसके कलात्मक रूप को अभिव्यक्त करता है। यथार्थ रूप को कलात्मक रूप में तब्दील करने के लिए कवि का सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण ही मध्यस्थ की भूमिका अदा करता है। उनका यह रवैया समझना ज़रूरी है, नहीं तो इस तरह के सरलीकृत निष्कर्षों पर पहुँचना आसान होगा कि वे हर चीज़, हर घटना, हर भाव को खुशनुमा बना देते हैं या उनका दिल खुशनुमा दुनिया में ही रमता, या फिर साही की तरह हम उनकी हर कविता के ऊपर 'सौंदर्य' शीर्षक चिपकाकर उन सबकी अलग-अलग विषय वस्तु, उनमें व्यक्त अलग-अलग मनोभावों पर पटरा फेरते हुए उन्हें सौंदर्यवादी करार देंगे।

10.2.2 निज भाव की कविताएँ

मुक्तिबोध ने शमशेर को मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी मानते हुए भी आत्मपरक कवि कहा है। अपनी आरंभिक कविताओं के संग्रह 'उदिता' में (जो बहुत बाद में छपा) शमशेर ने कहा था कि वे उस पाठक का ख्याल रखकर लिखते हैं, जो उनकी हँसी-खुशी और दुख-दर्द की आवाज़ सुनता और समझता है। वे लिखते हैं कि ऐसे पाठक के सामने "मैंने अपनी बातों को खास अपने लहज़े में खास अपने मन के रंग में, अपनी लय, अपने सुर में, खोलकर, एक ख्वाब की तरह, एक उलझी हुई याद के बहुत अपने छायाचित्र की तरह, रखने की कोशिश की है।" लेकिन शमशेर का अपना खास लहज़ा, उनका अपना खास रंग शुरू-शुरू में

'प्रभुत्वशाली छायावादी स्वर के नीचे दबा हुआ-सा लगता है। 'सहन्-सहन् बहता है वायु' की ये पंक्तियाँ देखिए :

रह जाते हैं सिहर-सिहर
मृदु कलिका के विस्मित गात :
बहका फिरता मधुप अधीर,
तितली अस्थिर गति अवदात।

या फिर इसका यह अंत कोई अपने सुख-दुख भूल/ सूने पथ पर राग-विहीन/ विस्मृति के बिखराता फूल/ फिर आया है मूक-मलीन।' न सिर्फ शब्दों के चुनाव में, बल्कि पूरे अंदाज़ में छायावादी प्रभाव गहरा दिखाई देता है। हालाँकि पेड़-पौधों के बीच से गुज़रती हवा को लेकर कवि ने एक सुंदर चित्र खींचा है, लेकिन 'क्षितिज-दुकूल हेरती' हुई 'स्वप्निल श्वेत छाया' कुहरे में ही छिपी हुई है।

उसी तरह 'सहज स्नेह का भूषण केवल' में किया गया यह प्रश्न भी छायावादी कवि का ही है, "सहसा आ सम्मुख चुपचाप/ सन्ध्या की प्रतिमा-सी मौन/ करती प्रेमालाप, परिचिता-सी वह कौन?" यहाँ भी स्नेह-प्रतीति धूमिल-सी ही है। कविता का अंत इस प्रकार होता है :

मेरे अंतर में भर जाती
केवल अपना करुणा-राग :
वह अजान सुलगाती
क्यों नव यौवन में अबोध वैराग?

यहाँ भी छायावादी परिपाटी का निर्वाह मात्र दिखलाई पड़ता है, इस प्रश्न में कवि की अपनी व्यग्रता कहीं बहुत नीचे दबी हुई है।' नव कवि का आह्वान' में इस जीवन और संसार को लेकर एक ललक दिखाई पड़ती है, जैसे इन पंक्तियों को देखिए :

पागल कवि शिशु, केलि-विभोर
कूद-कूद कर द्वंद्व मचाता
सब देवों को मुकुर दिखाता
यह अनन्त चिर-विस्मय में खो जाता।

इस कविता में ध्यान देने योग्य है इस भौतिक जीवन के प्रति तीव्र आकर्षण : "आह, प्रेम धन! वह आनंद नहीं है।/ जोगी हो जाने में/ जो कुछ खोकर पा जाने में/ अपने अंदर ही है।" नए-नए बादलों को देखकर जो उछाह होता है, उसके चलते ही कवि उस अंतःद्वार को खोलने का आह्वान करता है, जिसके अंदर युगों का धुंआधार पावस' घुटा हुआ है। यह ऐसी भीतरी दुनिया है, जहाँ सृष्टि-सृष्टि का वैभव बरस रहा है और 'व्योम-व्योम के वक्ष' टूटे पड़ रहे हैं। इस कविता की विशिष्टता नए बादलों के रस से भीगती दुनिया के उस कोने की तरफ इशारे में है:

"वह कोना खाली है, देखो, देखो।"
सिर पर है स्मृतियों के दल के दल।

छायावादी शब्दों के बाहुल्य के बावजूद इसमें एक नयापन है। इसी रंग में रंगी हुई है उनकी 'मैं भारत-गुण-गौरव गाता' शीर्षक कविता, जिसमें उन्होंने भारत की वंदना की है। इस राष्ट्र-वंदना में कोई नई ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। ध्यान देने योग्य है तो सिर्फ़ यह चीज़ कि भारत को सारी दुनिया से न्यारा दिखाने की कोशिश नहीं है। इस कविता में राष्ट्रवादी आक्रामकता भी नहीं है। ऐसे भारत को माथा झुकाया गया है, जो 'भविष्य का प्रेम-सूत' है। वैसे, राष्ट्र को लेकर आक्रामकता या उत्तेजना शमशेर में प्रायः नहीं दिखलाई देती। 'इकबाल की कविता' शीर्षक लेख में उन्होंने समर्थनपूर्वक कहा है कि पश्चिमी आदर्शों से अनुप्रमाणित देशभक्ति भी जीवन

की सच्ची महान् प्रेरणाओं को एक संकुचित सीमा में परतंत्र कर देती है। लगता है इसी धारणा की वज़ह से शमशेर के यहाँ उग्र राष्ट्रभक्ति के उद्बोधनात्मक गीत नहीं मिलते।

अपने ऊपर निराला और पंत के गहरे प्रभाव की चर्चा शमशेर ने एकाधिक बार की है, बल्कि हिंदी की ओर अपने खिंचने की एक बड़ी वजह वे इन्हीं दोनों कवियों को मानते हैं। लेकिन उनके संग्रहों में ऐसी प्रभाववाली कविताएँ कम हैं। 1934 के बाद 1936 तक उनकी कोई कविता संग्रहों में नहीं मिलती। इसकी वजह यह है कि वे इस दरम्यान दिल्ली में चित्रकला का प्रशिक्षण ले रहे थे, अंग्रेज़ी और उर्दू में लिखते भी रहे थे। पत्नी की मृत्यु के बाद जीवन में गहरे हो गए अकेलेपन में हिंदी कविता शमशेर से छूट-सी गई थी। बच्चन के प्रति लगाव महसूस करने का एक कारण यह भी था कि वे भी पत्नी विहीन हो गए थे। दिल्ली से देहरादून लौटने के बाद ससुराल में दवा की दुकान संभालते हुए बच्चन ने उन्हें देखा और खींचकर इलाहाबाद ले आए। वे ले तो गए थे उन्हें इसलिए कि वहां से एम.ए. करके सांसारिक आवश्यकताओं को पूरा करने लायक बन सकें। पर इलाहाबाद पहुंचकर उन्हें एक ही बात समझ में आई कि उनको अब हिंदी कविता गंभीरता से लिखनी है, जिससे उनका संपर्क बिल्कुल छूट चुका था। भाषा और शिल्प भी अजनबी-से हो गए थे। इस दौर के बारे में उन्होंने लिखा है, "... सन् 37 में मेरा हाल यह था, जैसे मैं फिर से तैरना सीख रहा हूँ - तीन सालों में बहुत कुछ भुला देने के बाद" यह स्वाभाविक ही था कि 'निशा-निमंत्रण' की कविताओं ने उन पर जबर्दस्त असर डाला। उनके 'रूप-प्रकार' ने भी उन्हें आकृष्ट किया और उस तर्ज़ पर कुछ अभ्यास भी उन्होंने किया। 'निशा-निमंत्रण के कवि से 'नामक कविता में इस आकर्षण का कारण शमशेर ने यों बताया है :

> यह खंडहर की साँस
> तुम जिसे भर रहे हो वंशी में-
> है तंग घुटी-सी सुबह
> लाल सफेद सियाह!

इन पंक्तियों में ध्यान देने योग्य है 'खंडहर की साँस', 'तंग घुटी-सी सुबह' जो 'लाल सफेद सियाह' है। ये शब्द बच्चन की कविता के बारे में जितना बताते हैं, उससे कम खुद शमशेर की मनोभूमि का परिचय नहीं देते। कविता के अंत में एक भयानक बेचैनी की अभिव्यक्ति है : "मत गाओ यह गीत/ मैं बिखर पड़ूँगा पागलपन में/ ओ देर अजान मुसाफिर/ यह हँसी मरुस्थल की है।" 'मरुस्थल की हँसी' के विषण्ण भाव में छायावादी गीलापन नहीं है।

उत्तर छायावादी कविता का वह स्वर, जो 'निशा-निमंत्रण' में अभिव्यक्त हुआ था, शमशेर को अपने करीब लगता था। अक्सर हिंदी आलोचना में इस दौर को मस्ती, फक्कड़पन, बेपरवाही, अर्थात् अबौद्धिकता और अगंभीरता से भरा हुआ माना गया है। लेकिन इस युग की कविता में जो सशक्त स्वर है, उसमें मस्ती, फक्कड़पन से ज्यादा एक बेचैनी दिखाई पड़ती है। डॉ. नामवर सिंह ने एक भाषण में ठीक ही कहा था कि मजाज की पंक्ति 'ऐ गमे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं' से इस व्यग्रता का ठीक-ठीक अंदाज़ मिलता है। यह दौर व्यक्तित्व के निजी धरातल की एक नई ढंग की खोज का, और उसमें महसूस होने वाले सुख-दुख की खासियत को नया महत्व देने का भी है। छायावाद में व्यक्त भावनाओं में सामान्यीकरण-सा हो गया लगता था, उससे मुक्त होकर अपने-अपने रंग को पाने की तड़प-सी इस युग के कवियों में दिखाई पड़ती है।

शमशेर उत्तरछायावादी काव्य में यहाँ से वहाँ तक मौजूद तड़प और चुभन के साथ अपनापन महसूस करते हैं, यह उस समय की उनकी कविताओं से भी परिलक्षित होता है। इस दृष्टि से उनकी 'आज हृदय भर-भर आता है', 'ज्योति', 'कवि-कला का फूल हूँ मैं' जैसी कविताओं से ही नहीं, 'वाणी' जैसी कविता में भी इस दौर के सुर में उनका सुर मिलता हुआ नज़र आता है। 'क्षार का उन्मत्त वैभव/ लाल कर आशा लहू से/ एक स्वर-करवाल-ज्वाला से/ हृदय को

फूँकता हूँ/ सान्ध्य-जीवन के ज्वलित कंदील-उर की तूल हूँ मैं' (कवि कला) या 'पथ नदियों के मोड़े होंगे। देश-देश तरसाया होगा। विकल सहस्त्र मीन-सा तब तो/ यह पानी मन पाया होगा।' आज हृदय और 'कर्म कठोर बनेगा मन/ बरसेगा घिर कर गुरुधन/ विहर-विहर कर वन-वन पानी/ वन-वन देश घिरकर/ घन बरसाएगा पानी।' (वाणी) जैसी पंक्तियों से कवि की क्षमता का पता तो चलता है, पर वह किस तरह अपने समकालीनों में खास है, यह नहीं मालूम पड़ता। अकेलेपन की चुभन और तड़प के साथ ही सर उठाता आशा का भाव भी है।' आज हृदय में सैकड़ों मछलियों की तड़प से भरे हुये मन के क्षितिज के बाहर न जाने कितने करुणा के बादल हैं', पर वे कभी-कभी हौले-हौले चलते हुए अपनी छाया उस पर डाल भी जाते हैं। इसके चलते हृदय का मरुस्थल सुख से सिहर उठता है। इसी तरह 'कवि-कला' ... में वासंती उषा में अपने पंख रंगकर इंद्रधनुषी बादलों के रास्तों से होकर उड़ते हंस के रूप में कवि खुद को देखता है।

शमशेर ने लिखा है, प्रभाव किसी का भी, उन पर रहता थोड़ी देर ही है। 'उदिता' के 1980 वाले संस्करण की भूमिका में अपने भावुक व्यक्तित्व को ढालने वाले प्रभावों का ज़िक्र करने के साथ ही वे कहते हैं, "मगर मैं अपने कवि को मात्र उन प्रभावों का पुंज नहीं मानता। मेरी अपनी एकांत, और शायद गहरी, अनुभूतियाँ और संघर्ष की यातनाएँ भी आखिर कुछ अपनी ज़मीन कविता में रखेंगी हीं...।" उनके हिंदी कविता में पुनः प्रवेश के वक्त की कविताओं में धीरे-धीरे उनका अपना स्वर उठता दिखलाई पड़ता है। उनके सारे प्रेमियों ने 'स्थिर है शव-सी बात' शीर्षक कविता के नएपन को ठीक ही नोट किया है। एक बड़ी उदास रात का चित्र इसमें खींचा गया है। हवा बिल्कुल स्थिर है, जैसे शव हो। आसमान में चाँद भी लटका हुआ-सा है और नीली रात सीसे की तरह भारी है। गति का अभाव और सीसे का भारीपन, चाँद में कोई चमक भी नहीं। नीली पृष्ठभूमि में कांसे का रंग कोई हलचल नहीं उठाता। इस रात में पेड़ ऐसे स्थिर हैं, मानों ठिठुर गए हों। कहीं उल्लास का कोई कारण नहीं है। सपनों की ओट से झांकती आँखें निश्चल हैं। इस रात की यह भयावह स्थिरता हौंठ सुखा देती है। रात न सिर्फ गतिहीन है, बल्कि किसी ऊष्मा से भी रिक्त है। इसके चलते गहरी उदासी, गहन निराशा पैदा होती है। "नत जीवन का भाल/ प्रेम पड़ा है ठंडा मानव-उर का/ निद्रा तम के शून्य शिविर में/ अंधा पंगु बंधा है काल।" यहाँ जीवन का भाव बिल्कुल झुका हुआ है। भाल और नत के प्रयोग से निराशा का भाव और सघन हो गया है। 'वह भी दिन था एक' में भी "आज/ कलुष गहन करुण भाल/ है मेरे/ विनत वयस का!" जीवन का जो भाल झुका हुआ है, वह कवि का ही है। उसमें कोई तेज़ नहीं रह गया है, वह निराशा से मलिन (कलुषित) हो चुका है।

यह निराशा कितनी गहरी हो चुकी है और कितने भयावह तरीके से जीवन पर छा गई है, यह 'मृत्यु का प्रस्तर-खण्ड' कविता पढ़कर ही समझा जा सकता है : "एक बुझा काला विशाल मार्तण्ड/ कितने मौन युगों से डूब रहा हूँ महाशून्य में।" यह सूरज ऐसा है जो न डूबता है और न उगता है - वह महाशून्य में स्थिर-सा हो गया है। सूरज के डूब जाने की कल्पना मात्र से मन कांप उठता है, यहाँ तो कवि ने खुद अपनी कल्पना एक बहुत बड़े काले सूरज के रूप में की है, जो बुझ चुका है। वह अपनी जगह छोड़कर नीचे गिर पड़ा है, तभी उसकी विशालता का अंदाज़ हो पा रहा है। 'मार्तण्ड' का प्रयोग एक विशेष प्रकार की थर्राहट तो उत्पन्न करता ही है, निराशा के इस भाव को भी अत्यंत उदात्त स्तर पर प्रतिष्ठित कर देता है। जीवन का अभाव कुछ इस कदर मन को पीस रहा है, जैसे कवि स्वयं 'मृत्यु का प्रस्तर खण्ड' हो गया हो। यहाँ भी 'स्थिर है शव-सी बात' कविता की तरह ही कहीं कोई गर्मी नहीं है, ऊष्मा का स्रोत, सूर्य, बुझ जो चुका है! हरकत दिलाने के लिये यहाँ गर्मी नहीं, ठंड है : "चेतन करने को अंतर में जग उठती-सी कुछ ठण्ड" पूरा वातावरण सर्द है और 'प्रस्तर खण्ड' और 'मार्तण्ड' की उपस्थिति के कारण भारी भी। यहाँ मृत्यु को लेकर कोई संगीत नहीं रचा गया है। न ही मन के विषाद पर रहस्य का पर्दा डालकर उसे आकर्षक बनाने की कोशिश है। यह निराशा बहुत गहराई में, शमशेर की अपनी एकांतिक अनुभूति है, जो कविताओं की भीड़ में भी अपने खास इशारों से अपनी पहचान बना लेती है।

शमशेर का विषाद, मुक्तिबोध के शब्द लेकर कहें तो उनका 'मनो-वैज्ञानिक यथार्थ' था और एक सच्चे कवि की तरह उन्होंने इसे व्यक्त किया। 'उदिता' के आरंभ में जगदीश अग्रवाल के नाम 'एक पत्र' शीर्षक कविता में अपने टूटे हुए मन के बारे में वे बताते हैं : "गद्य के आवरण में टूटा हुआ था काव्य/ बहुत टूटा हुआ-सा था/ स्वयं जीवन के समान।" वे खुद को ऐसा महसूस करते हैं : 'छंद से बाहर/ पंगु मानो, भावना से रहित-/ शून्य।" ऐसी स्थिति में गहरे काले, नीले रंगों के प्रति कवि का आकर्षण स्वाभाविक ही मालूम होता है, क्योंकि वे उसकी मनोदशा के अधिक निकट पड़ते हैं। उदासी और अकेलेपन का यह अहसास 'उदिता' की कई कविताओं में है, 'चुका भी हूँ मैं नहीं' में संकलित कुछ कविताओं में भी जो आरंभिक दौर की ही हैं) यह मिल जाता है। अंधकार, मौन, गतिहीनता को इस दौर की कविताओं में कई रूपों में देखा जा सकता है। एक बहुत छोटी कविता 'घिरते आकाश को' देखिए :

घिरते आकाश को ताकता हताश।
गहरे नभ में चाँद खोता जाता है :
अंधकार
चुप-चुप हँसता आता सब ओर।

यह गहराते अंधेरे वाली रात का चित्र है, उतना ही कवि के मन का भी। यह रात गुज़र जाए, सुबह हो जाए, फिर भी प्रकाश उल्लसित नहीं करता : "यह सुबह जो शाम सी हुई है/ मानों य अभी नहीं हुई है।" सुबह भी शाम की तरह मालूम पड़ती है, इसका कारण यह भी है कि कवि का घर बंद है, उसमें कहीं से रोशनी आने की उम्मीद नहीं।

शाम हो या रात, अंधेरा शमशेर को घेरता ही है। 'कमरे में आभा' शीर्षक कविता में वह 'शाम का कोमल अंधियाला' धीरे-धीरे छा जाता है : "दीवारों पर, छत पर चुप-चुप/कुहरे-सा काला कुछ उदास/ मन छाया।" यह अंधियाला धीरे-धीरे इतना गाढ़ा होता जाता है कि पता ही नहीं लगता कि कवि का मन "कहाँ कौन जाने कब/ बैठा उस तम की मिट्टी में/ उसके संग समाया।" यही अकेलेपन की अनुभूति 'शाम की मटमैली खपरैल' में व्यक्त हुई है और 'चिड़िया-सा छिपा-लुका मेरा मन' या 'उठती है मतवाली' में तो इस निराशा और अकेलेपन की काली लहरें इतनी भयावह हो उठी हैं कि नागिन-सी लगने लगी हैं : "मैंने कैसी नागन पाली/हर ली जिसने उर की लाली। अधर जिह्वा पल भौंह कपोल चूम लिए जीवन विष मोल।" यह निराशा अपनों के अभाव की वास्तविक अनुभूति है। इसी संग्रह की एक कविता 'कौन बुलाता मेरे पथ से मुझको' में उन्होंने बताया है कि पिता-माता और पत्नी जिस ओर गए हैं, उसी ओर से उनको बुलावा आता है। उनका मन जैसे उनसे अलग हो गया है और 'अपनी ही छाया सशरीर/ अकेली मौन' खड़ी देखती रहती है।

अकेलेपन और दुख की इस तीव्रता में चेतना सो नहीं जाती, अत्यंत ही जाग्रत हो जाती है, सारी इंद्रियाँ जैसे हज़ार-हज़ार आँखें लेकर इस घने अंधेरे को भेदकर कुछ देखती रहती हैं। इस जाग्रत चेतनावस्था में वह प्राकृतिक स्थितियों का सूक्ष्म अंकन कर पाता है। इस लिहाज से 'आधी रात' कविता अनूठी है, जो आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति-संवेदना के एक बिल्कुल नए स्तर का उद्घाटन करती है :

बहुत धीरे-धीरे
बजे हैं बा ऽरा ऽ...
गिना है रुक रुक कर मैंने
बा र ह बा र
सुनो!
अब भी वैसे ही हवा में
बा रा बज रहे हैं...
(बादल घिरे हुए हैं दिन भर)
एक का ए क्

श्वान भूकने लगे!
गा उठा बिरहा कोई दूऽर जाता पथ
पर...
नीम के सन्नाटे में एकाएक जोड़ा
उल्लुओं का चीख उठा
प्री ई अ, प्री ई अ,! प्रईअ!

पूरी कविता ध्वनियों के अलग-अलग 'शेड्स' के प्रयोग से एकदम नई हो गई है। यह 'आधी रात' शमशेर की बिल्कुल अपनी है। पहली दो पंक्तियों में दीर्घ ध्वनियों से रात के घिरने का भाव मूर्त होता है। फिर 'रुक-रुक' का प्रयोग और 'बारह-बारह' के सारे अक्षरों को तोड़कर एक-दूसरे से अलग-अलग कर देने पर एक जगे हुए, सांस रोक कर इंतज़ार करते हुए, आधी रात को देख रहे व्यक्ति की अनुभूति मिलती है। कुत्ते भूंकने लगते हैं, दूर जाते किसी पथिक के बिरहा गाने की आवाज़ अचानक सुनाई दे जाती है - इन दोनों ही ध्वनियों से रात के अकेलेपन का अहसास और गहरा हो जाता है। कविता का अंत तो इस आधी रात के विषाद को और तीखा कर देता है - नीम का पेड़ बिल्कुल खामोश खड़ा है, पत्तियाँ स्थिर हैं, अचानक उल्लुओं के एक जोड़े की कर्कश आवाज़ इस सन्नाटे और स्थिरता को चीर देती है। गहरी, तीखी अवसाद की यह अनुभूति हिंदी कविता में उस अंदाज़ के जन्म की सूचना देती है, जिसे बाद में श्याम कश्यप ने 'शमशेरियत' का नाम दिया।

'शमशेरियत' की नींव अकेलेपन के अवसाद की ज़रूर है, और यही उनका मूल भाव है इसलिए बहुत बाद में भी हलचल और भीड़ में भी वे अकेले खड़े दिखाई दे जाते हैं। पर ऐसा नहीं कि उनमें एकाकीपन और अवसाद ही अवसाद है। मुक्तिबोध ने लिखा है कि लेखक को "भयानक से भयानक परिस्थितियों में भी मानव-ऊष्मा प्राप्त होती रहती है। मानव-ऊष्मा का यह सुख स्पर्श जो मनुष्य को अगतिकता के भाव से बचाता है या कम करता है, अपने-आप में एक बड़ा मानव-मूल्य है।" 'आज हृदय भर-भर आता है' में भयानक वेदना के बीच भी, करुणा के बादलों की छांह कभी-कभी मन पर पड़ती है। उसके कारण :

उठता सुख से सिहर मरुस्थल
मेरे उर का - दो कण पाकर
उस सुषमा की छाँह निमिष का
जिसमें अस्फुट-सा आशा का स्वर।

सुषमा के दो कण भी सुख की सिहरन पैदा करने की क्षमता रखते हैं, अकेलेपन से बाहर निकलने की प्रेरणा देते हैं।

10 .2.3 मनुष्य और समाज

अकेलेपन से बाहर निकलने का यह संघर्ष मार्क्सवादी माडलों के प्रति तीव्र आकर्षण के साथ शुरू हुआ। 1936 के आस-पास प्रगतिशील आंदोलन शुरू हुआ। उसने मार्क्सवादियों के अलावा पंत जैसे कवियों पर भी असर डाला। शमशेर ने देखा कि उन्होंने अपने लंबे केश छंटा लिये थे और बिल्कुल 'नार्मल' आदमी की वेश-भूषा अपना ली थी। निराला की तरह पंत का प्रभाव भी उन पर गहरा था। यह सारा माहौल उन्हें अपने से बाहर निकलने की प्रेरणा दे रहा था। 'दूसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में उन्होंने अपने शुरुआती दौर के बारे में लिखा, "सन 38-39.. से सन 42 तक मेरा रुझान ज्यादातर क्या बिल्कुल अपनी ही दुनिया के अंदर खिंचते चले जाने की तरफ रहा। उस एकाकीपन की घुटन और उसी की मजबूरियों से पैदा होने वाले पलायन के सपनों और गीतों से छुटकारा पाने के लिये धीरे-धीरे जो संघर्ष मेरे अंदर सन् 42-43 में शुरू हुआ, वह मेरे चारों ,तरफ की ज़िंदगी में बहुत पहले पैदा हो चुका था।" लेकिन ऐसा नहीं है कि वे मार्क्सवाद के असर में आए और सामाजिक अंतर्वस्तु की कविताएँ लिखने लगे। रंग उनका अपना ही रहा, पर जीवन के प्रति जो उम्मीद अस्फुट-सी थी, फूटकर बह निकली।

इसके चिन्ह 'आह्वान' शीर्षक कविता में देखे जा सकते हैं। पहले उन्हें जीवन से दूर चले गए स्वजन अपनी ओर बुलाते रहते थे। 'आह्वान' में इस बुलावे की दिशा बदल गई है। गुज़र गए माँ और पिता की याद अभी भी मन में दृढ़ है, लेकिन वह अब दूसरा असर डालती है। वे 'उमंग' का आह्वान कर रहे हैं। कैसी है यह उमंग?

हड्डी-सी पुराने युग की
मेरे पिता के गाने के धुन-सी!
जिसमें बसा मेरी माँ का प्रेम!

यह उमंग बिल्कुल नए ढंग की है, खुदाई से निकली किसी पुराने युग की हड्डी की कठोरता इसमें है, तो अंदर कहीं एक हलराती-सी आर्द्रता भी है। यहाँ निराशा से लड़ने का एक नया संकल्प दिखाई देता है।

'कहाँ हवा में तैर गए हैं कान' शीर्षक कविता में टूट चुकी देह और मन का भाव-चित्र खींचने के बाद वे कहते हैं : "जाने दो! फिर सींचो/ रक्तिम आशाओं में अपना तन/ अपनी पलकों में सुरमा दो आज-अपने तम का।" मार्क्सवाद से परिचय और आकर्षण के कारण उनके अकेलेपन के भाव का लोप तो हो ही गया, पर उसी का सहारा लेकर वे नए विश्वास के साथ 'कानों में अपनेपन के धूमिल कुंडल' पहनकर इस विश्व और समाज में प्रेम और सौंदर्य की नई संभावनाएँ खोज सकते थे।' दो स्टैंजा' नामक कविता उनकी भावभूमि और मनोभूमि में आ रही तब्दीली का परिचय तो देती है, बहुत कम शब्दों में वह उनके उस दृढ़ आधार का पता देती है, जिस पर खड़े रहकर जीवन भर वे अपने ढंग की कविताएँ लिखते रह सके :

अरुण प्रात में सुंदर उज्ज्वल
जिसका सूना निश्चल तारा,
एकाकीपन जिसका सम्बल-
अमा-दिवा! वह किसका प्यारा?
आज अकेले किसके प्राण?
मेरे कवि के! मेरे कवि के।
जिसने जीवन के सम्मान
फूँक दिए आँगन में छवि के!

अकेलेपन को ही जिसने अपना संबल बना लिया हो, उसे कौन तोड़ सकता है! कविता जैसे चीत्कार करती हुई बताती है कि इस अकेले व्यक्ति ने सौंदर्य की तलाश में जीवन की सारी इच्छाओं को जला डाला है। ज़ाहिर है, इस सौंदर्य में सिर्फ़ गुनगुनाहट नहीं है, जैसा डॉ. शर्मा को और चुपके-चुपके और लोगों को भी लगता है। इसमें बहुत कुछ कठोर है। मई 1940 की एक दिन की डायरी में वे लिखते हैं, "सौंदर्य को सत्य में ढालने के लिए छवि की मुद्राएँ मुझे कसती हैं और छोड़ देती हैं। अपना बनाकर धीरे-धीरे और-और बिल्कुल अपना। कठोर सौंदर्य और सत्य का वरण।"

मई, 1940 की डायरी में शमशेर ऊँचे, मगर अकेले, अलग नीड़ में बैठे बुलबुल के दिल में उठने वाले उस राग का ज़िक्र करते हैं, जो अपनी कमज़ोरी पर सब्र करने से मिली ताकत से पैदा होता है, मगर यह महसूस करते हैं कि यह मुक्त, पर खोलकर उड़ने का राग नहीं है। 'निराला के प्रति' में भी वे निराला को अपना कवि कहकर बुलाते हैं, तो इसलिए कि वे :

काल में (तमघोर)
बरसाते प्रवाहित रस अछोर अथाह।
छू किया करते
आधुनिकतम दाह मानव का
साधना स्वर से

शांत-शीतलम।

मनुष्य के ह्रदय को शांति पहुँचाना कवि का दायित्व होना चाहिए - यह निराला से लेकर मार्क्सवाद तक ने उन्हें समझाया। मार्क्सवाद से उनके परिचय ने न सिर्फ़ सामाजिक जीवन में बदलाव लाने के संघर्ष में उन्हें उतारा, बल्कि समाजी रिश्तों के बीच एक अकेले आदमी की जगह को पहचानने में मदद की। मार्क्सवाद ने उन्हें बताया कि वे इतिहास के एक अंग हैं और इस तरह चारों ओर से संबद्ध हैं, अनजाने, अनचाहे! इस संबंध सूत्र के उद्घाटन के बाद उनका अकेलापन भी उस ऐतिहासिक प्रवाह के एक विशेष बिंदु पर स्थित दिखाई पड़ने लगा। मार्क्सवाद को एक रूढ़ विचारधारा की तरह उन्होंने ग्रहण नहीं किया। डॉ. रामविलास शर्मा से बात करते हुए उन्होंने कहा, "बहुत-सी बातें मेरे दिल में उठती हैं, अपना हल खोजती हैं, डौग्मा में नहीं, लाइन में नहीं, - अपने उस इतिहास में, जिसका मैं एक अभिन्न अंग हूँ, जिसका मैं, और मेरे नीचे की मंजिल में सिलाई की मशीन चलाने वाले शब्बीर मास्टर अभिन्न अंग हैं - और वह कितने अलग-अलग हैं।" मार्क्सवाद उनके लिए आक्सीजन की तरह ज़रूरी था क्योंकि उसने उन्हें समाज के साथ ही नहीं, इस पूरे ब्रह्मांड के साथ अपने संबंध की पहचान तो कराई ही, यह भी बताया कि वे, उनकी संवेदनाएँ किस तरह औरों से विशिष्ट हैं और किस तरह उनका एक अपना मूल्य है।

मार्क्सवादी होने के बाद, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण करने के बाद, कम्यून में पूरावक्ती कार्यकर्ता के रूप में रहते हुए भी शमशेर का आत्मपरक स्वर मंद नहीं पड़ा, इससे आलोचकों को काफी उलझन हुई है और उसकी चर्चा इस इकाई के आरंभिक खंड में की जा चुकी है। लेकिन शमशेर ने कलाकार वाले 'इंट्यूशन' से मार्क्सवाद के मानवीय आशय को समझ लिया था। मार्क्सवाद यह देख पाता है कि मनुष्य और प्रकृति, मनुष्य और मनुष्य, स्वतंत्रता और आवश्यकता के बीच पूंजीवादी समाज में ऐसा द्वंद्व रहता है, जो सुलझ नहीं सकता। साम्यवाद इस द्वंद्व का सही मायनों में समाधान करता है। मार्क्स ने 1844 की पांडुलिपियों में कहा कि चूंकि समाज ही मनुष्य को मनुष्य के रूप में पैदा करता है, इसलिए बिना दूसरों के सीधे संपर्क में आए जो कार्य वह (मनुष्य) संपन्न करता है, वह कार्य भी सामाजिक होता है क्योंकि वह उसे बतौर मनुष्य ही करता है। वह जिस सामग्री को लेकर काम करता है, वह भी सामाजिक वस्तु है, उसका अपना अस्तित्व भी सामाजिक क्रिया है और इसी वजह से "मैं अपना जो कुछ भी करता हूँ, वह समाज के लिए ही और एक सामाजिक प्राणी के रूप में अपनी चेतना के साथ ही करता हूँ।" इसके साथ ही वे मनुष्य की विशिष्ट वैयक्तिकता पर काफी ज़ोर देते हैं क्योंकि यही विशिष्टता एक वास्तविक प्राणी बनाती है, "दरअसल उसकी विशि.ष्टता ही उसे एक व्यक्ति बनाती है, एक वास्तविक विशिष्ट सामाजिक प्राणी बनाती है।" 'पर्टिकुलर' और 'इंडिविडुअल' पर मार्क्स का खास ज़ोर ध्यान देने योग्य है क्योंकि इससे पता चलता है कि दरअसल मार्क्सवाद इस विशिष्ट वैयक्तिकता के उद्घाटन और उसके लिए संघर्ष की प्रेरणा देता है, न कि वह उसे किसी अमूर्त सामाजिक अवधारणा में विलीन कर देने का कार्यक्रम है, जैसा मार्क्सवाद - विरोधियों को तो वह लगता ही है, दुर्भाग्य की बात यह है कि मार्क्सवादियों को भी यही अपना 'मिशन' नज़र आता था (!)। मार्क्सवाद सामान्यीकरण और अमूर्तीकरण का दर्शन नहीं है। शमशेर ने उसके मूल स्वर को पहचान लिया था, इसलिए वह कलाकार को किस तरह बदलता है, इसे लेकर वे एकदम स्पष्ट थे, "कलाकार स्वयं को बदलेगा, बदलेगा एक माध्यम बनाने के लिए, अपने को एक अत्यधिक 'सेन्सिटिव' माध्यम, सक्षम द्रष्टा, 'पोएट, इन द ऐंशेन्ट सेंस ए मेकर -।" इस दृष्टि से देखें, तो कम्युनिस्ट होने के बाद शमशेर की अपनी संवेदना ने एक गहराई तो पाई ही, उसे व्यापकता भी मिली।

मार्क्सवाद और कम्युनिस्ट पार्टी से संपर्क ने शमशेर को जीवन और उसके सौंदर्य के प्रति आस्था को दृढ़ किया। आशा का यह स्वर 'नव सूर्य' के अभिनंदन में सुनाई पड़ता है या फिर 'बार-बार मन चाहता है' में। इन क्रूर, कठिन, भ्रांत परिस्थितियों में संन्यास लेने की तरफ भागते मन को वे 'जीवन के भूखे समरांगण के राग' की तरफ खींच कर इन्हीं में लय होकर अपनी

गति को पहचानने की बात करते हैं। 'कर्म करो' में जीवन से हीनता, दुराव हटाकर कार्य करने का आह्वान करते हैं, "कर्म की शक्ति का अनन्ततः/ मानस-लहरों में हो/ ज्योति-फहराव।/ अंधकार वरो नहीं।" उसी तरह 'फिर वह एक हिलोर उठी' शीर्षक कविता में मज़दूर-किसानों के हठी कठिन स्वर में अपना स्वर मिलाने का आह्वान कवि से करते हैं। इसकी वजह यह है कि "उनके मिट्टी के तन में है अधिक आग/ है अधिक ताप।" उनके चारों ओर जो संघर्ष चल रहा था, उसमें निश्चय ही वामपंथी रुझान प्रबल था जो युवाओं को बहाए ले जा रहा था। उसे वे ठीक ही 'नूतन प्राण-हिलोर' कह कर बुलाते हैं। इस संबोधन से उस सामाजिक आंदोलन के प्रति उनका अपनत्व प्रकट होता है। लेकिन यह सही है कि मार्क्सवादी विचारधारा से संपर्क के बाद समय-समय पर शमशेर ने राजनीतिक घटनाओं या विषयों पर जो कविताएँ लिखीं, उनमें प्रायः 'वक्तृता' ही है और वह जहाँ-तहाँ प्रभावशाली हो जाएँ तो हो जाएँ, प्रायः ऐसी कविताएँ बहुत कम प्रभाव छोड़ती हैं। जहाँ वे इस भाव से कविता लिखते हैं कि वह उनका सामाजिक दायित्व है, जिसे पूरा करना ही है, वहाँ वे सपाट हो जाते हैं। लेकिन जब घटनाएँ उन पर गहरा असर छोड़ती हैं, तब उनका कवि-मन व्यथा में गहरे डूबकर पीड़ा से छटपटाती पंक्तियाँ निकाल लाता है। ग्वालियर की सामंती सियासती सरकार ने मज़दूरनों के जुलूस पर गोली चलाई। शमशेर ने उनका स्वर-चित्र खींचा, 'य' शाम है/ कि आसमान खेत है पके हुए अनाज का।/ लपक उठीं लहू-भरी दरातियाँ/ - कि आग है/ धुँआ-धुँआ/ सुलग रहा ग्वालियर के मजूर का हृदय।" इस कविता की मंथर लय के साथ इसका दृढ़ गंभीर स्वर एक विचित्र प्रकार के उदात्त वातावरण की सृष्टि करता है, जिसमें सिर्फ करुणा का भाव नहीं है। इस तरह के चित्र उनकी इस प्रकार की कविताओं में यत्र-तत्र मिल जाते हैं। बंबई में वर्ली के 70 किसानों को देखकर उन किसानों के लिए वे शक्ति और ऊर्जा से भरा हुआ यह रूपक खींचते हैं :

ये वही बादल घटाटोपी
बिजलियाँ जिनमें चमकतीं?
खून में जिनके कड़क ऐसी, कि
- गोलियाँ चलतीं
. . . .
. . . .
. . . .
इनकी आँखों में तड़कती धूप
सख्त बंजर की।

घटाटोपी बादलों में बिजलियों का चमकना, खून में कड़क, गोलियों का चलना, सख्त बंजर पर पड़ रही तड़कती-धूप - ये सब मिलकर उन आदिवासियों का एक भव्य चित्र खड़ा करते हैं। इसी तरह बिलकुल सपाटबयानी का सहारा लेकर लिखी गई कविता 'नाविक विद्रोहियों पर 'बमबारी बम्बई, 1946' की इन पंक्तियों को देखिए :

लगी हो आग जंगल में कहीं जैसे,
हमारे दिल सुलगते हैं,
. . . .
. . . .
सरकारें पलटती हैं जहाँ हम दर्द से
करवट बदलते हैं।

लेकिन ऐसे शक्तिशाली बिंब इन विषयों पर लिखी शमशेर की कविताओं में कम मिलते हैं। हरिशंकर परसाई ने तो यहाँ तक कहा है कि शमशेर की सबसे रद्दी कविताएँ वे हैं, जो क्रांतिकारी हैं और जिनमें उन्होंने प्रतिबद्धता जताने की कोशिश की है।

'वाम वाम वाम दिशा' शीर्षक कविता कम्युनिस्टों को खासतौर पर पसंद है और उसकी पहली दो पंक्तियों के पोस्टर बनाकर सम्मेलनों और जुलूसों में लगाए जाते रहे हैं, पर यह कविता शमशेर की श्रेष्ठ कविताओं में नहीं रखी जा सकती क्योंकि इसकी सपाट वक्तृता में कोई ज़ोर नहीं, "लोकतंत्र-पूत वह/ दूत, मौन, कर्मनिष्ठ/ जनता का एकता-समन्वय वह/ चिर विजयी वय में वह ध्येय-धीर/ सेनानी/ अविराम/ वाम-पक्षवादी है।" श्रमिक के इस पूरे सकारात्मक चित्र में निश्चय ही वह ताकत नहीं, जो दर्द से करवट बदलते नाविकों के चित्र में है। ऐसी कविताओं में भी जहाँ शमशेर की आत्मपरकता का स्पर्श है, वहाँ वे नई हो उठी हैं, जैसे 'लेकर सीधा नारा'। इसमें 'डूबती हुई पलकों' और आशाओं की अंतिम संध्याओं के बीच से एक पुकार सुनाई पड़ती है। जो 'एक सीधा नारा' है, वही जीने की नई वजह बन जाता है। कविता का अंत इस प्रकार होता है :

मैं समाज तो नहीं, न मैं कुल
                    जीवन
कण-समूह में हूँ मैं केवल
                    एक कण
-- कौन सहारा!
मेरा कौन सहारा!

इसमें निराशा और कातरता नहीं, सहारा पाने की तीखी छटपटाहट दिखलाई पड़ती है, जो इस कविता को मात्र राजनीतिक नहीं रहने देती। 1950 के दशक में शमशेर ने कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता छोड़ दी। वजह मार्क्सवाद से मोहभंग नहीं था। कारण कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं का वह रवैया था, जो उन्हें कला-विरोधी लगता था, "एक रचनाकार/ कलाकार इस 'इज्म' को आगे किस प्रकार से ले इसकी कोई दिशा इन नेताओं के पास नहीं थी।" लेकिन पार्टी छोड़ने का मतलब मार्क्सवाद से विच्छेद नहीं था। यह उनके आखिरी दिनों के वक्तव्यों और कविताओं से भी स्पष्ट है।

शमशेर ने मार्क्सवाद के बुनियादी पहलुओं को हमेशा के लिए प्रेरणादायी माना है। इन्हीं से उनकी यह धारणा दृढ़ हुई थी कि कला-सृजन भी अन्य कार्यों की तरह ही एक स्वतंत्र कार्य है। वह मात्र पुनः सृजन नहीं है, नया सृजन भी है। कला का काम सौंदर्य का सृजन करना है। यह नहीं कि दुनिया में जो सारे काम हो रहे हैं, घटनाएँ घट रही हैं, कविता या कला उन्हें प्रतिबिंबित मात्र करे। वह अपने तौर पर कुछ ऐसा पैदा करती है, जो और कोई नहीं कर सकता और इसी वजह से उसका विशिष्ट सामाजिक और मानवीय मूल्य है। यह विचार की वह दृढ़ भूमि है, जिस पर खड़े होकर शमशेर डॉ. रामविलास शर्मा से बहस कर सकते थे। मार्क्सवाद ने दूसरी एक महत्वपूर्ण भावना 'विश्व-बंधुता' को उनके अंदर दृढ़ किया। यह भी संभवतः मार्क्सवादी होने का ही परिणाम था कि वे प्रकृति और मनुष्य में कहीं भी मिल जाने वाले सौंदर्य को अंकुठित भाव से चित्रित कर सके। सौंदर्य-चित्रण को लेकर कुंठा कहीं-कहीं छायावाद में मिलती है और प्रगतिवाद में खास किस्म के सौंदय-चित्रण को स्वीकृति थी, प्रगतिवाद के बाद उभरनेवाली कविता में भी सौंदर्य और बौद्धिकता के बीच सहज संबंध नहीं पाया गया था। लेकिन शमशेर ने सौंदर्य के व्यापक और गहन मानवीय और सामाजिक अभिप्राय को समझ लिया था, मनुष्य के लिए उसकी सार्थकता उनके लिए विवाद से परे थी, इसलिए व्यंग्य-बाणों को झेलते हुए उन्होंने सुंदर की खोज जारी रखी।

10.2.4 प्रकृति

शमशेर की सौंदर्य-संवेदना का विस्तार प्रकृति, मनुष्य से लेकर मानवीय भावों तक है। शुरू से ही प्रकृति के अलग-अलग रंग उन पर गहरा असर डालते रहे हैं। वे प्रायः रंगों में और गतियों में ही प्राकृतिक रूपों को ढलता हुआ देखते हैं। प्रकृति से उनके कवि-मन के विचित्र संबंध को समझने के लिहाज से 'उदिता' की भूमिका का यह खंड देखना उपयोगी होगा, "शामों की झुरमुट में, जब पच्छिम के मैले होते हुए लाल पीले बैगनी रंग हर चीज़ को लपेट कर अपने

गहरे मिले-जुले धुँधलके में खोने-से लगते हैं - आपने क्या उस वक्त कभी ध्यान दिया है कि कैसे हर चीज़ एक ही खामोश राग में डूबने लगती है...?" शुरू से ही आसमान और रंग उन पर एक खास ढंग से असर डालते हैं। दूसरी खासियत यह है कि प्रकृति के दृश्यों का अंकन उस ख्याल के साथ ज़रूर होता है, जो उन्हें देखते हुए मन में उठता है। 'उदिता' में ही संकलित 'लहरें/ शाम/ वह नगर' शीर्षक कविता में शाम के समय के बादलों का अंकन मिलता है, जिनके बीच से तरह-तरह से रोशनी आ-जा रही है और कई रंगों की सृष्टि कर रही है। यह बादल बैंगनी-संदली, भूरे, सुर्मयी-सिंदूरी, धुले-सांवले, पीले-गुलाबी से, ऊदे-कारी, नीले-गहरे-से मटमैले हैं। देखने की बात है कि शमशेर ने कितनी बारीकी से रंगों को पहचाना और अलग किया है। उनकी इस तरह की कविताओं को देखने के बाद कहना पड़ता है कि हिंदी के किसी और कवि ने इतना मगन होकर सांध्यकालीन आकाश को नहीं देखा। पर ये बादल स्थिर हैं या चल रहे हैं ... भारी/शांत ढलते, नींद से भरे/ सपनों से बोझिल धीर/ अपने अंत से विज्ञ/ संतुष्ट।" जिन सपनों से बोझिल ये बादल हैं, वे दरअसल किसी की याद है। शमशेर शेष कविता में उस ख्याल की बातें करते हैं, जो इस शाम ने उनके मन में किसी की याद दिलाकर पैदा कर दिया है।

बहुत तटस्थ भाव से, तथाकथित यथार्थवादी ढंग से प्राकृतिक दृश्यों का अंकन शमशेर नहीं करते। उनका मन उस चित्र में कुछ इस कदर घुला-मिला रहता है कि कविता पढ़कर यह बताना कठिन हो जाता है कि प्राकृतिक दृश्य मन पर असर डाल रहे हैं या कवि का मन ही प्रकृति को अपने ख्याल के रंग में निहार रहा है। इसीलिए ऐसे चित्रों में रंगों और गतियों का विशेष तौर पर अंकन मिलता है। 'संध्या' कविता में बादलों का यह चित्र द्रष्टव्य है :

> बादल अक्टूबर के
> हल्के रंगीन ऊदे
> मद्धम मद्धम रुकते
> रुकते-से आ जाते
> इ त ने पास अपने।

शब्दों को तोड़कर गति को विलंबित कर देने से धीमे-धीमे सरकते बादलों का एक अद्भुत चित्र मिलता है। निगाह बादलों से हटकर पेड़-पौधों पर घूम जाती है :

> एक-इक पत्ता साकत्
> ठै रा, सन्ध्या भा में
> सु न ता - सा कुछ किस को
> इ त ने पास अपने।

बादलों में तो फिर भी गति है, यहाँ तो मानो शाम की रोशनी में हर चीज़ साध कर कुछ सुनने की कोशिश में है। इसी बीच अचानक कुछ यादें कौंध जाती हैं,

> या दों की द्वा भा एँ
> बा दल के भा लों पर
> चमकी-सी लय होने
> धीरे-धीरे-धीरे
> इ त ने पास अपने।

जैसे क्षितिज के नीचे जाते सूरज का मंद प्रकाश अचानक बादलों के ऊपर चमक उठता है, वैसे ही मन में यादें कौंध जाती हैं। फिर उसी प्रकाश की तरह लय भी हो जाती है।

डॉ. रामविलास शर्मा की शिकायत शमशेर से यह है कि वे प्राकृतिक दृश्यों का अंकन करते हैं, जैसे शाम के समय के आसमान का, या बादलों का, या पेड़-पौधों का, तो यह पता नहीं लग

पाता कि उस चित्र का संबंध किस गाँव से किस अंचल से है। इसलिए उनकी धारणा है कि प्रकृति के जो बिंब शमशेर की कविताओं में आते हैं, उन्हें किताबें पढ़कर भी रचा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, ये प्रकृति-चित्र रंगीन को हो सकते हैं, पर हैं प्राणहीन ही। डॉ. शर्मा कहते हैं, "ये शहर का आदमी है जो बिना इस बात का ध्यान रखे हुए कि मैं शाम कहां देख रहा हूँ, शाम के बारे में बात करता है। उनके यथार्थवाद में यह कमजोरी है।" कहने की ज़रूरत नहीं कि डॉ. शर्मा का खास ढंग का यथार्थवाद शमशेर के अपने यथार्थ को स्वीकार नहीं कर पाता। इस टिप्पणी से ऐसा ज़ाहिर होता है, मानो शहर के आदमी को प्रकृति को निहारने की, उससे आनंदित होने की इजाज़त ही नहीं है। क्या डॉ. शर्मा यह कहना चाहते हैं कि आसमान में बदलते रंगों का चित्र तब तक पूरा नहीं होगा, जब तक कि उसके नीचे की मिट्टी की गंध उसमें न मिल जाए? यथार्थ-दर्शन का कोई एक मानक तरीका ही स्वीकृत हो, यह ज़रूरी नहीं। इस संदर्भ में 'उदिता' में दिया गया शमशेर का वक्तव्य महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं कि शाम के धुंधलके में जब सारी चीज़ें गुग्ग होने लगती हैं, तब कभी-कभी "वक्त के बहते हुए धारे में एक ठहराव-सा आता महसूस होता है - अब मान लीजिए यह पृष्ठभूमि आपके दिल की किसी खास चोट की है। मुमकिन है वह शाम आपको अपनी ज़िंदगी का एक टुकड़ा लगे - जिसका फैलाव अब पश्चिम से पूर्व तक और ज़मीन से आसमान तक-देख रहे हैं।" हो सकता है, इस मंजर को देखते हुए आपके मन में यों ही एक ख्याल उभर आए। शमशेर कहते हैं : "इसी ख्याल के सुर ताल और रंग और नक्श और लहर मेरी कविता है।" सवाल यह है कि यह ख्याल यथार्थ है या नहीं?

डॉ. रामविलास शर्मा की धारणा के विपरीत सच तो यह है कि शमशेर ने प्रकृति के कुछ अत्यंत अछूते बिंब और उनसे जुड़ी हुई अपनी खास संवेदना के चित्र हिंदी कविता को दिए हैं, जो उनके अलावा और कहीं नहीं मिल सकते थे। जैसे इस चांद को देखिए, "सँवलाती ललाई में लिपटा हुआ/ काफी ऊपर/ तीन चौथाई खामोश गोल सादा चाँद"। आगे चलकर यह चाँद जब कवि के मन में गहरा उतर जाता है, तो यह बिंब मिलता है, "रात में ढलती हुई तमतमायी-सी/ लाजभरी शाम के/ अंदर/ वह सफेद मुख/ किसी ख्याल के बुखार का।" चाँद अब भी चाँद है, पर वह अपना रूप छोड़कर एक संवेदना में बदल जाता है। 'क्षीण नीले बादलों में' में ढलती शाम और गहराती रात का चित्र है। देखने वाले की मनःस्थिति का अंकन भी साथ-साथ है :

बादलों में दीर्घ पश्चिम का
आकाश
मलिनतम।
ढके पीले पाँव
जा रही रुग्णा संध्या।

. . . .

नील आभा विश्व की
हो रही प्रति पल तमस।

बीमार शाम का पीलापन रात के गहरे अंधेरे में बदल रहा है। लेकिन इस समय चाँद आसमान पर कुछ इस तरह है मानों बीत चुकी शाम की एक खिड़की-सी खुली रह गई है। जैसे शाम बीत गई है, वैसे ही कवि के जीवन से भी किसी का भाव बीत चुका है। वह इस खुली खिड़की से झाँकने लगता है। इसी खुली खिड़की की वजह से कवि के मन पर छाया अंधेरा उसे पूरी तरह ग्रस नहीं पाता

विगत सन्ध्या की
रह गई है एक खिड़की खुली।
झाँकता है विगत किसका भाव।

कविता का अंत इस तरह होता है : बादलों के घने नीले केश चपलतम आभूषणों से भरे लहरते हैं वायु - संग सब ओर।

शाम को रात में ढलते देखने वाला मन रुग्ण नहीं, इसका प्रमाण यह है कि बादल उसे आभूषणों से सजे घने नीले लहराते केश की तरह लग रहे हैं। स्थिरता और अवसाद का जो भाव कविता के आरंभ से चला आ रहा था, वह गति में बदल गया लगता है। शमशेर के प्रकृति-चित्रों को उन्हीं के नज़रिए से देखना चाहिए, न कि उस दृष्टि से जिससे केदारनाथ अग्रवाल या नागार्जुन के प्रकृति-चित्रण को देखा जाता है। शाम की नीलाहट, रात का अंधेरा, जाड़े की सुबह की कोमल धूप, सागर की लहरें - ये सब उनके संवेदनलोक के अभिन्न अंग हैं। प्रकृति के अलग-अलग रंगों, उसकी अलग-अलग भंगिमाओं के साथ मानवीय संवेदनाओं का जो विचित्र संबंध है, वह आधुनिक हिंदी कविता में जितने सशक्त ढंग से शमशेर के यहाँ अभिव्यक्त हुआ है, उतना शायद कहीं और नहीं। डॉ. शर्मा की शिकायत है कि उनकी प्रकृति संबंधी कविताएँ प्रतीकात्मक हो जाती हैं। इसके विपरीत, जैसा हम ऊपर की कविताओं को देख सकते हैं, शमशेर-प्रकृति-चित्रों को प्रतीक नहीं बनाते, वे उनके मन में जैसे उतरते हैं, वैसे ही वे उनका अंकन करते हैं।

शमशेर के प्रकृति-चित्र सिर्फ नीले, पीले और काले रंगों से बने हों, ऐसा नहीं। वे हवा में 'सन सन ज्योति के हर तीखे बान' चलते हुए देखते हैं और उनके यहाँ आकाशवन सुलगता भी है, उसमें लाल, गौहर और जमुर्रद के निशान उड़ते हुए मिलते हैं। दरअसल प्रकृति उन पर चारों ओर से हमला करके उनकी सारी इंद्रियों को उत्तेजित कर देती है। वह उनकी मानवीय संवेदना का विस्तार बन जाती है। शमशेर के लिए प्रकृति सामाजिक जटिलताओं से पलायन के बाद शरण-स्थली नहीं है, वह हर रूप में, हर बार एक नए ढंग से समाज की ओर लौटा ले जाती है। प्रकृति जैसे उनकी त्वचा से होकर अंदर समाई हुई है। 'जाड़ों की सुबह के सात-आठ बजे' शीर्षक कविता में वे कहते हैं :

> उड़ते पंखों की परछाइयाँ
> हल्के झाड़ू से धूप को समेटने की
> कोशिश हो जैसे

धूप को समेटने की यह कोशिश व्यर्थ है, क्योंकि अगर वह सिर्फ बाहर फैली हो, तो झाड़ू से समेटी भी जा सके, पर 'धूप मेरे अंदर भी/ इस समय तो ।' इस अंदर की धूप को पकड़ना और कवि से अलग करना जितना कठिन है, उतना ही मुश्किल है शमशेर की प्रकृति-संवेदना को अलग से पकड़ना क्योंकि वह उनकी मानवीय संवेदना के अंदर धंसी है।

10.2.5 प्रेम और सौंदर्य

कला, शमशेर के लिए, मनुष्य की आत्मा का सबसे बड़ा संघर्ष है क्योंकि उसी में यह ताकत है कि वह मानव-समाज को एक कर दे। शमशेर पर बात करते समय अक्सर इस्तेमाल किए जाने वाले शब्दों कला, सौंदर्य, प्रेम आदि का विशिष्ट परिप्रेक्ष्य 'इतने पास अपने' में संकलित 'कला' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में मिलता है :

> कला सबसे बड़ा संघर्ष बन जाती है
> मनुष्य की आत्मा का -
> प्रेम का कँवल कितना विशाल हो जाता
> आकाश जितना
> और केवल उसी के दूसरे अर्थ सौंदर्य
> हो जाते हैं
> मनुष्य की आत्मा में।

कला में खिलनेवाला प्रेम का कमल अपरिमित विस्तार रखता है और इसी व्यापकता में वह सौंदर्य की सृष्टि भी करता है। यही तो कला का उद्देश्य है। सिर्फ इसी अर्थ में शमशेर प्रेम और सौंदर्य के कवि हैं। मुक्तिबोध ने उन्हें 'प्रणय भावना' के एक विशिष्ट कवि के रूप में चिन्हित किया है। अक्सर उनकी कविताओं में व्यक्त प्रणय-भावना को उनके जीवन में व्याप्त नारी के अभाव से उत्पन्न असंतोष से जोड़कर देखा गया है। जैसे उन्हें बड़े सीमित, संकीर्ण अर्थ में 'सौंदर्य का कवि' कहा गया है, वैसे ही यह भी मान लिया गया है कि नारी-शरीर का सौंदर्य उन्हें अपनी ओर ज्यादा खींचता था। लेकिन क्या यह हैरानी की बात नहीं और हिंदी के आलोचकों पर सख्त टिप्पणी नहीं कि उनकी अब तक प्रकाशित कविताओं में नारी-शरीर के सौंदर्य का अंकन करने वाली कविताओं की संख्या दस तक भी नहीं पहुंचती? दरअसल, नारी-शरीर का वर्णन उनका अभीष्ट उतना नहीं, जितना उस शरीर की मुद्राओं से आकृष्ट कलाकार की तरह उनके सौंदर्य का अंकन! एक कसी हुई, सुतवां देह का ठोसपन उनसे 'एक ठोस बदन अष्टधातु का-सा' जैसी कविता लिखवाता है, तो कोई नृत्य-मुद्रा 'और-और कस उभर' जैसी कविता की रचना करवाती है। यह भी सच नहीं, जैसा उनके कुछ प्रेमी उन्हें रीतिवाद के आरोप से बचाने के लिए कहते हैं कि शमशेर नारी-शरीर का खुला वर्णन नहीं करते, उस पर आवरण-सा डाल देते हैं या उस शरीर का पार्श्व-बिंब आंक कर काम चला लेते हैं। ऐसे शमशेर-रक्षकों के कहने का अर्थ सिर्फ यह है कि उनके ऐसे चित्र नारी-शरीर के संकेत देकर पाठक को आमंत्रित करते हैं कि बाकी वह अपनी कल्पना से पूरा कर लें। इस धारणा के उलट, सच यह है कि शमशेर चित्र जब आंकते हैं तो पर्दा कहीं नहीं होता। एक गतिमान, सुतुवां नारी देह का यह चित्र देखिए :

एक ठोस बदन अष्टधातु का-सा
सचमुच?
जंघाएँ दो ठोस दरिया
ठैरे हुए - से

जो जंघाएँ ठहरे हुए दरिया-सी लगती हैं, उन्हें कवि देख रहा है कि वे दरअसल तेज़ गति में हैं

मगर जानता हूँ कि वो
बराबर-बराबर बहुत तेज
रौ में हैं

ठहरी हुई जंघाएँ नहीं हैं, ठिठक तो वह खुद गया है, उसकी 'दृष्टि/ एकटक', 'ठोस वक्ष कपोल' देख रही है, जो उसे चैलेंज-सा दे रहे हैं, उसे निमंत्रण दे रहे हैं कि वह उस 'अष्टधातु की मूर्ति' की तरह उस ठोस बदन का अंकन करे। चुनौती दरअसल कलाकार शमशेर को है। 'प्रेयसी' कविता में दरिया तो नहीं है, पर यहाँ पूरा बदन ही एक जल-प्रपात की तरह दीखता है :

तुम्हारा सुडौल बदन एक आबशार है
जिसे मैं एक ही जगह खड़ा देखता हूँ
ऐसा चिकना और गतिमान
ऐसा मूर्त सुंदर उज्ज्वल।

इन पंक्तियों को देखने के बाद भी क्या यह कहने की गुंजाइश रह जाती है कि शमशेर नारी-देह का वर्णन करते समय आवरण-सा डाल देते हैं? यह एक अत्यंत स्थिर, स्वस्थ कलाकार-मन द्वारा किया गया वर्णन है। वरना नारी-देह को 'आबशार' कहना सबके बूते की बात नहीं।

बिल्कुल आरंभिक दौर में 'फिर भी क्यों' जैसी कविता से ही उनकी प्रणय-भावना के खास रंग को पहचाना जा सकता था। इसमें वे अपनी प्रेमिका को 'छोटा-सा ताल', 'लहर हलकी-सी' तो कहते ही हैं, साथ-साथ उसे 'घिरा फैलाव' कहकर पुकारते हैं। फैले हुए जल को यदि घेर

दिया जाए तो उसमें जबर्दस्त ऊर्जा की संभावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। शमशेर अनायास ही प्रणय-संवेदना को कोमलता को एक अत्यंत उदात्त स्तर पर इसी तरह प्रतिष्ठित कर देते हैं। 'हल्की मीठी चा-सा दिन' हो, 'ठंडी सुनहरी धूप' हो, तो प्रेमिका की याद आना स्वाभाविक है :

पलकों पर हौले-हौले
तुम्हारे फूल-से पाँव
मानो भूल कर पड़ते
हृदय के सपनों पर मेरे।
अकेला हूँ, आओ (दूब)

यह आमंत्रण, उनके यहाँ हमेशा 'मुलायम बाहों सा अपनाव' वाली कोमलता लिए हुए नहीं होता। प्रेम की यह अभिलाषा शमशेर के यहाँ कितनी उत्कट है और वह किस तरह उनके व्यक्तित्व पर छाई हुई है, यह 'आओ' शीर्षक कविता पढ़कर जाना जा सकता है। इस कविता में 'भीने गुलाब-पीले गुलाब के' पाल गिराए तैरती आती बहार में जाफरान हवा में ही नहीं, संसार में भी घुल जाता है। प्रेमिका के खो जाने का अहसास उनके अकेलेपन को गहरा कर देता है। वो एक सुराही, एक चटाई और अपने पड़ोसी ज़रा से आकाश के साथ खुश तो हैं (गालिब की डायरी याद कीजिए) पर खोई हुई प्रेमिका के बिना यह अकेलापन 'दीदों की वीरानी' में तब्दील हो जाता है। वे कहते हैं :

शेर में ही तुमको समाना है अगर
ज़िंदगी में आओ, मुजस्सिम
बहरतौर चली आओ।

'मुजस्सिम' और 'बहरतौर' का इस्तेमाल इस बुलावे में वह उत्कटता भर देता है, जो कविता के अंत में और भी प्रखर ढंग से यों अभिव्यक्त होती है :

तुम आओ, तो खुद घर मेरा आ जाएगा
इस कोने - मकाँ में
तुम जिसकी
लय हो।
उन ऐन खामोशी की-हया-भरी
इन सिम्तों की पहनाइयाँ मुझको
पहनाओ!
इस अंदाज़ से अपनाओ
जिसे दर्द की बेगानारवी कहें
बादल की हँसी कहें
ज़िसे कोयल की
तूफान भरी सदियों की
चीखें
कि जिसे 'हम-तुम' कहें।

यहाँ कोमल सा आमंत्रण 'आओ' ज़िंदगी की भयानक तड़प भी बन जाता है। सिम्तों की पहनाइयाँ (दिशाओं का विस्तार), बादल की हँसी, कोयल की तूफान भरी सदियों की चीखें इस 'आओ' को दिल की अनंत गहराइयों से निकली पुकार में बदल देती हैं। यह एक नया प्रेमी-स्वर है, हिंदी कविता में अपनी अलग जगह बनाता हुआ।

शमशेर के प्रेमानुभवों की अभिव्यक्तियों में हमेशा एक उदात्तभाव रहता है। उदाहरण के लिए उनकी कुछ ऐसी कविताएँ देखी जा सकती हैं। 'चेहरे की शामों में' शीर्षक कविता में शाम के जल में डोलती हुई नावों को देखकर प्रेमिका के चेहरे पर पड़ती शाम की याद आ जाती है

और उसके धीरे-धीरे हिलते होंठ याद आते हैं, 'चेहरे की शामों में होंठों की किश्तियाँ/ हौले-हौले हौले-हौलेऽऽ/ हिलतीं/ मौन-मधुर इनमें ही भरी हुई रहती हैं/ चुम्बन की मिष्टियाँ' किश्तियाँ और मिष्टियाँ जिस कोमल प्रणय-संवेदना का संचार करती हैं, वह बहुत विराट रूप ग्रहण कर लेती है जब इस शाम की नदी में चारों ओर से ढलती सृष्टियाँ नज़र आ जाती है और धीरे-धीरे अपना भार तौलते हुए 'गहराता आसमान/ झुकता आसमान' भी दिखलाई पड़ता है। उसी तरह 'प्यार का मौसोलियम' में ताजमहल को 'संगमर्मर में समाया हुआ प्यार', 'प्यार का मौसोलियम' कहने के बाद खुद अपने प्यार के मौसोलियम की चर्चा करते हैं :

तारकों की झिलमिली से झाँकता हूँ
व्योम के मौसोलियम में
ताज उसका अमर नगदर्पण मैं उसी में झाँकता हूँ
अनन्त तक।

'व्योम के मौसोलियम' की कल्पना, ताज जिसका नगदर्पण है, प्रेम की उस उदात्त भावना के बिना संभव नहीं, जिसका कमल फैलकर आकाश जितना विशाल हो जाता है। उनकी प्रेमानुभूति इसीलिए विचित्र है कि उसमें पड़कर जिस क्षण उनकी देह देर तक बेंत-सी थरथराती रहती है, उसी क्षण 'समस्त वातावरण/ मानो झंझावात' से भरा हुआ मालूम पड़ता है उनकी प्रेम-भावना सिर्फ उनमें थरथराहट नहीं उत्पन्न करती, उसका वृत्त फैलते-फैलते सारे वातावरण को झंझोड़ने लगता है, उसमें तूफान-सा बरपा कर देता है।

10.3 शमशेर की कविता : आशंसा के आयाम

अपने पहले संग्रह की भूमिका में शमशेर ने इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया है कि लोगों को उनकी रचनाओं से लुत्फ उठाने में दिक्कत महसूस होती है। बाद में उन्होंने कविता लिखने के अपने तरीके का खुलासा किया है और खास अपने लहज़े, खास अपने मन के रंग, अपनी लय का ज़िक्र किया है, जिसमें सपने की तरह एक उलझी हुई याद के बहुत अपने छायाचित्र की तरह उनकी बात रखी जाती है। इस वक्तव्य का असर हो या हिंदी में प्रचलित काव्य-अभिरुचि का, उनकी कविताओं के नएपन को पहचाना गया, लेकिन प्रायः यह मान लिया गया कि उनका मन बहुत उलझा रहता है और इसीलिए वे अपने इस उलझे-पुलझेपन को बिना 'कलात्मक संगठन' की परवाह किए अपनी कविताओं में रख भर देते हैं। आश्चर्य है कि शमशेर की कविता के मामले में डॉ. रामविलास शर्मा, मलयज, श्रीकांत वर्मा, रघुवंश जैसे लोग लगभग एक-सा ख्याल रखते हैं। डॉ. शर्मा कहते हैं कि उनकी कविता उस कोंपल की तरह है, बहुत स्वाभाविक, लेकिन ऐसी कोंपल जो, मानो, बढ़कर पत्ती बनना नहीं जानती। उसे अनगढ़ सौंदर्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनगढ़ वह जो गढ़ा जा सके। यहाँ गढ़ने लायक कुछ भी नहीं है, सबकुछ अस्फुट, असंगठित, रूप-अरूप के बीच, सृष्टि के बीच ब्रह्म जैसा।' शमशेर के प्रति अपने सारे प्यार के बावजूद डॉ. शर्मा को कहना ही पड़ता है कि कविता बनने के पहले उसका अव्यक्त रूप कैसा होता है, यह शमशेर की कविता पढ़कर जाना जा सकता है। उनसे बहुत अलग ख्याल मलयज का नहीं है, जो बड़े काव्यात्मक ढंग से कहते हैं, 'शमशेरजी के बारे में सोचते समय हमेशा चार्ल्स लैम्ब के एक आत्मपरक निबंध 'ड्रीम चिल्ड्रेन' की याद आती है। कल्पना-निर्मित शिशु, जो यथार्थ की उंगलियों से छूते ही तिरोहित हो जाते हैं।' आप उनकी कविताओं से अर्थ प्राप्त कर ही नहीं सकते क्योंकि वे तो शब्दों के रूढ़ अर्थों से मुक्त ऐसी दुनिया की रचना करते हैं जो 'सिर्फ' उन्हीं की है।

आलोचना की इस स्वप्न-भाषा पर शमशेर के प्रेमी फिदा होना चाहें तो हों, दरअसल मलयज कहना यह चाहते हैं कि आप शमशेर की कविता का अर्थ नही समझ सकते, 'दूसरे के लिए बंद, यह 'बात बोलेगी, हम नहीं' की दुनिया है। ऐसी कि उसको खोलने की चाबी खुद उस दुनिया के भीतर ही कहीं रह गयी है।' श्रीकांत वर्मा के लिए भी शमशेर की कविता का संसार एक तिलिस्म है, जिसे भेदना कठिन है, 'शमशेर की दुनिया अर्थ की नहीं, ध्वनियों की,

तिलस्मी, जादुई, ध्वनियों की दुनिया है।" अर्थ तो जादू का भी होता है, लेकिन प्रलाप का?" शमशेर ने प्रलाप की सीमा तक पहुँचकर अभिव्यक्ति की-।" फिर वे एक बुनियादी सवाल पेश कर देते हैं, "क्या कोई कवि यह जानता है कि वह क्या व्यक्त करना चाहता है?" श्रीकांत वर्मा समझते हैं कि शमशेर की कविता सम्मोहित करती है, बांधती है और रघुवंशजी का भी यह विचार है कि उनके बिंबों, प्रभाव-चित्रों, कल्पना-तरंगों तथा ध्वनि-बिंबों में उनके व्यक्तित्व का आकर्षण पाठकों को संवेदित न करके सम्मोहित करता है और इस मनःस्थिति में उनकी कविता में व्यक्त व्यक्तिनिष्ठा और सामाजिकता एक ऐंद्रजालिक लीला के अंग मालूम पड़ते हैं। विचारधाराओं की सरहदों के पार कविता संबंधी संवेदना का कोई एक अदृश्य-सूत्र इन सारे आलोचकों को एक-दूसरे से बाँधे हुए है।

अगर ये सारी बातें सही हैं, तो फिर शमशेर अपनी ही निगाह में एक असफल कवि ठहरते हैं क्योंकि वे तो सामाजिक यथार्थ के व्यक्त रूपों का ही अर्थ नहीं समझना चाहते थे, बल्कि वह यथार्थ जहाँ इशारों में, भंगिमाओं में व्यक्त होता है, उसे भी अभिव्यक्ति देना चाहते थे। शमशेर की सारी कविताओं का अर्थ एक नहीं है, फिर भी उन सबके लिए समझ का कोई एक आधार-सूत्र भी खोजना हो, तो कह सकते हैं कि वो सामाजिक संबंधों को देखने, समझने की कवि की कोशिश का नतीजा है। इस संबंध में शमशेर का ख्याल यह है कि "हमारे सामाजिक संबंधों की डोरियाँ सिर्फ शब्द या स्वर या वेशभूषा या रीतिरिवाज ही नहीं, बल्कि इन सबके मिले-जुले इतिहास की गति भी है, जिसको कि एक चित्र में, रेखा या एक सिम्फनी में संगीत का रूप दिया जा सकता है। इस ज़िंदा, प्रति दिन के, इतिहास को अपने-अपने माध्यम से हर कलाकार पकड़ता है और भरसक व्यक्त करने की कोशिश करता है।" शमशेर की कविताओं में ज़िंदा इतिहास के, सामाजिक संबंधों की डोरियों के बहुत ठोस, बहुत मूर्त चित्र हैं, तो अनेक स्थलों पर स्वाभाविक रूप से मूर्त और अमूर्त का मिश्रण भी मिलता है। 'अमन का राग' में अगर यह चीज़ बहुत स्पष्ट और एकदम मूर्त है, तो 'एक नीला दरिया बरस रहा', 'टूटी हुई, बिखरी हुई', 'होली : रंग और दिशाएँ', 'बाद 1948' जैसी कविताओं में मूर्त और अमूर्त का मिला-जुला रूप है।

अमन् का राग' जैसी स्पष्ट अर्थवाली कविता (जो विश्वशांति की उत्कट अभिलाषा की अत्यंत सक्षम अभिव्यक्ति है) डॉ. रामविलास शर्मा को यथार्थ से दूर फैंटेसी के लोक की लगती है। क्या इसलिए कि विश्वशांति अभी यथार्थ रूप ग्रहण नहीं कर सकी है? शमशेर कहते हैं, "देखो न हकीकत हमारे समय की कि जिसमें/ होमर एक हिंदी कवि सरदार जाफरी को/ इशारे से अपने करीब बुला रहा है/ - मैं शेक्सपीयर का ऊँचा माथा उज्जैन की घाटियों में झलकता हुआ देख रहा हूँ/ - और आज तो मेरा टैगोर मेरा हाफिज़ मेरा तुलसी मेरा/ गालिब/ एक-एक मेरे दिल के जगमग पावर हाउस का/ कुशल आपरेटर है" यह कितनी भव्यकल्पना है, विश्वबंधुता की यह भावना राष्ट्रीय सीमाओं को कितना तुच्छ बना देती है! एकता सिर्फ़ होमर, कालिदास, सरदार जाफरी, गालिब, तुलसी आदि की नहीं है, दुनिया की सारी जनता के एक होने का एक विलक्षण सपना है, "हम एक साथ उषा के मधुर अधर बन उठे/ सुलग उठे हैं/ सब एक साथ ढाई अरब धड़कनों में बज उठे हैं/ डॉ. आनंद की तरह यह हमारी गाती हुई एकता..."डॉ. शर्मा को इन ढाई अरब धड़कनों में सिंफोनिक आनंद की तरह बज उठने की कल्पना से रहस्यवादियों का अनहदनाद याद आ जाता है। दरअसल उनके ठोस यथार्थवादी मन को जो भावना फैंटेसी लगती है, वह शमशेर को 'अमर सपनों की हकीकत' नज़र आती है जिसे देख पाना ही अपने-आपको समझ पाना है। 'अम्न का राग' विश्वशांति की कामना की अत्यंत उदात्त अभिव्यक्ति है, जिसे शमशेर जितना सरल होकर ही समझा नजर आती है। जिसे देख इस कविता पर टिप्पणी करते हुए बतलाते हैं कि शमशेर के यहाँ काल देश में परिवर्तित होकर यूटोपिया' का निर्माण करता है और इस कविता में शमशेर की बेचैन छटपटाहट गति और प्रगति के बीच संतुलन खोजती हुई उन्मुक्त होती दिखाई पड़ती है। अमन का राग' जैसी सीधी-सरल कविता पर इतनी कुहरिल भाषा में आलोचना क्या इस कारण है कि शमशेर में अमूर्तन अधिक है?

दरअसल शमशेर की जो कविताएँ इतनी सरल नहीं हैं (जितनी 'अम्न का राग', 'ओ मेरे घर', 'संसार के चक्के पर है', आदि), वे भी 'स्वप्न-शिशु' नहीं है कि उनका अर्थ समझने की कोशिश करते ही उनका सौंदर्य नष्ट हो जाए। यह ज़रूरी है कि शमशेर की काव्य-संवेदना के केंद्रीय बिंदु को समझा जाए। 'संसार के चक्के पर हैं' नामक कविता की ये पंक्तियाँ उनकी कविताओं में पाई जाने वाली वेदना के स्वरूप को स्पष्ट करने में हमारी मदद करती है :

शरीर लड़े जा रहा, लड़े जा रहा है।
हृदय होम हो रहा है।
धरती के मनुष्य सा
निरंतर निरंतर
उसे मीठी
नींद कब
आएगी
वह नींद
जो मीठी सुबह का
उजाला लाये।
चतुर्दिक
समान रूप
उजाला।

इस धरती के मनुष्य की मीठी नींद और चतुर्दिक समान रूप उजाले का सपना ही शमशेर की कविताओं का प्राण-तत्व है। लेकिन इस भोले-भाले सपने को देख पाने के लिए तो सरल हृदयवाली आँखें चाहिएँ, जो दुर्भाग्य से बहुत कम को नसीब होती हैं। इसके साथ ही, शमशेर की जो अपनी 'टेकनीक' है, हालांकि हर जगह वह एक-सी नहीं है, उसे समझना भी ज़रूरी है। 'अमूर्त कला' शीर्षक अपने निबंध में वे कहते हैं कि जिसे हम टेकनीक या कला की अभिव्यक्ति का ढंग-ताल, छंद, तोल विन्यास का हिसाब रखना कहते हैं, वह सिर्फ जीवन की गुंजलक अनुभूतियों की गति, उसकी परछाई, उसका आभास मात्र है। इसलिए शमशेर के सामने अभिव्यक्ति के जितने ढंग मौजूद हैं, यथार्थवादी कला के और रूपवादी कला के, वे उनका महत्व समझते हुए भी खुद को उनके दायरे में नहीं बांधते।

शमशेर जीवन की अपनी खास अनुभूतियों को व्यक्त करना चाहते हैं। 'लय, गति, कंपोजीशन, संतुलन के जो रूल और कटे-छँटे उसूल हैं, उनके अलावा भी बहुत से हैं, जिन्हें हर नया कलाकार खोजता है, जो शायद पहले भी ज्यादा लचीले, नाजुक और मार्मिक हैं।' ऊपर जिन कविताओं का हवाला दिया गया है, उनमें अपनी अन्य कविताओं की तरह ही, शमशेर इस लचीलेपन, नज़ाकत और मार्मिकता की खोज करते दिखाई देते हैं। 'टूटी हुई, बिखरी हुई' जैसी कविता या 'एक नीला दरिया बरस रहा' में उनकी छोटी कविताओं की तरह कोई एक केंद्रीय भाव, या मात्र किसी एक अनुभूति का चित्र नहीं है। डॉ. नामवर सिंह और अशोक वाजपेयी से बात करते हुए शमशेर ने इन्हीं कविताओं के संदर्भ में कहा, 'जब मैं लिख रहा हूँ तो अनुभूतियों का जो पुंज है वह अपने-आप में ऐसा रूप ले रहा है जो काव्यात्मक है।' जिस अजीब-से नियम से कविता उनके यहाँ रूप ग्रहण करती है, उसका अंदाज़ा कुछ-कुछ इस तथ्य से हो सकेगा कि 'टूटी हुई, बिखरी हुई' दरअसल शमशेर की डायरी थी, जिसे जब नामवरजी ने देखा तो उन्हें अचानक लगा कि यह तो कविता है। लेकिन इस तरह की कविता को पढ़ते समय हम अक्सर उलझ जाते हैं क्योंकि हमको ऊपर से नीचे तक किसी एक भाव का विस्तार या व्याख्या होती दिखाई नहीं देती। शीर्षक की तरह ही कविता टूटी हुई लगती है। इसे स्पष्ट करते हुए भी इसी बातचीत में शमशेर बताते हैं, '... मेरे मिज़ाज़ में और कविता के निर्माण मे भी यं गजलका शेर है इसका बहुत हाथ है। यह एक अनुभूति की इकाई है और कई अनुभूतियाँ एक के बाद ऐसी चली आती हैं - वह सिलसिला कहीं न कहीं सबकांशस में

होता है।' जैसे ग़ज़ल में होता है, एक शेर यानी एक भाव-संकेत, फिर दूसरा शेर - दूसरा भाव - संकेत और यह सिलसिला चलता है।

शमशेर का उर्दू-संस्कारों में रचा-बसा कवि मानस हिंदी कविता में इस रूपाकार को एक विलक्षण अंदाज़ देता है, यह ऊपर की कविताओं को ध्यान से पढ़कर समझा जा सकता है। वे स्पष्ट करते हैं, ' ... यह जो लिखा है, वह ग़ज़ल के अलग-अलग शेर की तरह है। 'टूटी हुई बिखरी हुई' में जो अलग-अलग पैराग्राफ हैं न, छोटे-बड़े, इनका अंदाज़ भी गज़ल जैसा है।' अलग-अलग अनुभूतियों के संकेतों के पुंज के रूप में अगर यह कविता पढ़ी जाए, तो अलग ही असर छोड़ती है। इसका अंत बहुत अर्थपूर्ण है :

बहुत-से तीर बहुत-सी नावें बहुत-से पर
इधर
उड़ते हुए आए, घूमते हुए गुजर गए
मुझको लिए, सबके सब। तुमने समझा
कि उनमें तुम थे। नहीं, नहीं, नहीं।
उनमें कोई न था। नहीं, नहीं, नहीं।
उनमें कोई न था। सिर्फ बीती हुई
अनहोनी और होनी की उदास
रंगीनियाँ थीं। फ़क़त।

जो उनके जीवन में गुज़र चुकी हैं, ऐसी अनहोनी और होनी की, सबकी अलग-अलग अभिव्यक्ति उनके यहाँ है। डॉ. शर्मा को यह कविता रुग्ण मन की उपज लगी थी। अनेक बार उनकी बात मानकर अपने मन को स्वस्थ और शुभ की ओर मोड़ने के लिए उनकी पसंद के विषयों पर कविता लिखने वाले शमशेर को ऐसा नहीं लगा। इस कविता के एक-दो टुकड़े आप भी देखिए और खोजने की कोशिश कीजिए कि रुग्णता कहां है। स्नेह और प्रेम से ओतप्रोत हृदय का यह भीगा हुआ स्वर :

मेरी बाँसुरी है एक नाव की पतवार
जिसके स्वर गीले हो गए हैं,
छप्-छप्-छप् मेरा हृदय कर रहा है
छप् छप् छप्।
ठुकराए हुए प्रेम के बीच उसकी भीषण अभिलाषा
मुझको प्यास के पहाड़ों पर लिटा दो जहाँ मैं
एक झरने की तरह तड़प रहा हूँ।
मुझको सूरज की किरनों में जलने दो
ताकि उसकी आँच और लपट में तुम
फौवारे की तरह नाचो।

या प्रेम का एक पूरा दर्शन :

हाँ, तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मछलियाँ
लहरों से करती हैं
जिनमें वह फँसने नहीं आतीं,
जैसे हवाएँ मेरे सीने से करती हैं
जिसको वह गहराई तक दबा नहीं पाती,
तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मैं तुमसे करता हूँ।

यह समझना मुश्किल है कि इन पंक्तियों में रुग्ण मन की अभिव्यक्ति किस तरह और कहाँ है! डॉ. शर्मा के मुकाबले शमशेर की दुनिया के इस टूटे-बिखरेपन को ज्यादा सही ढंग से अशोक

वाजपेयी ने समझा है, "उनकी दुनिया 'टूटी हुई, बिखरी हुई' है, पर अपनी सुंदरता और अर्थमयता में मुकम्मल, उसमें टूटे बिखरे हुए - से ही अपनी सजग, पर सहज, संयमित, पर तनाव भरी मानवीयता को सहेजने और हम तक पहुँचाने की संकोच और संदेह भरी चेष्टा है।" दरअसल शमशेर के इस संकोच और संदेह को निधड़क सत्य - भाषण करने वाले एक रोगजनित कमज़ोरी मानते हैं।

'एक नीला दरिया है बरस रहा' इस शिल्प की एक कविता है, जिसके बीच में ये पंक्तियाँ आती हैं:

इसमें और कुछ नहीं।
कोई संगीत नहीं। केवल प्रलाप
केवल तम।
केवल प्रलाप। केवल मैं आप आप।
अनाप शनाप।

श्रीकांत वर्मा को ऐसा लगता है कि शमशेर ने इस कविता में प्रलाप की सीमा तक पहुँचकर अभिव्यक्ति की। ज़ाहिर है, उन्हें समझने में कठिनाई हुई कि इस कविता में आखिर शमशेर कहना क्या चाहते हैं, उनके ठीक पहले के इस हिस्से को देखिए, उससे मिलाकर ऊपर की पंक्तियों को पढ़िए और देखिए कि इनमें कोई अर्थ है या नहीं, या शमशेर ने मात्र प्रलाप किया है :

समय के
चौराहों के चकित केंद्रों से
उद्‌भूत होता है कोई 'उसे व्यक्ति
कहो'
कि यही काव्य है।
आत्मतम।
इसीलिए उसमें अपने को खो दिया
जाना गवारा करता हूँ
क्योंकि वहाँ मेरा एक महीन युग-भाव है
वहीं-शायद मेरे लिए - मात्र। शायद
मेरे ही अनेक बिंबों के लिए मात्र।
जिन्हें मेरे पाठक कहा जाए मात्र।

इतिहास के घटनाक्रम के बीच अचानक बन गए केंद्रों में जो व्यक्ति होता है, उसे ही अभिव्यक्ति देना शमशेर का उद्देश्य है। उस व्यक्ति में अपने-आपको खो दिया जाना उन्हें इसलिए मंजूर है कि उसमें एक सूक्ष्म-युग-भाव है जो उनके अपने पाठकों को छोड़ और किसी को शायद ही दिखे। उस व्यक्ति की आशा, आकांक्षा, उसकी पीड़ा, उन्हीं 'क्षणिक समर्थताओं' को ही वे 'आत्मतम काव्य' कहते हैं। वे ऐसी ही कविता लिखना पसंद करते हैं क्योंकि प्रचलित धारणा के विपरीत वे इन्हीं वैयक्तिक अनुभूतियों के अंदर अपने ज़माने के भावों की अभिव्यक्तियाँ देख पाते हैं। पर उनके लिए यह बात जितनी स्पष्ट है, उतनी औरों के लिए नहीं। इसलिए वे आगे मात्र 'मेरे पाठक' जिन्हें कहा जा सकता है, उनके लिए अपने को सार्थक मानते हैं।

अत्यंत स्पष्ट विचारों, युगानुकूल भावों और चित्रों के आग्रही लोगों के लिए तो इस तरह की कविता में कोई सुसंगत, सार्थक विचार नहीं मिलते, इसलिए वे उसे केवल 'प्रलाप' मानते हैं। कविता के अंत में पाठकों के लिए एक चुनौती भरा आमंत्रण भी है। पश्चिम और पूर्व की मिलन सीमा जिनमें दिखलाई पड़ती हो, ऐसी भाषाओं के फोनेमिक्स के पैमाने में इस शराब से:

नशा मुझे नहीं होता। नहीं होता
मुझे पीने वालों को
होता
है-मेरी कविता को
अगर वो उठा सकें और एक घूँट
पी सकें।

डॉ. शर्मा जैसे लोग समझते हैं कि अपने रुग्ण स्वप्नजीवी मन में अस्फुट-सी बुद्-बुद् में विभोर होकर कुछ अविकसित-सी फुसफुसाहट ही शमशेर की कविता है, जैसे नशे में डूबा कोई शराबी कुछ बक रहा हो, जिसमें कोई सार्थक क्रम नहीं होता। कई लोग तो उसमें अर्थ की संभावना से उसके अस्तित्व की समाप्ति ही देखते हैं। इन लोगों के लिए उस पैमाने की कल्पना का पाना असंभव है, जो शमशेर के हाथों में है। कितना विशाल पैमाना है वह - पूर्व और पश्चिम की मिलन सीमा को ध्वनित करती भाषाओं के 'फोनेमिक्स' का पैमाना! प्रेम करती भाषाओं के 'फोनेमिक्स' का पैमाना! प्रेम और एकता की यह विराट् संवेदना 'गिन्सबर्ग के लिए' शीर्षक कविता में भी देखी जा सकती है :

हमारे बीच कोई सीमा-रेखा नहीं
सिवाय सितारों के पहाड़ों के
बहारों-त्योहारों के
कोई सीमा-रेखा नहीं।
भाषा? हिश्त!
हम होठों में उछलता रक्त हैं हृदय में
आँसू और शराब शरारत हँसी
हम उपहास हैं सीमा-रेखाओं के-हम
लहरें भाषाओं के आर-पार

अलग-अलग प्रदेशों और मुल्कों के लोगों को अलग करने वाली जो रेखा है, वह भी यहाँ निषेधात्मक न होकर कितनी आकर्षक है। यह राष्ट्रीय या देशीय सीमा अलग-अलग त्योहारों की, अलग-अलग तरह के पहाड़ों की, बहारों की है। जाहिर है यह सीमा-रेखा अलग करने से ज्यादा जोड़ने का काम करती है। इन पंक्तियों में भी शराब है। पर इस शराब के नशे की उनकी व्याख्या देखने लायक है, "चाहे जो कला हो, उसमें एक खास तरह का नशा होता है, जोकि दूसरों पर भी छा जाता है, कमोबेश। और हर कलाकार अपनी कला के एक खास तरह के नशे का आदी हो जाता है। सिर्फ चोटी के महान् कलाकार भी अपनी रचना में एक नहीं बहुत तरह के कलात्मक नशों का समावेश कर सकने की क्षमता रखते हैं, और उन नशों पर उनका अधिकार होता है, और उन नशों से वे अपने देश और युग को झुमा देते हैं।" शमशेर को अपनी क्षमता पर यकीन है, इसीलिए वे कह पाते हैं कि "नशा मुझे नहीं होता।" इस नशे में वे ही झूम सकते हैं जो उनकी कविता का जाम उठाने की कूवत रखते हों।

शमशेर की कविता क्रमशः सरलता और बोधगम्यता की ओर बढ़ती चली गई है। वैसे, सादगी शुरू से ही उनका आदर्श रही है। उनके अंतिम संग्रह 'काल तुझसे होड़ है मेरी' की अनेक कविताओं में इस सादगी के अनुपम उदाहरण देखे जा सकते हैं। इस संग्रह की एक कविता की इन पंक्तियों में सादगी का यह रूप देखते ही बनता है, "अब/ जबकि हम उस उम्र को आ पहुँचे हैं/ जिसमें कि/ देखो न/ प्रेम के मानी हैं कुछ और/ दोस्त-इन्सान के मानी हैं कुछ और/ और तकरीबन हर चेहरा जब कि/ अपना ही नज़र आवे है/ क्या कहें उसमें तब-/ रूमान के मानी क्या हैं/ इंसान के मानी क्या हैं/ और यह भी कि खुदा क्या है ईश्वर क्या है वगैरा - सरलता के इस धरातल पर पहुँचना, जब हर चेहरा अपना ही नज़र आए, तभी संभव है जब व्यक्तित्व का विस्तार कुछ इस कदर हो जाए कि :

अपनी भाषा तो भूल ही गया जैसे
चारों तरफ की भाषा ऐसी हो गई
जैसे पेड़ पौधों की होती है,
नदियों में लहरों की होती है।
यह विस्मृति गहरी आत्म-सजगता के बिना संभव नहीं।

शमशेर बहादुर सिंह की कविताओं को सरल कहने पर हैरत हो सकती है। दरअसल उनकी कविता के पाठक बनने के लिए ज़रूरी है कि कविता से आनंद प्राप्त करने की जितनी विधियाँ बन चुकी हैं, उन सबसे मुक्ति प्राप्त की जाए। यह अभी संभव नहीं हो सका है, क्योंकि हम कितने ही दावे क्यों न कर लें, प्रत्येक कवि को उसके व्यक्तित्व की अपने ढंग से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता देने को तैयार नहीं हैं। हम उसे उसकी शर्त पर नहीं, अपनी शर्त पर ही स्वीकार करना चाहते हैं। जबकि शमशेर उस पाठक से मुलाकात के मुतजिर हैं, जिससे लम्हा भर की मुलाकात हो, तो वह उन्हें परस्पर निर्भर बनाकर फिर मुक्त कर दे। यह प्रक्रिया ऐंद्रजालिक नहीं है और सम्मोहन की तो कतई नहीं। इसमें एक दूरी की भी अपेक्षा है। अपने नज़रिए के साथ-साथ कवि के नज़रिए को महत्व देना भी ज़रूरी है।

उर्दू के आलोचक डॉ. मोहम्मद हसन ने उन्हें और उनकी सरलता को कहीं ज्यादा अच्छे ढंग से समझा। वे कहते हैं कि शमशेर एक ऐसा शायर है, "... जो अपनी दुनिया में बहुत कुछ ढूँढ़ रहा है। उसकी अपनी उदासियाँ हैं, उसका अपना खरापन है और अपने दर्द, दुख, अपने जख्म और अपनी पीड़ा के द्वारा अपने को पहचानना चाहता है।" उनकी शायरी एक ऐसे व्यक्तित्व की पहचान (है) जो चाहत के अनंत क्षितिज और उपलब्धियों की सीमाओं के बीच की टकराहट की आवाज़ उनके यहाँ इश्क की अवधारणा में रूपायित हुई है। क्योंकि शमशेर के यहॉ इश्क महज एक वासना नहीं है। उनका दुख बिल्कुल निजी और जाती होने पर भी केवल निजी और जाती नहीं है बल्कि उसके पीछे कास्मिक दर्द की गूँज सुनाई पडती है। डॉ. हसन लिखते हैं कि उनकी 'बुनियादी थीम' वो तड़प है जो महबूब के नाम के साथ जुड़ी हुई है। यह अलग बात है कि बाद में चलकर उसमें दुनिया के दुख और दर्द भी शामिल हो गए जो अंततः पूरी ज़िंदगी से पैदा होने वाली चेतना से बावस्ता है। शमशेर की कविता में इस तडप और दर्दमंदी से पैदा होने वाली इंसानियत की आवाज़ हर तरफ जगमगाती है।"

10.4 सारांश

- शमशेर के अनुसार कलाकार जीवन के किसी जाहिरी रूप को अभिव्यक्त नहीं करता, वह उसके कलात्मक रूप को अभिव्यक्त करता है।
- शमशेर को मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी मानते हुए भी उन्हें आत्मपरक कवि कहा गया है क्योंकि उनकी कविताओं में सामाजिक विषयों का फैलाव नहीं है। जीवन के छोटे-छोटे सुखःदुख, विचार, भाव, मनःस्थितियाँ उनके काव्य का विषय बनती हैं लेकिन जिन्हें वे उनके पूरे संदर्भों में रख कर चित्रित करते हैं।
- शमशेर की कविताओं का मूलभाव अकेलापन है। अकेलापन, अवसाद, दुख अंधेरा उनकी कविताओं में खूब आता है किंतु, अति तीव्र जाग्रत चेतना के साथ जिसमें समस्त इंद्रियाँ प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करने लगती हैं।
- मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से शमशेर बहुत प्रभावित हुए। वे मानते थे कि जीवन को समझने के लिए मार्क्सवाद ज़रूरी है। किंतु मार्क्सवादी प्रभाव का प्रतिफलन उनके नज़रिये में ही हुआ, व्यापक सामाजिक विषयों की ओर उन्मुख होने में नहीं हालॉकि अकेलेपन के भाव का उनमें लोप हो गया और मनुष्य और समाज उनकी कविता में एक नयी उमंग, उम्मीद और उल्लास के साथ आए। मार्क्सवाद से समाज में अकेले व्यक्ति की जगह को उन्होंने पहचाना, इतिहास के अंग के रूप में व्यक्ति किस प्रकार चारों ओर से संबद्ध है, चाहे-

अनचाहे - इस सत्य का उन्हें आभास हुआ। और इस सबका असर उनकी रचना पर पड़ा इसने जीवन और उसके सौंदर्य के प्रति उनकी आस्था को दृढ़ किया।

- शमशेर की सौंदर्य संवेदना का विस्तार प्रकृति, मनुष्य से लेकर मानवीय भावों तक है। प्रकृति उनके काव्य में यथार्थवादी ढंग से अंकित नही होती। अभिव्यक्त प्रकृति-चित्र में उनका मन इस कदर घुला-मिला रहता है कि यह बता पाना कठिन होता है कि प्राकृतिक दृश्य मन पर असर डाल रहा है या कवि का मन ही प्रकृति को अपने ख्यालों के रंग में निहार रहा है।

- इसी प्रकार प्रेम और सौंदर्य भी शमशेर के लिए उन अर्थों में प्रेम-सौंदर्य नहीं है जिन अर्थों में शृंगारवादी उसे मानते हैं या मार्क्सवादी उसे नकारते हैं। शमशेर के लिए कला में खिलने वाला प्रेम का कँवल अपरिमित विस्तार रखता है, और इसी व्यापकता में वह सौंदर्य की सृष्टि भी करता है। नारी सौंदर्य के जो दो-चार चित्र उन्होंने खीचे है उनमें भी शमशेर का लक्ष्य नारी नहीं बल्कि उस सौंदर्य में शारीरिक मुद्राओं का आकर्षण और उनका कलात्मक चित्रण है।

- शमशेर को समझने में रचनाकारों, आलोचकों को दिक्कत होती रही है क्योंकि जीवन को, यथार्थ को खंड-खंड देखने की जो प्रवृत्ति है वह हमेशा बाधा का काम करती है। शमशेर का मानना है कि 'हमारे सामाजिक संबंधों की डोरियाँ सिर्फ शब्द या स्वर या वेशभूषा या रीतिरिवाज़ ही नहीं, बल्कि इन सबके मिले-जुले इतिहास की गति भी है, जिसको कि एक चित्र में, रेखा में या सिम्फनी में संगीत का रूप दिया जा सकता है। इस जिंदा, प्रतिदिन के इतिहास को हर कलाकार अपने-अपने ढंग से पकडता है और भरसक व्यक्त करने की 'कोशिश करता है'। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि शमशेर को समझने की कुंजी यही है।

10.5 प्रश्न

1. शमशेर की जीवनदृष्टि और कला दृष्टि की व्याख्या कीजिए।
2. शमशेर की निजभाव की कविताओं की विशेषताएँ बताइये।
3. शमशेर के काव्य में मनुष्य और समाज किस रूप में आते हैं, विवेचना कीजिए।
4. शमशेर के काव्य को समझने के लिए कैसी तैयारी की ज़रूरत है?
5. शमशेर के काव्य का मूल स्वर क्या है?

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या	:	रामस्वरूप चतुर्वेदी
अज्ञेय : एक अध्ययन	:	भोलाभाई पटेल
अज्ञेय	:	रमेशचन्द्र शाह
अज्ञेय का संसार : शब्द और सत्य	:	अशोक वाजपेयी (सं.)
अज्ञेय	:	विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (सं.)
तार सप्तक	:	सं. अज्ञेय
दूसरा सप्तक	:	सं. अज्ञेय
तीसरा सप्तक	:	सं. अज्ञेय
अज्ञेय की काव्यतितीर्षा	:	नन्दकिशोर आचार्य
अज्ञेय की कविता	:	चन्द्रकांत वांदिवाडेकर
आत्मनेपद	:	अज्ञेय
कविता के नये प्रतिमान	:	नामवर सिंह
आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ	:	नामवर सिंह

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAHI-112
छायावादोत्तर काव्य

खंड

3

नयी कविता-II

इकाई 11 अपने समय के आर-पार देखता कवि : रघुवीर सहाय	189
इकाई 12 रघुवीर सहाय का काव्य-शिल्प	205
इकाई 13 श्रीकांत वर्मा और उनकी कविता	217
इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें	

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी
गुरूनानक देव
विश्वविद्यालय, अमृतसर
प्रो. गोपाल राय
सी-3, कावेरी, इग्नो आवासीय
परिसर, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली
प्रो. नामवर सिंह
32-ए, शिवालिक अपार्टमेंट
अलकनंदा, नई दिल्ली
प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो. निर्मला जैन
ए-21, /17, कुतुब एन्क्लेव, फेज़-1,
गुड़गाँव, हरियाणा
प्रो. प्रेम शंकर
बी-16, सागर विश्वविद्यालय
परिसर, सागर
प्रो. मुजीब रिज़वी
220, ज़ाकिर नगर
नई दिल्ली
प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
3, बैंक रोड, इलाहाबाद
प्रो. लल्लन राय
3, प्रीत विला, समर हिल
शिमला
प्रो. शिवकुमार मिश्र
एफ-17, मानसरोवर पार्क कालोनी
पंचायती हॉस्पिटल मार्ग,
वल्लभ विद्यानगर, गुजरात
स्व. शिव प्रसाद सिंह
प्रो. सूरजभान सिंह
आई-27, नारायणा विहार
नई दिल्ली
संकाय सदस्य
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
डॉ. जवरीमल्ल पारख
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. विमल खांडेकर

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

इकाई लेखक	इकाई संख्या	पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. चंचल चौहान नई दिल्ली	24 एवं 25	डॉ. राकेश वत्स **संपादक**
डॉ. अपूर्वानंद महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय नई दिल्ली	26	प्रो. लल्लन राय

सामग्री निर्माण

श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू नई दिल्ली
कैमरा रेड्डी कॉपी निर्माण
श्री नरेश कुमार
आवरण
श्री सांख्या सामंत

मार्च, 2003 (पुर्नमुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2000

ISBN- 81-266-0017-9

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खंड परिचय

'आधुनिक हिंदी कविता' पाठ्यक्रम का यह छठा एवं अंतिम खण्ड है। यह खण्ड भी 'नयी कविता' पर आधारित खंड है जिसमें आप रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा का अध्ययन करेंगे। रघुवीर सहाय पर इस खंड में दो इकाइयाँ हैं और श्रीकांत वर्मा पर एक इकाई। रघुवीर सहाय पर पहली इकाई में उनके काव्य की विषय वस्तु के विविध आयामों का विश्लेषण किया गया है। अपने समय और समाज को कवि किस दृष्टि से देखता है, उसकी रचना की पक्षधरता किस के प्रति है, उसकी कविता के वैचारिक आयाम क्या और कौन-कौन से हैं - इन सब मुद्दों पर इस इकाई में विचार किया गया है। रघुवीर सहाय पर दूसरी इकाई उनके काव्य शिल्प से संबंधित है। रघुवीर सहाय नई कविता में उन कवियों में से हैं जिन्होंने काव्य भाषा को सृजनात्मकता के धरातल पर नये आयाम दिए हैं। पत्रकारिता की भाषा को सृजनात्मक भाषा में ढालते हुए, नये छंद, नयी लय, नये शब्दों के प्रयोग और कथन को उन्होंने बहुत गंभीरता से लिया है किंतु काव्यतत्व की सारी संभावनाओं को उजागर करने के लिए ही वे रूपवादी नहीं थे और काव्यशिल्प की बारीकियाँ ही उनका लक्ष्य नहीं था।

श्रीकांत वर्मा के काव्य पर आधारित इकाई में उनके काव्य की सभी प्रमुख विशेषताओं को विश्लेषित करने का प्रयत्न किया गया है। श्रीकांत वर्मा नई कविता के एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने राजनीतिक जीवन को उसके बीच जाकर, एक सक्रिय कार्यकर्त्ता की हैसियत से जिया है और अभिव्यक्त किया है। उनकी कविताएँ राजनीति की भीतरी दुनिया, राजनीति, समाज में व्याप्त ह्रासपरक प्रवृत्तियों को बहुत तीखे स्वर में अभिव्यक्ति देती हैं। इतिहास को माध्यम बनाकर वे आधुनिक जीवन की विषमताओं, लगातार छोटे होते जा रहे मनुष्य की विडम्बना, को अपने काव्य का विषय बनाते हैं। इतिहास और वर्तमान का द्वंद्व उनके काव्य में काफी मुखर होकर अभिव्यक्त हुआ है। श्रीकांत वर्मा की कविता उनके जीवन संघर्ष, रचनात्मक संघर्ष के साथ-साथ एक ऐसे मनुष्य के संघर्ष की भी साक्षी है जो अपने मनुष्य होने को बचाए रखने के संघर्ष नें रत है।

इकाई 11 अपने समय के आर-पार देखता कवि : रघुवीर सहाय

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 रघुवीर सहाय की कविता : विचारवस्तु के विविध आयाम
  11.2.1 समय की अवधारणा
  11.2.2 कविता का वैचारिक आयाम
  11.2.3 रचनात्मक लक्ष्य : जन पक्षधरता
  11.2.4 नारी के प्रति दृष्टिकोण
  11.2.5 रघुवीर सहाय की कविता : कुछ वैचारिक सीमाएँ
11.3 सारांश
11.4 प्रश्न

11.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- रघुवीर सहाय की कविता की मुख्य विशेषताओं को जान पाएँगे,
- उनके काव्य में विचारवस्तु किन-किन रूपों में अभिव्यक्त हुई है, यह समझ सकेंगे,
- समाज, राजनीति, नारी, निम्न-उच्च वर्ग के प्रति, रघुवीर सहाय का क्या दृष्टिकोण रहा है, इसे रेखांकित कर सकेंगे,
- उनकी रचना का लक्ष्य क्या रहा है, इसे जान पाएँगे, तथा
- उनकी वैचारिक सीमाओं को भी रेखांकित कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

रघुवीर सहाय नयी कविता के महत्वपूर्ण कवियों में से एक हैं। इनकी कविताएं एक्सरे की तरह आने वाले समय का पूर्वाभास कर यथार्थ को बेबाकी से हमारे सामने प्रस्तुत कर देती हैं। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पाएँगे कि रघुवीर सहाय की कविता में विचार वस्तु अपनी कितनी विविधता में और वैचारिक स्पष्टता में सत्य बन कर उभरती है। रघुवीर सहाय ने काव्य कला में अपना रास्ता स्वयं बनाने का सफल प्रयास किया। पत्रकारिता की भाषा को सर्जनात्मक भाषा में बदलने का संघर्ष उनकी कविताओं की सफलता में साफ दिखाई पड़ता है। उनकी कविताएँ विज़न में बाज़दफा इतनी व्यापकता और गहराई समेटती जान पड़ती हैं और भोंथरे, घिस चुके यथार्थ को प्रकाश की चकाचौंध की तरह आंखों के सामने ला खड़ा करती हैं। इन विशेषताओं को इस इकाई के अध्ययन के बाद आप रेखांकित कर पाएँगे। तो आइये रघुवीर सहाय की कविता में विचार वस्तु के विविध आयामों से हम अपनी बात शुरू करें।

11.2 रघुवीर सहाय की कविता : विचारवस्तु के विविध आयाम

रघुवीर सहाय ने दूसरा सप्तक में दिये गये अपने वक्तव्य में कहा था कि 'विचारवस्तु का कविता में खून की तरह दौड़ते रहना कविता को जीवन और शक्ति देता है, और यह तभी संभव है जब हमारी कविता की जड़ें यथार्थ में हों।' (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 38) जिस तरह यथार्थ के विविध आयाम होते हैं, उसी तरह यथार्थ को आधार बनाने वाली कविता भी

बहुआयामी हो जाती है। रघुवीर सहाय इस मर्म को जानते थे। इसीलिए वे ऐसे रचनाकार के रूप में उभरे जिसने कविता की विचारवस्तु को अपने समय और समाज के यथार्थ से तो जोड़ा ही, वे अपने समय के आर-पार देख पाने में भी समर्थ हुए। रघुवीर सहाय को जब हम 'समय के आर-पार देखता हुआ कवि' कहते हैं तो उनकी विचारवस्तु में सबसे पहले उनकी समय की अवधारणा पर विचार करना उचित होगा।

11 .2.1 समय की अवधारणा

समय के बारे में रघुवीर सहाय की एक अवधारणा उनके लेखकीय विकास के प्रारंभिक चरण में ही मिलती है। 'सीढ़ियों पर धूप में' में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है :

> रचना के लिए किसी न किसी रूप में वर्तमान से पलायन आवश्यक है। कोई-कोई ही इस पलायन को सुरुचिपूर्वक निभा पाते हैं अधिकतर लोग अतीत के गौरव में लौट जाने क़ी भद्दी गलती कर बैठते हैं और यह भूल जाते हैं कि वर्तमान से मुक्त होने का प्रयोजन कालातीत होना है, मृत जीवन का भूत बनना नहीं। (पृ. 192-93)

समय के आर-पार देखने की यानी कालातीत होने की यह लेखक़ीय चाह रघुवीर सहाय के काव्य में भी व्यक्त होती है। इसका एक काव्यात्मक प्रयास उनकी 'घड़ी' श्रृंखला की तीसरी कविता में देखने को मिलता है :

> घड़ी नहीं कहती है 'डिग' जा अपने पथ से
> डिग जाने पर घड़ी नहीं कहती है 'धिक'
> और यह तो वह कभी नहीं कहती है, साथी 'ठीक' है
> वह कहती है टिक-टिक-टिक-टिक-टिक-टिक-टिक
> और टिक-टिक-टिक-टिक
> और टिक-टिक
> और टिक
> और टिक
> और टिक
> टिक्। (घड़ी-3, रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 81)

यहाँ जो 'टिकने' की टेक है, वह सिर्फ ध्वनियों का खेल नहीं है, बल्कि वह मेटाफिजिकल अहसास है जिसके बगैर बड़ी कविता, बल्कि कोई भी रचनात्मक कर्म संभव नहीं है। गौतम बुद्ध के सामने भी तो यही सवाल खड़ा हो गया था कि क्या समय के आगे टिक पाना किसी भी तरह संभव नहीं है। राजकुमार के रूप में जब उन्होंने वृद्ध पुरुष को या शव को देखकर जो प्रतिक्रिया की थी, वह उनके कालबोध की सूचक थी। उनकी उस अकुलाहट ने ही उन्हें दार्शनिक स्तर पर टिक पाने की राह सुझायी। महाभारत में प्यासे युधिष्ठिर को यक्ष के हाथों मारे गये भाइयों को जीवित कराने के लिये यक्ष की जिस प्रश्नमाला के उत्तर देने पड़े, उसमें एक प्रश्न, 'किमाश्चर्यम्', के उत्तर में इस टिकने या स्थायित्व की लालसा को ही युधिष्ठिर ने रेखांकित किया :

> अहनि अहनि भूतानि गच्छंति यममंदिरम्।
> शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्।।

इस 'स्थिरत्व की इच्छा या समय के आर-पार जाने की इच्छा आधुनिक संदर्भ में समाज से जुड़े बगैर संभव नहीं, यह आध्यात्मिकता के मकड़जाल में फंसे किसी अज्ञेय या एलियट की तरह की विचारसरणि भी नहीं जो संसार और समाज को भवसागर समझ कर उससे मुक्ति में अमरता की खोज करते रहे, जैसा कि अज्ञेय के 'उछली हुई एक मछली' के बिंब या 'एक बूंद सहसा उछली' के बिंब में दिखती है। रघुवीर सहाय जानते थे कि अमरता जनसमाज ही प्रदान करता है और काल पार जाने के लिए अपने देश और समाज के अतीत, वर्तमान और

भविष्य की चिंता करना संवेदनशील रचनाकार के बौद्धिक जीवन का अनिवार्य हिस्सा है। रघुवीर सहाय की एक कविता, 'भविष्य' इस चिंता का इज़हार करती है :

सब कुछ लिखा जा चुका है अतीत में
यह आकर मत कहो मुझसे पंडितजनों
एक बात अभी लिखी नहीं गयी बाकी है
होने को भी बाकी लिखी जाय या न जाय
वह तुम जानते हो क्या?...

यह जो समझ है इतिहास की भ्रष्ट है
यह अत्याचार को शाश्वत रखने की
अन्यायी भाषा है कि जिसके प्रतिष्ठान में विद्या बंद है
विद्या जो मुक्त हमें करती है वह विद्या
(लोग भूल गये हैं, रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 212-13)

11.2.2 कविता का वैचारिक आयाम

समय के आर-पार देखने के लिए एक 'विज़न' या विचारधारात्मक दृष्टि की ज़रूरत पड़ती है। रघुवीर सहाय ने अपने श्रम और प्रतिभा से उस 'विज़न' या उस 'विद्या' को हासिल किया था जो हमें मुक्त करती है। जिस तरह आज़ादी के दौर में वे ही रचनाकार महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर पाये जो अपने समय के शासक-शोषक वर्गों की सही पहचान रखते थे। भारत की आज़ादी और भारतीय समाज के वर्गीय गठन की जितनी गहरी पहचान जिस लेखक को थी, भारतीय जीवन को जितनी गहराई से जो लेखक जानता था, वह उतनी ही शिद्दत के साथ मुक्ति के एजेंडे के लिए प्रतिश्रुत था। मुंशी प्रेमचंद इसीलिए ऐसे रचनाकार बन पाये क्योंकि उन्होंने लगातार श्रम करके एक ऐसा 'विज़न' हासिल किया, जिससे वे सही 'मुक्तिमार्ग' तक पहुंचने में सफल हुए। ऐसे रचनाकार ही वर्तमान को अतिक्रमित करके भविष्य के व्याख्याता भी बन पाते हैं। मुक्तिबोध में इसी तरह एक 'विज़न' विकसित हुआ था, जिसकी वजह से वे अपने वर्तमान की सही व्याख्या करने में सक्षम तो हुए ही, भविष्य का एक स्वप्न भी दे गये, जिसे साकार किया जा सकता है। वैज्ञानिक विश्वदृष्टि के आधार पर वे ऐसे सत्य वचन लिख गये जिन्हें हम अपने समय में भी अपने आसपास घटित होते देख चुके हैं। 'एक स्वप्न कथा' में इसी विश्वदृष्टि या 'विजन' से 'स्फूर्तिमय भाषा प्रवाह में/ जगमगा उठते हैं भिन्न भिन्न मर्म केंद्र/ सत्यवचन/ स्वप्न दृग कवियों के तेजस्वी उद्धरण/ संभावी युद्धों के भव्य क्षण आलोड़न/ विराट चित्रों में/ भविष्य आस्फालन/ जगमगा उठता है।' (मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ. 263)

रघुवीर सहाय ने भी अपने समय और समाज को काफी गहराई में उतर कर देखा था। उन्होंने लिखा है, 'समाज की समझ का मतलब है, समाज में मनुष्य और मनुष्य के बीच जितने गैर इंसानी रिश्ते हैं उनकी समझ कहाँ से वे पैदा होते हैं, इसकी समझ और उनकी जड़ों तक पहुंच इतिहास की समझ।' (लिखने का कारण, पृ. 158) वे यह भी मानते थे कि 'अगर इंसान और इंसान के बीच एक गैरबराबरी का रिश्ता है और उस रिश्ते को कोई आदमी मानता है कि ऐसे ही रहना चाहिए, तो वह कोई रचना नहीं कर सकता। (वही, पृ. 147) उन्होंने आज़ादी के बाद के भारतीय समाज में नाबराबरी के सामंती मूल्य को बहुत ही सूक्ष्मता से पहचाना था क्योंकि नाबराबरी की चेतना बने रहने से लोकतंत्र या जनवाद विकसित नहीं हो सकता, बल्कि अधिनायकवाद के पनपने के लिए ज़मीन तैयार होती है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' संकलन में एक कविता, 'अधिनायक' इसी ओर संकेत करती है :

राष्ट्रगीत में भला कौन वह
भारत भाग्य विधाता है
फटा सुथन्ना पहले जिसका
गुन हरचरना गाता है

कौन कौन है वह जनगण मन
अधिनायक वह महाबली
डरा हुआ मन बेमन जिसका
बाजा रोज़ बजाता है। (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 111)

अपने समय में इस अधिनायक को उन्होंने ठीक ही सत्ताधारी कांग्रेस के नेतृत्व में देखा था क्योंकि वह मनुष्य और मनुष्य के बीच बराबरी लाने के बजाय अमीर को और अधिक अमीर व गरीब को और गरीब बनाने के पूंजीवादी रास्ते पर चल रही थी। सामंतवाद का खात्मा करने के बजाय उसने भूस्वामी वर्ग से भी समझौता कर रखा था। सुरेश शर्मा ने बिल्कुल सही कहा है कि 'हिंदुस्तान में घट रहे वर्तमान आत्यंतिक अत्याचारों के पीछे पूंजीवाद और सामंतवाद का सम्मिलित चेहरा है। रघुवीर सहाय अपने कविकर्म से इस चेहरे पर प्रहार करते हैं।' (रघुवीर सहाय का कविकर्म, पृ. 132) रघुवीर सहाय ने साठ के दशक में कांग्रेस के नेतृत्व के बारे में चुटकी लेते हुए भारत के सत्ताधारी वर्गों के वर्गचरित्र की असलियत खोल दी थीं, उस 'जनगण मन अधिनायक' की व्याख्या एक कविता में यों कर दी थी, जिसने जन-जन में यह विश्वास पैदा कर दिया था कि अब कांग्रेस किस प्रकार के 'समाजवादी पैटर्न की समाज रचना' करेगी :

गाँव गाँव में दिया जन जन को
विश्वास
नेकराम नेहरू ने
कि अन्याय आराम से होगा आमराय से होगा नहीं तो
कुछ नहीं होगा
गाँव का (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 142)

आज़ादी के बाद के भारत का समय इस अन्याय की गाथा से भरा हुआ था, रघुवीर सहाय ने इस समय के भीतर झांक कर ही यह पाया कि यहां मनुष्य और मनुष्य के बीच नाबराबरी का रिश्ता बरकरार है, उनकी कविता का केंद्रीय संवेदन इस नाबराबरी के रिश्ते की गहरी पड़ताल से जुड़ा हुआ है और उनकी कविताओं और कहानियों को समझने में इसी केंद्रीय संवेदन से मदद मिलती है। वे जानते थे कि भारतीय समाज में एक ओर वे अधिनायकवादी ताकतें हैं जो लोकतंत्र के माध्यम से भी शोषण और नाबराबरी की परंपरा को बनाये हुये हैं और दूसरी ओर इनसे संघर्ष करती हुई ताकतें भी हैं किंतु वे अभी कमज़ोर हैं। फिर भी वे सोचते थे कि यह संघर्ष चलता रहेगा और कवि को इसकी पहचान करते हुए अपना रचनाकर्म करना चाहिए। दर असल, समय के आर-पार देखने का यही अर्थ है। उन्होंने अपने काव्य संकलन, 'लोग भूल गये हैं', की भूमिका में लिखा है :

> जहाँ तक हृदय का सवाल है, कम से कम मुझे दृढ़ आस्था है कि लोग न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को नहीं भूलते, इतिहास के किसी दौर में कुछ लोग अवश्य भूल जाते हैं पर इन्हें याद कराने के लिए उनसे कहीं बड़ी संख्या में मनुष्य जीवित रहते हैं। इन्हीं के सामने अपने आंतरिक संघर्ष की जांच के लिए कवि अपनी रचना लाता है चाहे रचने के एकांत के बीच में से उठकर ही क्यों न आना पड़े। (रचनावली-1, पृ. 203)

न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श' को बहुत ही सूक्ष्म स्तर पर कवि रघुवीर सहाय ने अपनी चेतना में आत्मसात किया था। उन्हें दया, सहानुभूति और करुणा जैसे मानवीय भावों में भी कहीं-न-कहीं नाबराबरी और आभिजात्यवादी अहं की गंध महसूस होती थी। अपनी इस रचनात्मक संवेदना को उन्होंने कहानियों और गद्य में तो सीधे-सीधे बयान किया ही है, वही संवेदना कविताओं के भीतर भी सूत्र की तरह पिरोयी हुई है। 'सीढ़ियों पर धूप में', की एक कविता, 'हमने यह देखा' में साफ़ तौर से उन्होंने अपनी इस काव्य संवेदना को अभिव्यक्त किया :

हम ही क्यों तकलीफ उठाते जायें
दुख देने वाले दुख दें और हमारे
उस दुख के गौरव की कविताएँ गाएँ

यह है अभिजात तरीके की मक्कारी
इसमें सब दुख है, केवल यही नहीं है
... अपमान, अकेलापन, फाका, बीमारी

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 66)

और वाचक अंत में किसी सहानुभूति या दया या करुणा की मांग नहीं करता, जन की ओर से सारे अधिकार हासिल करने के संघर्ष का ऐलान करता है :

हमको तो अपने हक सब मिलने चाहिएँ
हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन
'कम से कम' वाली बात न हम से कहिए (वही, पृ. 67)

नाबराबरी और सामाजिक अन्याय का प्रतिकार ही उनकी रचनाओं का संवेदनात्मक उद्देश्य था। अपने एक लेख में उन्होंने स्पष्ट किया : 'गरीबी और बेकारी, युद्ध और गुलामी लेखक के दुश्मन हैं और मनुष्य के जानी दुश्मन हैं। उनसे ऐसा ही व्यवहार कीजिए जैसा दुश्मन दुश्मन के साथ करता है।' (सीढ़ियों पर धूप में, पृ. 220)

'आत्महत्या के विरुद्ध' की रचनाओं में रघुवीर सहाय का रचनाकार पूंजीवादी जनतंत्र की आड़ में किये जा रहे शोषण, दमन और अन्याय के खिलाफ विद्रोह करता है। उस दौर के ज्यादातर बुद्धिजीवी एक तरह के संशयवाद (सिनिसिज्म) के शिकार हो गये थे जो साठोत्तरी कविता में हमें दिखायी देता है। उस समय कवियों को लग रहा था कि 'जब सब कुछ ऊल ही जलूल है/ तो सोचना फिजूल है' (कैलाश वाजपेयी) इसीलिए उस दौर में व्यवस्था के प्रति कवियों का आलोचनात्मक रुख तेज़ हो गया था। रघुवीर सहाय का रचनाकार यह महसूस कर रहा था कि पूंजीवादी जनतंत्र में भी मनुष्य और मनुष्य के बीच असमानता और सामाजिक अन्याय का बोलबाला है, इस व्यवस्था में भी गरीब को रोटी नसीब नहीं हो रही। उक्त संकलन की पहली ही कविता, 'नेता क्षमा करें', में उन्होंने लिखा है :

मैं तुम्हें रोटी नहीं दे सकता न उसके साथ खाने के लिए गम
न मिटा सकता हूँ ईश्वर के विषय में तुम्हारा भ्रम

लोगों में श्रेष्ठ लोगों मुझे माफ करो
मैं तुम्हारे साथ आ नही सकता। (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 118)

संकलन की दूसरी कविता 'अपने आप और बेकार' में वाचक अपने को देश के लोगों के बीच रखता है। यही उसका जनवादी मूल्य है कि वह अपने को उनके बराबर रखता है, 'लोगों में श्रेष्ठ लोगों' के साथ नहीं। इन 'श्रेष्ठ लोगों' ने देश की जो दुर्गति की है, उसके प्रति रघुवीर सहाय की कविताओं में व्यंग्य की करारी चोट मिलती है। एक कविता 'नयी हंसी' में इन 'श्रेष्ठ लोगों' के नेतृत्व पर जो करारा व्यंग्य किया गया है, वह देखने लायक है :

राष्ट्र को महासंघ का यह संदेश है
जब मिलो तिवारी से ... हंसो ... क्योंकि तुम भी तिवारी हो
जब मिलो शर्मा से ... हँसों ... क्योंकि वह भी तिवारी है
जब मिलो मुसद्दी से
खिसियाओ
जातपांत से परे
रिश्ता अटूट है

राष्ट्रीय झेंप का (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 134)

वाचक टिप्पणी करता है कि 'एक नयी ही तरह की हंसी यह है'। रघुवीर सहाय ने आज़ादी के दौर में अर्जित नये मूल्यों की जब-जब हत्या होते देखी, उन्होंने एक सच्चे कलाकार की तरह उसका प्रतिरोध किया। आज़ादी के बीस बरस बाद भी जब समानता, बंधुत्व और आज़ादी जैसे जनवादी मूल्यों से साधारण जन वंचित रहे तो उनका रचनाकार चीत्कार कर उठा। उन्होंने लिखा है :

बीस वर्ष
खो गये भरमें उपदेश में
एक पूरी पीढ़ी जनमी पली पुसी क्लेश में
बेगानी हो गयी अपने ही देश में
वह
अपने बचपन की
आज़ादी छीनकर लाऊँगा (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 110-111)

साठोत्तरी दौर के हिंदी साहित्य में मोहभंग की जो अनुगूंज सुनायी देती है, उस अनुगूंज में रघुवीर सहाय की आवाज़ भी शामिल थी। उनकी उस समय की कविताओं को देख कर किसी को यह लग सकता है कि वे लोकतंत्रविरोधी थे। मगर सच्चाई यह है कि वे लोकतंत्र के मूल्यों के भ्रष्टीकरण से आहत थे। वे शासकों के उन कारनामों से दुखी हो रहे थे जिनसे अन्याय और नाबराबरी को ही बढ़ावा मिलता था। शोषक वर्गों की नुमाइंदगी करने वाले राजनेता किसी रचनाकार को भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं देना चाहते थे। राजसत्ता की यह प्रवृत्ति एमर्जेंसी में एक सच्चाई बनकर सामने आ गयी जब कविता पर भी सेंसरशिप लागू हो गयी थी। 'फिल्म के बाद चीख़' कविता में रघुवीर सहाय ने शोषक वर्गों द्वारा साहित्य 'रेंजीमेटेशन' के बारे में चुटकी लेते हुए लिखा है :

संसद एक मंदिर है जहाँ किसी को द्रोही कहा नहीं
जा सकता
दूधपिये मुंहपोंछे आ बैठे जीवनदानी गोंद
दानी सदस्य तोंद सम्मुख धर
बोले कविता में देश प्रेम लाना हरियाना प्रेम लाना
आइसक्रीम लाना है (वही, पृ. 117)

साठोत्तरी बरसों में लिखी गयी रघुवीर सहाय की बहुत सी कविताएँ अपने समय के आर-पार जाती हुईं आज के यथार्थ की रचनाएँ बन जाती हैं। उस समय भारतीय राजनीति में पूंजीवादी दलों में दलबदल की बीमारी इस तरह हावी नहीं हुई थी जैसी कि आज है। मगर रघुवीर सहाय के पास ऐसा 'विज़न' था, ऐसी दृष्टि थी जिससे वे यह समझते थे कि भारतीय अवाम पर राज बरकरार रखने के लिए पूंजीवादी-सामंती तत्व धन का प्रभाव फैला कर दलबदल की राजनीति को बढ़ावा देंगे और इस तरह खरीद फरोख्त द्वारा शोषण-सत्ता को कोई आंच नहीं आ पायेगी, जबकि दलबदल की यह राजनीति आकर्षक जनवादी नारों के तानेबाने और नये-नये वायदों के साथ देश पर हावी होगी। 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' में इस स्थिति को रघुवीर सहाय ने अत्यंत स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है :

गा कर सुनाता है
जनवादी वादों की घोषणा
महामंत्री
जनता के लिए नहीं
वह विरोधियों को प्रमाण दे रहा है
कि मैं दलबदल के लिए योग्य व्यक्ति हूँ
(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 137)

इस कविता का अंत भी एक ऐसी सच्चाई से होता है जो हमारे समाज में आज भी बरकरार है और रघुवीर सहाय ने इसे अपनी विश्लेषण-क्षमता से पहले-ही आंक लिया था

बीस बरस बीत गये
लालसा मनुष्य की तिलतिल कर मिट गयी
अब नहीं हो सकता कोई लेखक महान
पहले तो बाम्हन होंगे फिर ठाकुर होंगे
फिर बारी आयेगी चमारों की
तब तक चमार कायथ न बन गये होंगे (वही, पृ. 139)

भारतीय समाज पर जातिवाद की इस कठिन जकड़बंदी को कवि ने गहराई से महसूस किया था। यह रोग हमारे संस्कारों का एक हिस्सा बन गया है इससे कथनी और करनी में भेद भी दिखायी देता है। इसी ओर संकेत करते हुए रघुवीर सहाय ने लिखा है :

...बनिया बनिया रहे
बाम्हन बाम्हन और कायथ कायथ रहे
पर जब कविता लिखे तो आधुनिक
हो जाये। खीसें बा दे जब कहो तब गा दे। (वही, पृ. 108)

मंडल कमीशन की सिफ़ारिशों के लागू करने के समय उत्तर भारत में सवर्ण मानसिकता का जो इज़हार बड़े-बड़े आधुनिकतावादियों ने किया था, उसका अहसास शायद रघुवीर सहाय को पहले से था। इसीलिए उन्हें हम समय के आर-पार देखता कवि कहते हैं।

'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं में जिस 'नयी हंसी' की चर्चा रघुवीर सहाय ने की थी, वह आपात्काल के दौरान एक अमानवीय ठहाका बन कर सामने आ गयी। उन्हें जिस अधिनायकवाद की आशंका थी, वही हुआ। उनकी जागरूकता का यही प्रमाण है कि उन्होंने देश के वास्तविक जनजीवन की दुर्दशा को देखने-समझने के लिए एक अंतर्दृष्टि हासिल की थी। इसके लिए उन्होंने जो रास्ता चुना उसे स्पष्ट भी कर दिया था। 'सीढ़ियों पर धूप में' के एक छोटे से लेख में उन्होंने लिखा है : 'जागते रहने की एक तरकीब है ... वह यह कि वास्तविक जनजीवन के विकासोन्मुख तत्वों से अपने को सक्रिय संबद्ध करते रहें।' अपनी इसी संबद्धता के कारण अपने समय के आर-पार देखने की क्षमता रघुवीर सहाय हासिल कर सके। उन्हें यह अहसास हो गया था कि पूंजीवादी-सामंती वर्गों का हितसाधन करने वाली कांग्रेस पार्टी अधिनायकवाद की ओर बढ़ रही है। 'हँसों हँसों जल्दी हँसों' की कविताएँ सत्तारूढ़ तानाशाह की निर्मम हंसी का एक खाका पेश करती हैं :

हंसो तुम पर निगाह रखी जा रही है
बेहतर है कि जब कोई बात करो तब हंसो
ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे।
(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ.168)

इसी तरह उक्त संकलन की 'दो अर्थ का भय' कविता में भी आपात्काल में शब्द पर लगे अंकुश का प्रतिरोध करते हुए रघुवीर सहाय ने लिखा है :

वे मेरे शब्दों की ताक में बैठे हैं
जहाँ सुना नहीं उनका गलत अर्थ लिया और मुझे मारा
इसलिए कहूँगा मैं
मगर मुझे पाने दो
पहले ऐसी बोली
जिसके दो अर्थ न हों (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 157)

द्वधात्मक भाषा छोड़कर रघुवीर सहाय ने अपनी कविताओं से एक बार फिर शोषकवर्गों की राजनीति को ललकारा। उनके रचनाविकास की एक नयी मंजिल उनकी उस दौर की कविताओं में देखने को मिलती है, जिसमें वे अपने शोषित समाज की व्यथा-कथा कहते हैं :

बरसों पानी को तरसाया
जीवन से लाचार किया
बरसों जनता की गंगा पर
तुमने अत्याचार किया
...
धरती के अंदर का पानी
हमको बाहर लाने दो
अपनी धरती अपना पानी
अपनी रोटी खाने दो (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 158)

शोषकवर्गों की हितसाधक राजनीति उस समय कितनी निर्मम होकर हंस रही थी, उसे रघुवीर सहाय ने 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' की कविताओं में बगैर किसी लागलपेट के सीधी-साधी भाषा में रख दिया, 'निर्धन जनता का शोषण है / कहकर आप हंसे / लोकतंत्र का अंतिम क्षण है / कहकर आप हंसे...' उस राजनीति के पिछलग्गू अपने को सुरक्षित महसूस कर रहे थे, इसका अहसास भी वाचक को था :

कितने आप सुरक्षित होंगे
मैं सोचने लगा
सहसा मुझे अकेला पा कर
फिर से आप हंसे (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 163)

रघुवीर सहाय ने मध्यवर्गीय समाज को यह अहसास दिलाया कि अकेले-अकेले रहकर हर कोई अधिनायकवादी ताकतों के हाथों मारा जायेगा। अधिकनायकवादी ताकतों के खिलाफ अगर संगठित नहीं होंगे तो हर 'रामदास की हत्या होगी'। अकेले व्यक्ति की हत्या का मर्मभेदी चित्र खींच कर एक तरह से उन्होंने हम सबको आगाह किया :

खड़ा हुआ वह बीच सड़क पर
दोनों हाथ पेट पर रखकर
सधे कदम रख करके आये
लोग सिमट कर आंख गड़ाये
लगे देखने उसको जिसकी तय था हत्या होगी
(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 169)

मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी प्रायः पक्षधरता से कतराते हैं और सोचते हैं कि वे सुरक्षित हैं। रघुवीर सहाय इस कविता के माध्यम से यह संकेत देते हैं कि पक्ष न लेने से ही रामदास की हत्या होती है और इस हत्या के मूकदर्शक बने मध्यवर्ग की निष्क्रियता के कारण ही अधिनायकवाद आम आदमी का दमन और शोषण कर पाता है। इस कविता में जो चित्र रामदास का खींचा गया है, वह मध्यवर्ग का भी हो सकता है। वह भी 'बीच सड़क पर' खड़ा है, न इधर है और न उधर। वह भी अपने 'पेट' की रक्षा में सबसे अधिक जुटा हुआ है, 'दोनों हाथ पेट पर रख कर।' इस कविता की यही व्यंजना शक्ति है कि रामदास यानी साधारण जन और मध्यवर्ग दोनों की नियति एक है, यदि मारे जायेंगे तो दोनों ही मारे जायेंगे और मुक्ति हासिल करेंगे तो दोनों ही करेंगे। यदि एक दूसरे के मारे जाने को तमाशाई की तरह देखते रहेंगे तो दोनों की हत्या होगी। रघुवीर सहाय इस कविता के माध्यम से एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक सच कह जाते हैं। इसी तरह का ऐतिहसिक सच मुक्तिबोध ने भी अपनी प्रसिद्ध कविता, 'अंधेरे में' के वाचक से कहलवाया है :

गलियों में अंधकार भयावह...
मानों मेरे कारण ही लग गया
मार्शल लॉ वह,
मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया,
मानो मेरे कारण ही दुर्घट
हुई यह घटना (मुक्तिबोध रचनावली-1, पृ. 334)

मध्यवर्ग भी पूंजीवादी-सामंतीवर्गों की राजनीति के झांसे में आता रहता है और थोड़ी सी सुख सुविधा हासिल होते ही गरीब जनता से मुंह मोड़ लेता है। शोषकवर्ग नये-नये नारे दे कर जनता को भुलावे में डाले रहते हैं। रघुवीर सहाय इस झूठ को समझते थे, उन्होंने अपनी व्यंग्यात्मक शैली में इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है :

हमने बहुत किया है
हम ही कर सकते हैं
...
हमने बहुत किया है
जनता ने नहीं किया है...
हम फिर से बहुत करेंगे
हमने बहुत किया है। (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 182-183)

इन पंक्तियों में आयरनी का सफल प्रयोग है, राजसत्ता जब यह कह रही है कि 'हमने बहुत (?) किया है' तो उसमें यह अर्थ भी ध्वनित कराया गया है कि 'हमने बहुत अत्याचार किया है।' रघुवीर सहाय राजनीतिज्ञों के झूठ से बहुत आहत होते थे। वे पूंजीवादी राजनीति की इस विकृति को पहचानते थे और झूठ को झूठ कहने में संकोच नहीं करते थे :

जब मैंने कहा कि यह फिल्म घातक है
इसमें मनुष्य को झूठा दिखाया है
तो प्रधानमंत्री नाराज़ हुए .. यह व्यक्ति मेरे विरुद्ध है।
(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 189)

रघुवीर सहाय की कविताओं में अधिनायकवाद की एक और प्रवृत्ति पर भी चोट है, वह है 'अहंकार' की प्रवृत्ति। यह अहंकार भी मनुष्य और मनुष्य के बीच नाबराबरी की भावना (जो कि काफी गहरे तक हमारे समाज में घर किये बैठी है) से ही पैदा होता है। ऊपर उद्धत कविता, 'हमने बहुत किया है' में भी वही आभिजात्यवादी अहंकार की हुंकार रेखांकित की गयी है। आभिजात्यवादियों द्वारा दिखायी जाने वाली करुणा और सहानुभूति भी इसी अहंकार की एक बदली हुई शक्ल है जो नाबराबरी की भावना से पैदा होती है। रघुवीर सहाय ने चेतना में रची बसी इस नाबराबरी की भावना को जिससे अहंकार का जन्म होता है बहुत बारीकी से पहचाना था और अपने समकालीन कवियों में भी उसे चिन्हित किया था। जो कवि 'अद्वितीय' होने के दंभ से पीड़ित थे वे भी नाबराबरी की भावना से ही परिचालित होते थे और जो 'अतिक्रांतिकारी' शब्दाडंबर में सर्वहारावर्ग को मुक्त कराने का दंभ पाले हुए थे, वे भी मध्यवर्गीय अहं से पीड़ित थे। 'लोग भूल गये हैं' की भूमिका में रघुवीर सहाय ने स्पष्ट लिखा है कि 'अहंवाद को पहले के आलोचकों ने शायद पूरी तरह नहीं पहचाना था। ... खुलेआम जन साधारण के बारे में लिखने का अहंकार करने वाले कवियों में भी अहं हो सकता है यह आज ही प्रकट होकर दिख रहा है।' अज्ञेय आदि की 'अद्वितीयता' की अहंवादी ग्रंथि का सारतत्व भी आभिजात्य से जुड़ा हुआ है। 'लोग भूल गये हैं' की पहली ही कविता, 'कला क्या है' में इस सच्चाई को रघुवीर सहाय ने यों रखा है :

अद्वितीय हर एक है मनुष्य
औ' उसका अधिकार अद्वितीय होने का
छीनकर जो खुद को अद्वितीय कहते हैं

उनकी रचनाएँ हों या उनके हों विचार
पीड़ा के एक रसभीने अवलेह में लपेट कर
परसे जाते हैं तो उसे कला कहते हैं।

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 205)

यहाँ 'कला' का अर्थ सिर्फ़ वही नहीं है जिसे हम समझते हैं, यहाँ कला चालाकी का भी पर्याय बन गयी है। इसीलिए कविता के अंत में वाचक कहता है कि :

कला बदल सकती है क्या समाज?
नहीं, जहां बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा। (वही, पृ. 206)

रघुवीर सहाय ने साधारण जन की कला को 'कम से कम कला' बताया और शोषक वर्गों की कला या चालाकी को 'बहुत सी कला है वह' कहा। यही वह स्वानुभूत संवेदना की नवीनता है जो उन्हें एक विशिष्ट रचनाकार ही नहीं, एक चिंतक भी बनाती है। समाज में जो कुछ दिखायी दे रहा है, उसकी सूक्ष्म परतों में पैठकर जो अनुभव करते थे उसी को वे कभी सीधे-सीधे और कभी व्यंग्य और कभी फैंटेसी के माध्यम से व्यक्त करते थे। इस समाज के वर्तमान और अतीत को मिथ्या चेतना के बल पर जानने वालों को वे चुनौती देते चलते हैं। 'लोग भूल गये हैं' कविता में वे कहते हैं :

आज के समाज का मानस यही है तुम कहते हो इस कविता में
बगैर यह जाने कि तुम कितना कम इस समाज को जानते हो
कितना कम जानते हो तुम उस डर के कारण को
आज की संस्कृति का जो मूल स्रोत है।
और क्या जानते हो तुम अतीत को?

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 225)

'लोग भूल गये हैं' की कविताओं में रघुवीर सहाय बार-बार यह याद दिलाते हैं कि हमारे समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों को भुलाया जा रहा है। मध्यवर्ग के हम लोग अपनी नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकार के लिए तो लड़ लेते हैं मगर उन मूल्यों को भूल गये हैं जिनकी हमने आज़ादी के समय प्रतिज्ञा ली थी। 'स्वच्छंद लेखक' कविता में बुद्धिजीवी समुदाय की इस भुलक्कड़ी आदत पर वे व्यंग्य करते हैं कि :

अत्याचारी का मुंह
लोग भूल जाते हैं
उसके मुस्काने पर (वही, पृ. 254)

जनवादी मूल्यवत्ता का ह्रास उन्हें दुखी करता है और उस संवेदनहीनता पर वे चोट करते हैं जो इस दौर में बुद्धिजीवी समुदाय की आदत बनती जा रही है :

पढ़े लिखे लोगों का
जब दिल बहलाता है
खून किसी और का
करता है आक्रमण
निरक्षर निहत्थे पर
दमन नये दौर का (वही, पृ. 255)

रघुवीर सहाय नये दौर के दमन की महीन प्रक्रिया को बखूबी समझते थे। आतंकवाद की मुहिम और सांप्रदायिकता के फैलाव के पीछे शासकवर्गों की और जन के दुश्मनों की चालों को वे भलीभाँति समझते थे, इसीलिए वे बेबाक तरीके से कहते थे कि 'देते हैं हथियार / शासक गरीबों को / पानी नहीं देते'। (वही, पृ. 256) पोखरण में अणुअस्त्र विस्फोट के बाद नयी सदी

की पहली गरमी के दिनों में पानी की कमी ने पूरे राजस्थान और गुजरात में अकाल की जो स्थिति पैदा कर दी, वह कवि की उक्त पंक्तियों से पूरी तरह चरितार्थ होती है।

रघुवीर सहाय की कविता में 'पानी' का बिंब शुरू की कविताओं से लेकर अंत तक बार-बार आया है। पानी न सिर्फ मनुष्य की पहली ज़रूरत है बल्कि समता और समरसता का प्रतीक भी है। हमारे समाज में पूंजीवादी सरकारें बार-बार यह घोषणा करती हैं कि अमुक साल तक हर किसी के लिए पीने को पानी की व्यवस्था हो जायेगी। मगर यह वायदा कभी पूरा नहीं होता। आज भी अकाल और सूखे की स्थितियाँ कहीं-न-कहीं बनी रहती हैं।

11.2.3 रचनात्मक लक्ष्य : जन पक्षधरता

जैसा कि कहा जा चुका है कि रघुवीर सहाय मनुष्य और मनुष्य के बीच समानता और सामाजिक न्याय की लड़ाई के प्रति अपने को प्रतिश्रुत किये हुये थे, इसीलिए वे ऐसे हर अमानवीय और क्रूर हरकत के खिलाफ आवाज़ उठाते थे जिससे समानता और भाईचारे के जनवादी मूल्य खंडित होते थे। अपने कविता संकलन 'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ' के प्रारंभिक निवेदन में उन्होंने लिखा कि 'जिस तरह रचनात्मकता और आज़ादी एक ही मानवीय आकांक्षा के पर्याय हैं, उसी तरह समता की लड़ाई और कविता भी एक ही मानवीय उत्कर्ष के पर्याय हैं।' (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 262) उनकी कविता का यही वैचारिक आधार था जिसने उन्हें समय के आर-पार देखता कवि या कालातीत रचनाकार बनाया है। अपनी इसी जनवादी आधारभूमि पर खड़े होने की वजह से वे तानाशाही के खिलाफ थे और इसी वजह से वे हिंदू सांप्रदायिक तत्वों को ठीक ही 'फासिस्ट' की संज्ञा दे रहे थे और उनकी राष्ट्रविरोधी हरकतों का पर्दाफाश कर रहे थे क्योंकि ये दोनों ही विकृतियाँ जनवादी मूल्यों के विरुद्ध हैं। असमानता की जेहनियत सूक्ष्म तरीके से हमारे आचरण में परिलक्षित होती है, रघुवीर सहाय इस जेहनियत के आलोचक थे। 'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ' की कविताओं में से कई कविताओं को उनके इसी विचारबिंदु से समझा जा सकता है। 'सच क्या है' कविता में वे लिखते हैं :

> इस झूठे करुणामय मन को धिक्कार है
> वह दुख ही सच्चा है जो हमने झेला है
>
> (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 270)

इसी तरह उक्त संग्रह की एक और कविता 'रिजरफ रेल' को देखें तो वहां भी असमानता के ही चित्र मिलेंगे। एक ओर हैं, 'बीमार फेफड़े हांफते लपकते हुए / फेंक कर गये हैं जो दिल्ली के हाजिरी खाते में दस्तखत / जरा जरा दूर पर' तो दूसरी तरफ 'रिजरफ रेल' में 'खास खास लोगों' के लिए 'आराम, एकांत इंतजाम, स्वच्छता...' आदि है (वही, पृ. 271) इसी तरह इस संकलन में एक कविता है, 'फूट', जिसमें वे आज की सांप्रदायिकता के माहौल पर टिप्पणी करते हैं कि दंगों में मारे जाने वाले और बचे हुए के बारे में भी हमारे भीतर एक असमानता का बोध काम कर रहा होता है। इसे उन्होंने अपने एक इंटरव्यू में भी कहा था। असमानता की चेतना सिर्फ यह जानने की कोशिश करती है कि जो मारा गया वह हिंदू था या मुसलमान या सिख, वह ऐसा नहीं सोचने देती कि जो मारा गया एक इंसान था। इसी को कविता में उन्होंने इस तरह प्रस्तुत किया है :

> हिंदू और सिख में
> बंगाली और असमियों में / पिछड़े और अगड़े में
> पर इनसे बड़ी फूट
> जो मारा जा रहा और जो बचा हुआ
> उन दोनों में है (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 282)

असमानता की इस गहरी चेतना को उन्होंने अपने समय और समाज में बुरी तरह फैला हुआ देखा था। जब तक हमारे लोग इस खून में रचे-बसे भेदभाव को नहीं पहचानते, एक सभ्य और लोकतांत्रिक समाज की संरचना संभव नहीं होगी। आज़ादी का सपना साकार नहीं होगा। इसी

संकलन की एक कविता 'इंतजार' में असमानता की इसी चेतना को निम्नांकित पंक्तियों में व्यंजित किया है :

> एक बड़े होटल के कमरे में बैठ कर
> सभी खानसामों से ऐसे मुस्कराता है
> जैसे वह शोषित के प्रति करुणाशील है (वही, पृ. 285)

इस करुणाशीलता के पीछे छिपी असमानता की चेतना और अहंकार की भावना की पहचान रघुवीर सहाय की काव्यदृष्टि में शुरू से अंत तक बनी रही और इसीलिए वे शोषकवर्गों की पाखंडमयी सहानुभूति, करुणा, दया की धज्जियाँ उड़ाते रहे। अंत के दिनों के उक्त संकलन में भी 'इमरजैंसी' पर एक कविता है जिससे यह जानने में देर नहीं लगती कि किस तरह एक सच्चे 'डेमोक्रेट' की तरह वे जनवादी मूल्यों के सशक्त रचनाकार थे और मूल्यों को आभूषणों की तरह प्रदर्शित न करके हमारे सबके मन में बैठे शासकवर्गीय और आभिजात्यवादी विचारों से भी संघर्ष करते थे।

मनुष्य-मनुष्य के बीच समानता की भावना रखने वाले नये मानव की खोज उनका रचनात्मक लक्ष्य थी। शुरू के ही दिनों में अपने एक लेख में उन्होंने कहा था कि 'संश्लिष्ट रूप में नये मानव की खोज ही नयी कविता का धर्म है।' वे जीवन पर्यंत इसी नये मानव की खोज में लगे रहे। मूल्यों के स्तर पर बेहतर आदमी बनाने की उनकी कामना से ही उनकी रचनात्मकता को ऊर्जा मिलती थी। इसी अर्थ में वे एक बेहतर समाज का सपना अपनी कल्पनाशीलता में पाले हुए थे। उनका सपना जब-जब आहत होता था, चाहे वह अधिनायकवादी सत्ता ने किया हो या सांप्रदायिक ताकतों ने, उनका रचनाकार सक्रिय प्रतिरोध करता था। शोषित जन के प्रति सहानुभूति, करुणा, दया का आभिजात्यवादी पाखंड प्रदर्शित न करके वे उसे उसके खुद के संघर्षों के माध्यम से मुक्त होते देखना चाहते थे। वे बराबरी और सामाजिक न्याय को भीख के रूप में या किसी की दया के रूप में हासिल कराने के हामी नहीं थे। अपने अंतिम संकलन में 'साइकिल रिक्शा' कविता में रिक्शा चालक और सवार के बीच की असमानता उन्हें खटकती है, लेकिन एक बिंदु पर जब वे उनमें समानता देखते हैं तो कह उठते हैं :

> सिर्फ जब ढुलाई पर दोनों झगड़ते हैं
> हैसियत उनकी बराबर हो जाती है।
>
> (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 301)

वे शोषित जन की हैसियत को इस समाज में जैसी है वैसी नहीं देखना चाहते थे। जहाँ भी नाबराबरी को अमल में आते देखते थे, वे अभिव्यक्ति के खतरे उठाकर भी बोलते थे। वे जन के दुश्मन को पहचानते थे। 'टेलीविज़न' कविता में वे जो कहते हैं, वह आज भी कितना सही उतर रहा है, कहने की आवश्यकता नहीं :

> वह चेहरा जो जिया या मरा व्याकुल जिसके लिए हिया
> उसके लिए समाचारों के बाद समय ही नहीं दिया
> तबसे मैंने समझ लिया है आकाशवाणी में बन ठन
> बैठे हैं जो खबरों वाले वे सब है जन के दुश्मन (वही, पृ. 173)

यह थी रघुवीर सहाय की पक्षधरता जिससे अनुशासित था उनका रचनाकर्म और इसी पक्षधरता के कारण वे समय के आर-पार जाते हुए कवि थे। साहित्य और कला का इतिहास गवाह है कि जो कवि साधारण जन के, शोषित और दमित जन के पक्षधर रहे, वे ही कालातीत भी हुए।

11.2.4 नारी के प्रति दृष्टिकोण

रघुवीर सहाय की कविता में नारी का एक खास तरह का स्थान है। वे नारी को भी समतावादी दृष्टिकोण से ही देखना पसंद करते थे। हिंदी के ज्यादातर रचनाकार नारी को 'अबला' समझ कर उसके प्रति 'दया' का भाव प्रदर्शित करते रहे हैं। रघुवीर सहाय दया के प्रदर्शन को एक

सामंती मूल्य मानते रहे क्योंकि उस प्रदर्शन में कहीं न कहीं दया के पात्र को छोटा, हीन और असहाय समझने और खुद को समर्थ, बड़ा और सामंत सरीखा शासक मानने की प्रवृत्ति जाने-अनजाने काम कर रही होती है। रघुवीर सहाय की कविताओं और कहानियों के ज्यादातर वाचक इसीलिए दया दिखाने के खिलाफ होते हैं। अपने एक लेख में उन्होंने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए लिखा है :

> हिंदी साहित्य में स्त्री के प्रति यह भावना बार-बार व्यक्त हुई है कि वह उपेक्षिता है, इसलिए दया की पात्रा है। आधुनिक कहे जाने वाले साहित्य में पुरुष से उसके शरीर-संबंध को विशेष महत्व दिया गया है पर वहाँ भी उसके प्रति दया का भाव लेखक के मन से गया नहीं है ... मानो आधुनिक जीवन के नर-नारी-समता के विचार ने रचनाकार को छुआ ही न हो और वह पिछले ज़माने के सामंती मन से ही स्त्री को देख रहा हो...(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 47)

रघुवीर सहाय इस मर्म को बहुत पहले समझ गये थे कि दया का भाव बराबरी के मूल्य पर चोट करता है, इसलिए उनकी एक कविता का वाचक अपनी प्रेमिका से भी दया के भाव की अपेक्षा नहीं करता :

माधवी,
या और भी जो कुछ तुम्हारे नाम हों,
तुम एक ही दुख दे सकी थीं
फिर भला ये और सब किसने दिये हैं?
जो मुझे हैं और दुख, वे तुम्हें भी तो हैं
यही क्या नहीं काफी तर्क है कि मुझे दया का पात्र मत समझो

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 63)

रघुवीर सहाय बराबरी के अपने इस नज़रिये से उच्चवर्ग की नारियों के प्रति अक्सर निर्मम हो जाते हैं, उनकी कई कविताओं के वाचक ऐसी नारियों का मज़ाक उड़ाते हैं। उनकी एक बहुप्रसिद्ध कविता, 'प्रभु की दया' में जिन औरतों का बिंब आया है, वह ऐसी ही नारियों का है:

बिल्ली रास्ता काट जाया करती है
प्यारी-प्यारी औरतें हरदम बक-बक करती रहती हैं
चांदनी रात को मैदान में खुले मवेशी
आ कर चरते रहते हैं
और प्रभु यह तुम्हारी दया नहीं तो और क्या है
कि इनमें आपस में कोई संबंध नहीं। (वही, पृ. 69-70)

जो नारियाँ श्रम करती हैं, उनके प्रति रघुवीर सहाय में समानता का भाव ही परिलक्षित होता है। नारी-पुरुष की समानता और सहधर्मिता के आदर्श को कवि ने इस प्रकार वाणी प्रदान की है :

बंधु हम दोनों थके हैं
और थकते ही रहें तो साथ चलते भी रहेंगे
वह नहीं है साथ जिसमें तुम थको तो हम तुम्हें लादें फिरें
और हम थकें तो दम तुम्हारा फूल जाय - हाय। (वही, पृ. 77)

आभिजात्यवादी नारी और श्रमशीला नारी के बीच रघुवीर सहाय अंतर करते थे, लेकिन पूरी नारी जाति की त्रासदी को भी समझते थे। यह सही है कि उच्च घरानों की 'प्यारी-प्यारी' नारियाँ, सुख, सुविधा और आराम की ज़िंदगी बिताती लगती हैं लेकिन पुरुष द्वारा उनका भी शोषण होता है। अपनी एक कविता में रघुवीर सहाय का वाचक कहता है :

नारी बिचारी है
पुरुष की मारी है
तन से क्षुधित है
मन से मुदित है
लपककर झपककर
अंत में चित्त है (वही पृ. 92)

औरत के प्रति इस तरह की विनोदप्रियता का लहजा रघुवीर सहाय की बाद की कविताओं में नहीं मिलता, बल्कि उसमें नारी जाति की त्रासदी की एक अंतर्धारा बहती दिखती है। 'लोग भूल गये हैं' कविता संग्रह में ऐसी कई कविताएँ हैं जो उनके बदले हुए दृष्टिकोण का परिचय देती हैं। एक कविता है, 'औरत का सीना' जिसमें वाचक कामना करता है कि वह जवान औरत जिसे उसने बिसातखाने में कुछ खरीदते हुए देखा है 'पुरुष के मुकाबले' कुछ और ताकतवर हो जाती। उसे देख कर जो प्रतिक्रिया वाचक के मन में हुई उसे कवि ने यों शब्दबद्ध किया :

तब मैंने देखा कि उसको इतने करीब
पाकर यह क्या हुआ इतना अजीब दर्द
वह नफरत नहीं था वासना नहीं था

वह जो था अंत में आदर था
वह था उसका सीना आँखों के सामने
उसकी अकेली असहाय
और गैरबराबर औरत
का वह सर्वस्व था और मेरे बहुत पास (वही, पृ. 224)

इसी संकलन की एक कविता में वाचक कहता है कि 'औरतों के चेहरे समाज के दर्पण हैं / पुरुषों जैसे / किंतु जो दर्द दिखलाते हैं उनमें मिठास है / पुरुष गिड़गिड़ाते हैं औरतें सिर्फ चुपचाप थाम लेती हैं बेबसी' (वही, पृ. 234) इस तरह रघुवीर सहाय की कविता में औरतें खिलंदड़ेपन का लक्ष्य नहीं रह गयीं जैसी वे शुरू की कविताओं में थीं। 'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ' संग्रह की एक कविता, 'औरतें' का वाचक औरतों को एक यथार्थवादी नज़रिये से देखता है :

हाथ बालों पर नहीं जिनके कभी फेरा गया
बैठकर दो चार के संग
तजुर्बे अपने सुनाने का नहीं मौका मिला,
औरतें वे सूखकर रह गयीं :
उनकी बच्चियों ने जवां होकर दादियों की
काठियाँ पायीं।

(रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 281)

मरणोपरांत प्रकाशित 'एक समय था' संग्रह में औरतों पर ज्यादा कविताएँ नहीं हैं। जो हैं उनमें औरत या तो जुल्म का शिकार है या फिर शिकार बनने की प्रक्रिया में है। 'औरत की पीठ' उनके इस नज़रिये का साक्ष्य है :

औरत की पीठ उसका इतिहास है
उस पर जुल्म का असर वहां देखो
अपने सीने का अगर उसने छिपा रखा हो। (वही, पृ. 360)

आखिरी संग्रह की कविताओं में नारी पर जो भी कविताएँ हैं उनमें उसका शोषित रूप ही ज्यादा है, उन कविताओं में 'मां' है, 'मेरी स्त्री', 'संगिनी' है, 'उसका मन' है। रघुवीर सहाय

नारी की अंतश्चेतना में भी अपने समतावादी नज़रिये से और यथार्थ की ज़मीन पर खड़े होकर प्रवेश करते हैं, यही उनकी निजी विशेषता है, 'जब वह किसी बात को स्वीकार करती है / तो 'हाँ' नहीं कहती / सिर्फ खुशी खुशी अपना काम करने लगती है / उसी से हम जानते हैं कि / उसने स्वीकार किया। (वही, पृ. 369)। नारी की चेतना में आने वाले 'परिवर्तन' पर भी रघुवीर सहाय की निगाह थी और 'नयी पीढ़ी' की नयी चेतना का भी अहसास उन्हें था। अंतिम दौर की कविताएँ उनकी इस जागरूकता का प्रमाण है। इस संबंध में राजेश जोशी ने ठीक ही कहा है कि 'स्त्री को लेकर उनका नज़रिया बदला है। उस चेहरे को देखने की कोशिश भी है जो 'उसका विद्रोह है'। पुरुष समाज में स्त्री की स्थिति, उसकी अपनी मानसिकता और कमी का एक गहन विश्लेषण है। पर उसमें स्त्री की पीड़ा अधिक है, उसका जुझारूपन कम'। (रघुवीर सहाय, सं. विष्णु नागर / असद जैदी, पृ. 81)

.2.5 रघुवीर सहाय की कविता : कुछ वैचारिक सीमाएँ

रघुवीर सहाय विचारधारात्मक स्तर पर आधुनिक सभ्य समाज के लिए जनवादी मूल्यों जैसे समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के प्रति पूरी तरह समर्पित थे। इनका जहाँ भी अभाव था, जिस स्तर पर भी ये मूल्य खंडित होते दिखायी देते थे उनकी कविता इस स्थिति के प्रति आगाह करती थी। इसलिए रघुवीर सहाय की कविता में समाज की क्रूर विसंगतियों का लेखा-जोखा है, उन विसंगतियों की आलोचना है, उनके प्रति क्षोभ है। इस सबके बावजूद वे इन विसंगतियों और अभावों को दूर करने के लिए यानी समाज को विकास के अगले चरण में ले जाने के लिए संगठित राजनीति की अपरिहार्य ज़रूरत से परहेज करते थे। हालांकि उन्होंने 'दूसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में मार्क्सवाद को आक्सीजन की तरह जीवन की ज़रूरत के रूप में स्वीकार किया था और अपने दृष्टिकोण के बारे में कहा था कि 'यह दृष्टिकोण सामाजिक, वास्तविक, साम्यवादी और इसलिए सही और स्वस्थ होगा', (रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 38), मगर बाद में वे सभी तरह की संगठित राजनीति को एक ही मान कर समष्टि की जगह व्यष्टि पर जोर देने लगे, और साथ ही संगठित राजनीति की ज़रूरत को भी रेखांकित करते रहे। उन्होंने मार्क्सवाद और साम्यवाद से अपने दृष्टिकोण को जोड़ते हुए भी इस समाज की वर्गीय बुनावट और उसमें हर स्तर पर वर्गीय हलचल या संघर्ष को देखते हुए अपना पक्ष तय करने के कठिन मार्ग का अनुसरण नहीं किया। इस समाज में पूंजीपति और भूस्वामी वर्ग जब संगठित राजनीति करते हैं यानी अपने राजनीतिक दल बनाते हैं, शोषित जनता के सामने अपने ही दलों को विकल्प के रूप में लाने की और इस तरह सत्ता अपने ही पक्ष में रखने की कोशिश करते हैं, तो सर्वहारा वर्ग भी संगठित राजनीति करता है और शोषकवर्गों से संघर्ष करके समाज को विकास की अगली मंजिल में ले जाने की लड़ाई लड़ता है। इसलिए सर्वहारावर्ग की पार्टी यानी मार्क्सवाद की वैज्ञानिक विचारधारा पर आधारित पार्टी का संसार भर के सारे पूंजीवादी समाजों में होना इसी सत्य का सबूत है। इसलिए सारे धान बाईस पसेरी तौलने वाली अभेद दृष्टि उस मिथ्याचेतना से निर्मित होती है जो कि मध्यवर्ग में खूब पायी जाती है। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी अज्ञानवश शोषित और शोषक की राजनीति में अंतर नहीं करते। रघुवीर सहाय ने अपने एक साक्षात्कार में कहा है कि 'यह बात ज़रूरी है कि संगठित राजनीति और रचना में तनाव का रिश्ता होना चाहिए और सत्ता और रचना में भी तनाव का रिश्ता होना चाहिए'। (रघुवीर सहाय रचनावली-3, पृ. 403) उसी साक्षात्कार में उन्होंने यह भी कहा कि संगठित राजनीति अत्यंत आवश्यक है, लेकिन उसके खिलाफ रचना भी आवश्यक है' (वही, पृ. 404)। यही रघुवीर सहाय की विचारधारात्मक सीमा है जो संगठित राजनीति के वर्गीय सारतत्व को नहीं देख पाती। मज़दूरवर्ग की संगठित राजनीति के खिलाफ भी रचना और पूंजीवादी संगठित राजनीति के खिलाफ भी रचना, यह पक्ष न लेने का फलसफा अंततः पूंजीवादी समाजों में शोषक-शासक वर्गों के हित में ही जाता है। मुक्तिबोध इसीलिए भारतीय मध्यवर्ग से कह रहे थे कि 'तय करो किस ओर हो तुम', क्योंकि अपने पक्ष के प्रति सचेत होने से ही यानी वर्गचेतस होने से ही एक नागरिक और कवि के रूप में कोई रचनाकार अपना सकारात्मक योगदान कर सकता है, अन्यथा वह जाने-अनजाने जन के दुश्मन वर्गों को ही मजबूत बना रहा होता है। रघुवीर सहाय की विचारधारात्मक सीमा यही है कि वे जन के दुश्मनवर्गों के खिलाफ खड़े होकर भी खुद को अकेला ही रखना चाहते थे, उसी 'व्यक्ति

स्वातंत्र्य ' की रक्षा की मिथ्याचेतना को पाले हुए जो वर्गसमाजों में एक भ्रांति के अलावा और कुछ नहीं है। मुक्तिबोध इस सत्य को समझते थे, इसीलिए उन्होंने कहा था, कि 'मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते।' फिर भी रघुवीर सहाय अपनी विचारधारात्मक सीमाओं के बावजूद जन पक्ष के लोकतांत्रिक सरोकारों के कवि थे, इसीलिए उनका हिंदी कविता में और हमारे सांस्कृतिक रचनाकर्म में महत्वपूर्ण स्थान रहेगा।

11.3 सारांश

संक्षेप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि :

- रघुवीर सहाय की कविता अपने समय का आलोचनात्मक साक्षात्कार करती है।
- वे मानते हैं कि वर्तमान को सर्जना का विषय बनाने के लिए ज़रूरी है कि रचनाकार वर्तमान से मुक्त हो।
- समाज की उन्होंने गहरी पहचान हासिल की थी इसलिए शोषक और शोषित की भी उन्हें खरी पहचान थी। शोषक वर्ग की चालबाज़ियों को उन्होंने बखूबी नंगा करने का प्रयत्न किया है।
- मनुष्य और मनुष्य के बीच समानता और सामाजिक न्याय उन के रचनाकर्म का लक्ष्य रहा है।
- नारी के प्रति रघुवीर सहाय का दृष्टिकोण समता का रहा है। समाज में नारी की स्थिति का उन्होंने बहुत मार्मिक चित्रण किया है।

11.4 प्रश्न

1. रघुवीर सहाय की कविता में विचारवस्तु के भिन्न-भिन्न आयामों का विश्लेषण कीजिए।
2. रघुवीर सहाय के काव्य का रचनात्मक लक्ष्य क्या है?
3. नारी के प्रति रघुवीर सहाय के दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।

इकाई 12 रघुवीर सहाय का काव्य-शिल्प

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 रघुवीर सहाय की काव्यभाषा का विकास
12.3 रघुवीर सहाय की कविता में छंद
12.4 रघुवीर सहाय की काव्यभाषा में लय
12.5 सारांश
12.6 प्रश्न

12.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में आपने रघुवीर सहाय के काव्य में अभिव्यक्त कथ्य के विभिन्न रूपों का अध्ययन किया। इस इकाई में आप रघुवीर सहाय की काव्यभाषा के बारे में अध्ययन करेंगे। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जान सकेंगे कि रघुवीर सहाय का काव्यभाषा के बारे में क्या दृष्टिकोण रहा है, उनके काव्य की भाषा कैसी है, छंद लय का वह कैसा प्रयोग करते हैं, और उनकी काव्यभाषा की कौन-कौन सी मुख्य विशेषताएँ हैं।

12.1 प्रस्तावना

रघुवीर सहाय के काव्य संकलन 'सीढ़ियों पर धूप' की भूमिका अज्ञेय ने लिखी थी। इस भूमिका में अज्ञेय ने लिखा है कि 'निस्संदेह रघुवीर सहाय शिल्पी हैं, कुशल शिल्पी हैं, 'कच्चे माल' के कच्चेपन को ही साहित्यिक मूल्य बनाना उनका इष्ट नहीं है पर वह वास्तव में माल हो यह वह बराबर पहचानते रहना चाहते हैं। भाषा की यह सहज प्रवहमान प्रसादमयता उनकी कविता में भी ज्यों की त्यों है। कविता भाषा का विशिष्ट प्रयोग तो है ही और भाषा-शैली का विशिष्ट प्रयोग रघुवीर सहाय भी अनिवार्यता करते ही हैं' - (सीढ़ियों पर धूप में, पृष्ठ 8-9) अज्ञेय कविता को भाषा का एक प्रयोग, एक अन्वेषण मानते हैं। काव्यवस्तु के बजाय शिल्प या भाषा को वे ज्यादा महत्व देते थे। इस अर्थ में वे रूपवादी थे। मगर रघुवीर सहाय अज्ञेय की मान्यताओं से सहमत नहीं थे। उन्होंने लिखा है 'शिल्प और अन्य प्रासंगिक उपकरण अपने में विश्लेषण के विषय हो सकते हैं, ब्योरेबार अध्ययन करने वालों के लिए, पर वहाँ से परीक्षण आरंभ नहीं किया जाना चाहिए।' (वही, पृ. 244)। ज़ाहिर है कि रघुवीर सहाय उस काव्यतत्व का अन्वेषण करने पर ज्यादा ज़ोर देते थे जो कला की सौंदर्य परम्परा को आगे बढ़ाता है। काव्यकला की भी अपनी एक सापेक्ष स्वायत्त परंपरा है जो कवियों के द्वारा अन्वेषण और प्रयोग से, नयी भाषा और नये शिल्प से आगे बढ़ती है। काव्य भाषा की अलग से पहचान नयी लय, नये छंद गठन, नये देशज शब्दों के प्रयोग और अंततः कथ्य को कहने की नयी भंगिमा के माध्यम से बनती है। हर कवि यह कोशिश करता है कि उसका अपना अंदाज़-ए-बयां हो। आइये, देखें, रघुवीर सहाय की कविता किस तरह इस काव्य सौंदर्य की परंपरा को एक नयी काव्यभाषा और लय के नये प्रयोगों के माध्यम से आगे ले जाती है।

12.2 रघुवीर सहाय की काव्यभाषा का विकास

रघुवीर सहाय की प्रारंभिक दौर की कविता में भाषा के साथ एक खिलवाड़ या खिलंदड़ापन मिलता है जो संवेदना के विकास के साथ बाद में काव्यगत विडंबना के लिए काम आता है।

'सीढ़ियों पर धूप में' और 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं में भाषा का यह क्रीड़ाभाव खूब मिलता है। इस क्रीड़ाभाव से कविता में नाटकीयता का गुण आता है। शुरू के दिनों की उनकी एक मशहूर कविता, 'दुनिया' की भाषा में यही क्रीड़ाभाव देखा जा सकता है :

लोग कुछ नहीं करते जो करना चाहिए तो लोग करते क्या हैं
यही तो सवाल है कि लोग करते क्या हैं अगर कुछ करते हैं
लोग सिर्फ लोग हैं, तमाम लोग, मार तमाम लोग
लोग ही लोग हैं चारों तरफ लोग, लोग, लोग
मुंह बाये हुए लोग और आंख चुंधियाये ये हुए लोग
कुढ़ते हुए लोग और बिराते हुए लोग
खुजलाते हुए लोग और सहलाते हुए लोग
दुनिया एक बजबजायी हुई चीज़ हो गयी है।

(सीढ़ियों पर धूप में, पृ. 139)

इसी तरह के भाषिक खिलंदड़ेपन की एक और कविता भी मध्यवर्गीय लोगों के बारे में है, 'सभी लुजलुजे हैं' जिसमें वाचक ऐसे चुने हुए शब्द इस्तेमाल करता है जो कविता में शायद ही कभी प्रयुक्त हुए हों, 'खोंखियाते हैं, किंकियाते हैं, घुन्नाते हैं / चुल्लू में उल्लू हो जाते हैं / मिनमिनाते हैं, कुड़कुड़ाते हैं / सो जाते हैं, बैठ रहते हैं, बुत्ता दे जाते हैं...' (वही, पृ. 140) यही क्रीड़ाभाव 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं तक पहुँचते-पहुँचते एक ऐसी आयरनी में तब्दील हो गया जिससे उनकी कविता, महेश आलोक के शब्दों में, 'एक मज़बूत शोषणतंत्र या व्यवस्था के खिलाफ, अमानवीयता के खिलाफ, हत्या-षड्यंत्र और मनुष्यता के पतन के खिलाफ, राजनैतिक अवसरवादिता के खिलाफ आम आदमी के गुस्से को पूरे संघर्षशील तेवर और उसकी कमज़ोरियों, लाचारियों और कमियों के साथ खड़ा करने और पूरे मानवीय जीवट के साथ मुठभेड़ की कविता 'हो जाती है।' (इंद्रप्रस्थ भारती, जनवरी-मार्च 1991, पृ. 1950) उनके इस विकास को उन्हीं की एक कविता से परखा जा सकता है :

यही मेरे लोग हैं
यही मेरा देश है
इसी में रहता हूँ
इन्हीं से कहता हूँ
अपने आप और बेकार

लोग लोग लोग चारों तरफ़ हैं मार तमाम लोग
खुश और असहाय
उनके बीच में सहता हूँ
उनका दुख
अपने आप और बेकार

इन पंक्तियों तक की काव्ययात्रा कवि की संवेदना के विकास की यात्रा है। इसीलिए भाषा का खेल अब विडंबना और गंभीर अर्थवत्ता का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। संवेदना के इस विकास को उनकी निम्नलिखित पंक्तियों में भी देखा जा सकता है :

कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूंगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अंदर
एक कायर टूटेगा टूट
मेरे मन टूट एक बार सही तरह
अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ अब मत रूठ
मत डूब सिर्फ़ टूट

भाषा का खिलवाड़ यहां काफी गंभीर आयरनी का सृजन कर रहा है, वाचक में खुद अपने भीतर व्यक्तित्वांतरण की मांग उठ रही है, अपने भीतर के मकड़जाल (तिलिस्म) से उबरने की आकांक्षा उदित हो रही है।

काव्यभाषा में नाटकीयता

काव्यभाषा के विकास में एक मंजिल ऐसी भी आयी जिसमें कवि ने बहुत सारे नाटकीय पात्रों की रचना की। शुरू के दौर में मजाकिया लहजे में कुछ पात्रों का सृजन रघुवीर सहाय ने किया था, जैसे 'शांति दो' कविता में 'चाहे वह क्रांति की बहन ही क्यों न हो'। मगर बाद में 'नेकराम नेहरू' और 'वाजपेयी' से लेकर 'हरचरना', 'मुसद्दीलाल', 'चंद्रकांत', 'दयाशंकर' आदि अनेक तरह के पात्र अपनी पूरी नाटकीय और वर्गीय विशेषताएँ लेकर आये और फिर 'रामदास' जैसा प्रातिनिधिक पात्र उनकी कविता में आया। ये पात्र किसी नाटकीय मुद्रा के विज्ञापन के लिए नहीं, जीते जागते यथार्थ को प्रभावी और विश्वसनीय तरीके से पेश करने के लिए उनकी कविता में आये।

रघुवीर सहाय की काव्ययात्रा के शुरू के दिनों की एक कविता, 'मेरा एक जीवन है' में वाचक जहाँ अपने निजी जीवन के बारे में कहता है कि 'उसमें मेरे प्रिय हैं, मेरे हितेषी हैं' वहीं वह एक और जीवन की बात करता है :

पर मेरा एक और जीवन है
जिसमें मैं अकेला हूँ
जिस नगर के गलियारों फ़ुटपाथों मैदानों में घूमा हूँ
हंसा खेला हूँ
उसके अनेक हैं नागर, सेठ, म्युनिसिपल, कमिश्नर, नेता
और सैलानी, शतरंजबाज और आवारे
पर मैं इस हाहातूती नगरी में अकेला हूँ। (सीढ़ियों पर धूप में, पृ. 87)

एक स्तर पर ऐसा लगता है कि यह कविता आधुनिकतावादियों की काव्यभाषा का अनुकरण करती हुई मनुष्य के आत्मनिर्वासन की काव्यवस्तु को दोहरा रही है। लेकिन गौर से देखें तो काव्यभाषा में नये प्रयोग के रूप में जिस 'हाहातूती नगरी' को चित्रित किया गया है, उसमें वे भी हैं जो अपने हैं और वे भी जो पराये हैं। यह अपने और पराये की पहचान आधुनिकवादियों के यहाँ खो गयी थी, क्योंकि उनके यहाँ तो 'जो मेरा है वही ममेतर है' (अज्ञेय) रघुवीर सहाय 'हाहातूती नगरी' जैसे भाषिक प्रयोग से पूरी पूंजीवादी सभ्यता की मारधाड़वाली, स्पर्धावाली चीख पुकार व्यक्त कर देते हैं जिसमें सेठ, नेता, कमिश्नर भी हैं और शोषित भी हैं, 'वे सब सुहृद हैं, सर्वत्र सर्वदा हैं'। यह भाषा एक लय पैदा करती है जिसमें परंपरागत वृत्यानुप्रास स्वतः ही आ गया है। मगर कथ्य के स्तर पर वह अपनों की पहचान कराने करने के लिए यह आवृत्ति करता है। इन अपनों ('सहृद') की बदौलत ही कविता का वाचक यह विश्वास रखता है कि :

सारे संसार में फैल जायेगा एक दिन मेरा संसार
सभी मुझे करेंगे - दो चार को छोड़ - कभी न कभी प्यार
मेरे सृजन, कर्म-कर्तव्य, मेरे आश्वासन, मेरी स्थापनाएँ
और मेरे उपार्जन, दान-व्यय, मेरे उधार
एक दिन मेरे जीवन को छा लेंगे - ये मेरे महत्व
डूब जायेगा तंत्रीनाद कवित्त-रस में, राग में, रंग में मेरा यह ममत्व
(वही, पृ. 88)

कविता के इस अंश में दार्शनिक स्तर पर जाती हुई काव्यभाषा को फिर से वाचक मोड़ कर 'तंत्रीनाद कवित्त रस' के स्तर पर ले आता है जिससे कि अपने कथन को 'लिरिकल' (आत्मबद्धता) से उबार कर 'ड्रैमेटिक' (सार्वजनीन) स्तर पर ले जा सके। तभी काव्यभाषा में उसे कहना पड़ता है कि 'डूब जायेगा... मेरा यह ममत्व'। आत्म के 'सारे संसार में फैल' जाने

और 'दो चार को छोड़' सभी का यानी विस्तृत जनसमूह का प्यार पाने की उद्दाम लालसा और विश्वास पक्षधरता के बगैर संभव नहीं, इसीलिए काव्यभाषा में यह सावधानी बरती गयी है और 'हाहातूती नगरी' के नागरिकों के भी भेद दिये गये हैं और उन सब के बीच भी दोस्त और दुश्मन का संकेत कर दिया गया है, 'दो चार' यानी कम तादाद में वे शोषक ही हैं जिनसे वाचक को प्यार नहीं मिलेगा।

काव्यभाषा का ऐसा सावधान प्रयोग रघुवीर सहाय की कविता में प्रारंभिक दौर से ही मिलता है। रघुवीर सहाय भाषा की सीमाएँ भी जानते थे। शब्द यथार्थ की इमेज तो होता है लेकिन फिर भी उसमें असलियत को पूरी तरह चित्रित करने की क्षमता नहीं होती। अपनी कई कविताओं में उन्होंने भाषा की इस कमज़ोरी के बारे में इशारा किया था। प्रारंभिक दिनों की ही एक कविता, 'इतने शब्द कहां है' में उन्होंने लिखा :

इतने अथवा ऐसे शब्द कहाँ हैं जिनसे
मैं उन आँखों कानों नाक दाँत मुँह को
पाठकवर,
आज आप के सन्मुख रख दूँ
जैसे मैंने देखा था उनको कल परसों

वह छवि मुझ में पुनरुज्जीवित कभी नहीं होती है
वह मुझ में है । है । वह यह है
मैं भी यह हूँ
मेरे मुख पर अक्सर जो आभा होती है। (वही, पृ. 94)

उन्होंने काव्यभाषा के बारे में लगभग अंग्रेज़ी कवि वर्डस्वर्थ की तरह अपने 'वक्तव्य' में कहा था कि 'भाषा को साधारण बोलचाल की भाषा के निकट लाने की कोशिश रही है, मगर उसमें भी कहीं-कहीं भाषा की फिजूलखर्ची करनी पड़ी है।' भाषा के बारे में ईमानदारी में ही यथार्थ की संश्लिष्टता और शब्द की सीमा को व्यक्त करने के लिए भाषा की काफी फिजूलखर्ची करनी पड़ी है। कविता के पहले खंड में एकदम बोलचाल की भाषा है 'नाक, दांत, मुंह' जैसे शब्द हैं, मगर वही 'मुंह' अंतिम पंक्ति में 'मुख' हो जाता है क्योंकि उसे 'आभा' की संगति में रखना ज़रूरी था, बल्कि अंतिम खंड की पूरी संस्कृतनिष्ठ और दार्शनिक शब्दावली के अनुकूल रखना था। यथार्थ और उसकी छवि, इमेज, के बीच शब्द जैसे माध्यम की अपर्याप्तता का कथ्य इस दुहरे भाषा-प्रयोग के लिए अनिवार्य बन गया था। इस अपर्याप्तता को ही उन्होंने 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' संग्रह की एक कविता, 'दर्द' में भी रखा, मगर वह कविता, भाषा की बहुलार्थक प्रकृति के कारण, खुद कई अर्थों वाली हो गयी क्योंकि उसमें एक विडंबना भी चित्रित है :

देखो शाम घर जाते बाप के कंधे पर
बच्चे की ऊब देखो
उसको तुम्हारी अंग्रेज़ी कह नहीं सकती
और मेरी हिंदी
कह नहीं पायेगी
अगले साल

अरुण कमल ने अपने लेख में यह सही कहा है, कि 'नागार्जुन के बाद रघुवीर सहाय में हमें भाषा की अनेक मुद्राएँ मिलती हैं। बोलचाल की नाटकीयता, वक्रता, लोच। कविता की भाषा को बोली के इतना करीब लाने में रघुवीर सहाय का सानी नहीं।' (रघुवीर सहाय, संपादक : विष्णु नागर, असद ज़ैदी, पृ. 102-3) अरुण कमल ने रघुवीर सहाय की इस विशेषता को रेखांकित करने के लिए उनकी एक कविता का जो अंश उद्धृत किया है वह सचमुच देखने लायक है :

कोने में खटिया पर जा करके पहुड़ रही
वह पहुड़ी रही साल भर तक फिर गुज़र गयी
औरतें उठीं घर धोया मर्द गये बाहर
अर्थी ले कर (वही, पृ. 102)

काव्यभाषा की एक अन्य कमज़ोरी, बहुलार्थकता (एम्बीगुइटी) की ओर भी उन्होंने कई जगह इशारा किया था। भाषा के 'सिग्नीफाइर' और 'सिग्नीफाइड' के बीच के द्वंद्व को उन्होंने पश्चिम के भाषाचिंतकों या संरचनावादियों, सोस्यूर या रोलां बार्थ की रचनाओं से नहीं, अपने खुद के चिंतन से समझा था। वे परंपरागत काव्यभाषा के अलंकृत, बहुलार्थक रूप से अलग ऐसी काव्यभाषा रचने के प्रयास में थे जो ठीक-ठीक वही कह सके जो उनका प्रयोजन था। डा. विश्वनाथ त्रिपाठी ने रघुवीर सहाय की भाषा संबंधी चिंता के बारे में सही ही कहा है कि 'रघुवीर सहाय की चिंता भाषा को लेकर बहुत दिखलायी पड़ती है। उन्हें एक तो चिंता इस बात की है कि उनकी काव्यभाषा किताबीपन या रीतिवादिता से मुक्त रहे, दूसरे वह छद्म हिंदी न हो, वह भाषा के दोमुहेपन से बचने का आग्रह करते हैं।' (प्रतिपक्ष, जनवरी 1991, पृ. 25) रघुवीर सहाय ने सही-सही काव्यभाषा के लिए किये गये अपने संघर्ष के बारे में कहा भी है कि 'जो मैं जानता हूँ, यानी भाषा मेरे साथ मनमानी करना चाहती है और मैं उसको इससे रोकना चाहता हूँ, और यह संघर्ष चलता रहता है।' (लिखने का कारण, पृ. 100) अपनी एक कविता की बहुचर्चित पंक्ति में भी उन्होंने यह कहा है कि, 'भाषा की बधिया हमेशा वक्त के सामने बैठ जाती है।' यह संघर्ष वह सब कह डालने का था जो लोकतांत्रिक मूल्यव्यवस्था के संकल्प के बिल्कुल विपरीत समाज में घटित होता दिखायी दे रहा था। सत्ताधारी वर्गों की असलियत उजागर करने के लिए जिस भाषा की दरकार थी, उसे पाने के लिए संघर्ष उनके कविकर्म का एक अनिवार्य दायित्व था। वे जानते थे, 'वे मेरे शब्दों की ताक में बैठे हैं / जहाँ सुना नहीं उनका गलत अर्थ लिया और मुझे मारा।' इसलिए 'दो अर्थ का भय' कविता में वे लिखते हैं :

इसलिए कहूंगा मैं
मगर मुझे पाने दो
पहले ऐसी बोली
जिसके दो अर्थ न हों

रघुवीर सहाय की भाषा संबंधी अन्वेषणवृत्ति के बारे में महेश आलोक ने ठीक ही कहा है कि 'नयी और जीवित भाषा की तलाश की लंबी प्रक्रिया से गुज़रते हुए रघुवीर सहाय निरंतर शब्दों की रचनात्मक गरमाहट, खरोंच और उसकी आंच को उत्सवधर्मी होने से बचाते हैं और लगभग कविता के लिए अनुपयुक्त हो गये शब्दों की अर्थ सघनता को बहुत हल्के से खोलते हुए एक खास किस्म के गद्यात्मक तेवर को रिटौरिकल मुहावरे में तब्दील कर देते हैं।' (इंद्रप्रस्थ भारती, जनवरी-मार्च 1991, पृ. 200) इस नयी और जीवित भाषा की तलाश रघुवीर सहाय किसी नये शिल्प की खोज या 'कला के लिए कला' के नये उपकरणों का अनुसंधान करने के उद्देश्य से नहीं कर रहे थे, बल्कि वे एक सामाजिक संकट और आने वाले दिनों में भारतीय समाज के विकास के रास्ते में आने वाले खतरों से साधारण जन को आगाह करने के लिए अलग तरीके से भाषा खोज रहे थे जो कारगर हो सके क्योंकि हर तरह की भाषा को उस पूंजीवादी राजनीति ने अर्थहीन कर दिया है जिसने साधारण जन को बदहाल कर दिया है, उसे मार दिया है। वे उक्त कविता में ही कहते हैं :

मेरा सब क्रोध सब कारुण्य सब क्रंदन
भाषा में शब्द नहीं दे सकता
क्योंकि जो सचमुच मनुष्य मरा
उसके भाषा न थी

मुझे मालूम था मगर इस तरह नहीं कि जो
खतरे मैंने देखे थे वे जब सच होंगे

तो किस तरह उनकी चेतावनी देने की भाषा
बेकार हो चुकी होगी
एक नयी भाषा दरकार होगी

रघुवीर सहाय ने 'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ' की भूमिका में भी यही बात कही थी, 'भाषा के अनेक प्रकारों पर व्यावसायिक और राजनैतिक कब्जे ने भाषा की रचनात्मकता को अनेक प्रकार से विकृत और कुंठित किया है, नयी प्रतिभा को सामाजिक चेतना के विषय में बलपूर्वक अशिक्षित करके मनुष्यों के बीच साझेदारी के संबंध तोड़े हैं और उनकी जगह बनावटी रागात्मकता के नये समझौते आरोपित किये हैं, जो उसके किसी पक्ष को कोई आत्मिक बल नहीं देते.. रचनात्मकता के विरुद्ध इतना बड़ा अभियान आज़ादी के बाद दासता की पहली बार एकत्र शक्तियों ने चलाया है।'

मनमोहन ने रघुवीर सहाय की भाषा के बारे में सही ही कहा था कि 'यहाँ यह याद दिलाना शायद उपयोगी होगा कि भाषा की 'प्रतीकात्मक जड़ता' को लगभग निर्णायक रूप से ध्वस्त करने का उनका उपक्रम (शायद जिसे हर महत्वपूर्ण कवि अपने ढंग से करता ही है) किसी नयी भाषिक तरकीब की तरह नहीं देखा जाना चाहिए। वह कवि की 'प्रयोगशीलता' या कोई नया शिल्पगत पूर्वग्रह नहीं था। यह उस फासले को कम करने (या शायद स्पष्ट करने) की कोशिश थी जो रचनाकार के संज्ञान और यथार्थ की गतिविधि के बीच सहज ही बन जाता है और जिसमें तमाम तरह के धोखे और स्वांग डेरा डाले रहते हैं।' (रघुवीर सहाय, संपा. विष्णु नागर व असद ज़ैदी, पृ. 90)।

रघुवीर सहाय की काव्य यात्रा में भाषा स्तर पर, बोध या संज्ञान के विकास के ही अनुरूप, एक परिवर्तन भी हुआ था। शुरू के दिनों में जहाँ भाषा के साथ काफी खिलवाड़ करती हुई रचनाएँ होती थीं, वहीं उनके राजनीतिक और सामाजिक स्तर की जागरूकता के विकास के साथ कविताओं में भी वह खिलवाड़ या कौतुक पैदा करने की प्रवृत्ति कम होती गयी और वैचारिक व संवेदनात्मक गहराई ज्यादा आती गयी। विजयकुमार ने उनके इस विकास के बारे में ठीक ही कहा है कि 'रघुवीर सहाय की भाषा के बारे में अब तक एक आम धारणा यह थी कि उसकी शक्ति उसके विडंबना बोध में है। इस विडंबना बोध को मूर्त करने के लिए वे अटपटी, चुहलभरी नाटकीय भाषा का प्रयोग करते हैं। जो लोग इन्हीं चीज़ों को कवि की केंद्रीय मुद्रा मानते आये हों, उन्हें रघुवीर सहाय की परवर्ती कविताएँ पढ़ कर धक्का लगेगा। (वही, पृ. 116) भाषा के प्रयोग में इस तरह का विकास उनके वैचारिक विकास का ही एक हिस्सा था। डा. नित्यानंद तिवारी ने उनकी कविता में भाषा की भूमिका के बारे में लिखा है कि 'उनकी कविता में भाषा और इतिहास की बड़ी भूमिका है, जिसे पाठक पग-पग पर अनुभव करता है। लेकिन विश्लेषण और व्याख्या के स्तर पर भाषावाद और इतिहासवाद के पैमाने अपर्याप्त साबित होते हैं। उनकी कविता का विश्लेषण बहुत कठिन है।' (प्रतिपक्ष, जनवरी, 1991, पृ. 23)

12 .3 रघुवीर सहाय की कविता में छंद

रघुवीर सहाय ने अपनी कविता यात्रा उस समय शुरू की थी जब हिंदी कविता छंदमुक्त हो चुकी थी। निराला ने छंद से कविता की मुक्ति को एक वैचारिक आयाम पहले ही दे रखा था। अज्ञेय आदि प्रयोगवादी कवियों ने भी काफी कुछ छंद के आग्रहों से मुक्ति दिला दी थी। फिर भी रघुवीर सहाय की काफी कविताओं में छंद की उपस्थिति है। वे अपने जीवन के और काव्य यात्रा के महत्वपूर्ण पड़ाव पर पहुंच कर भी यह मानते रहे कि कविता को श्रव्य भी होना चाहिए और श्रव्य होने के लिए छंद मददगार साबित होता है। इसलिए उन्होंने अपनी कविताओं में छंद के भी अनेक प्रयोग किये। कई बार तो, कवि के अनुसार, छंद स्वतः कविता के शिल्प का हिस्सा बनता गया जैसा कि 'रामदास' कविता के साथ हुआ। अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने बताया कि 'कुछ कविताओं के साथ छंद आया और अपने साथ कविता का काफी कुछ अंश

लिये हुये आया। जब कविता में छंद की ज़मीन बनने लगी तो मालूम हुआ कि इसमें छंद तो है ही ओर रहेगा भी। इसके अंदर जो भावनात्मक और वैचारिक आवेग है वह भी छंद के अंदर बनता हुआ चला आ रहा है। यह कुछ कविताओं के साथ हुआ। 'रामदास' की प्रक्रिया शुरू तो ऐसे ही हुई है।' (रघुवीर सहाय, पृ. 186) शुरू के दिनों में जब रघुवीर सहाय अपनी कविता में भाषा के साथ खिलवाड़ किया करते थे जिसे 'सीढ़ियों पर धूप में' की काफी कविताओं में देखा जा सकता है, उस समय छंद के सायास प्रयोग भी किये थे। उन्हीं दिनों की एक कविता, 'स्वागत सुख' को देखें तो वहाँ छंद सायास आया है, हालांकि कविता में वाचक उसे व्यक्तित्व का हिस्सा बताता है :

जैसे-जैसे यह लिखता हूँ, छंद बदन में नाच रहा है
मन जिस सुख को लिख आया है, फिर फिर उसको बांच रहा है
विह्वलता स्तंभित होगी यह, रच जायेगा मन में नर्तन
इससे और सरलतर होगा इस स्वागत-सुख का अभिनंदन (पृ. 129)

उन्हीं दिनों की कुछ कविताओं में छायावादी युग की छंदयोजना के प्रभाव भी दिखते हैं। उदाहरण के लिए, उनकी 'मर्म' कविता में निराला के प्रभाव को देखा जा सकता है :

तू हतविक्रम श्रमहीन दीन
निज तन के आलस से मलीन
माना यह कुंठा है युगीन
पर तेरा कोई धर्म नहीं?

यह रिक्त-अर्थ उन्मुक्त छंद
संस्मरणहीन जैसे सुगंध
यह तेरे मन का कुप्रबंध
यह तो जीवन का मर्म नहीं। (वही, पृ. 135)

उसी दौर में उन्होंने 'झेल लेंगे' कविता को पारंपरिक कवित्त छंद में लिखा, हालांकि उस कविता में अपने समय के चिंतन के साथ एक गंभीर मुठभेड़ है। ऐसा लगता है कि पूरी कविता अज्ञेय के 'क्षण' और 'मौन के फलसफे को चुनौती दे रही हो :

बैठे हो मौन, कहीं ठहरे हो अनुभव में?
पैठे हो गहरे कि बैठे हो भरे हुए?
क्षण में जीवित हो कि क्षण क्षण जीवित हो
कि क्षण में हो जीवित और क्षण में मरे हुए
हमने तो सहा था (कहा है किसी और ने)
जो हम कभी थे अब कह कर दूसरे हुए
तुम मत भुलाना बंधु, सह लेना, जी लेना
हां जी को थोड़ा और पोढ़ा करे हुए। (वही, पृ. 143)

और इस कविता का अंतिम मशहूर छंद इसी बहस का समापन करता है जो उस समय छिड़ी हुई थी :

कहिए कि धीर धरें, पीर यदि परायी हो
तो उसकी यह एक भली तदबीर है
और जो कि अपनी हो, तो सुनिए बैठ कर
कथा महाभारत की है या कि पीर है
प्रेमिका की हो तो न कष्ट आप व्यर्थ करें,
प्रेमी बात का धनी और घर का अमीर है
जग की हो तो कोई बात नहीं झेल लेंगे,

झेलने को बैठा हुआ यहाँ रघुवीर है।

शुरू की कविताओं में छंद के प्रयोग भाषिक खिलवाड़ के लिए किये गये थे, मगर बाद में उन्हें एक गंभीर कथ्य के लिए भी रघुवीर सहाय ने अपनाया। 'आत्महत्या के विरुद्ध' संकलन में काफी कविताएँ छंदबद्ध हैं और गंभीर अर्थवत्ता लिए हुए हैं, उनमें बहुत अधिक भाषिक खिलंदड़ापन नहीं, 'आयरनी' (विडंबना) का बहुत ही काव्यात्मक प्रयोग छंद में भी मौजूद है :

राष्ट्रगीत में भला कौन वह
भारत भाग्य विधाता है
फटा सुथन्ना पहने जिसका
गुन हरचरना गाता है

कौन कौन है वह जन गण मन
अधिनायक वह महाबली
डरा हुआ मन बेमन जिसका
बाजा रोज बजाता है

अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने लोठार लुट्से से कहा था कि 'मैं मानता हूँ कि अब कविता की आवाज़ जब तक लोगों के कान में नहीं पड़ेगी तब तक कविता के जो शब्द हैं उनकी सच्चाई के बारे में कवि पर कोई दबाव नहीं रह जायेगा। कवि सच्चे ही शब्द कहे, लिखे इसके लिए ज़रूरी है कि वे शब्द लोगों को सुनायी पड़ें।' (लिखने का कारण, पृ. 102) रघुवीर सहाय की यही इच्छा रही होगी जिसकी वजह से 'हंसों हंसों जल्दी हंसों' में काफी कविताएँ छंदबद्ध होकर आयीं। उस संकलन की प्रसिद्ध कविताएँ जो अक्सर 'सुनायी' पड़ती हैं छंदबद्ध ही हैं :

निर्धन जनता का शोषण है
कह कर आप हंसे
लोकतंत्र का अंतिम क्षण है
कह कर आप हंसे
....
कितने आप सुरक्षित होंगे
मैं सोचने लगा
सहसा मुझे अकेला पाकर
फिर से आप हंसे।

इसी तरह 'राष्ट्रीय प्रतिज्ञा', 'रामदास' आदि स्मरणीय कविताएँ किसी न किसी तरह के छंद के शिल्प में रची गयीं। पानी को तरसने वाली शोषित जनता के पक्षधर बनकर रघुवीर सहाय जब कविता लिखते हैं तो स्वतः ही ऐसी छंदयोजना आने लगती है जो हमें नागार्जुन जैसे कवियों में मिलती है :

बरसों पानी को तरसाया
जीवन से लाचार किया
बरसों जनता की गंगा पर
तुमने अत्याचार किया

धरती के अंदर का पानी
हमको बाहर लाने दो
अपनी धरती अपना पानी
अपनी रोटी खाने दो।

रघुवीर सहाय को अपनी कविता के लिए यदि पारंपरिक छंद की ज़रूरत महसूस होती थी तो वे उसका बेहिचक प्रयोग करते थे। 'रामदास' कविता में स्वतः ही 16 मात्राओं वाला चौपाई छंद आ रहा था तो उन्होंने उसे आने दिया, सिर्फ हर खंड की अंतिम पंक्ति में कुछ जोड़कर नयापन ला दिया, मगर वह भी प्रभाव की सृष्टि के लिए ही किया। रामदास की हत्या में अंतर्निहित त्रासदी और नाटकीयता (वस्तुनिष्ठता) को पूरे आवेग से संप्रेषित करने के लिए गीत की टेक की तरह हर खंड की अंतिम पंक्ति को लंबा कर दिया :

> खड़ा हुआ वह बीच सड़क पर
> दोनों हाथ पेट कर रखकर
> सधे कदम रख करके आये
> लोग सिमट कर आंख गड़ाये
> लगे देखने उसको जिसकी तय था हत्या होगी

छंदवाली कविताओं की रचना प्रक्रिया के बारे में रघुवीर सहाय ने खुद एक साक्षात्कार में अपने विचार यों रखे थे :

> अगर आप छंद के रूप में लिखी किसी कविता के बारे में पूछें तो यह कुछ और कविताओं की रचना प्रक्रियाओं से अलग है। इनमें तो बहुधा छंद की ज़मीन पहले आती है। उसमें कविता का जो एक तत्व है वह बहुत हवाई रूप में रहता है, लगभग एक कथ्य के, विचार के, गद्य के रूप में। जब ज़मीन बन जाती है तो उसकी शक्ल भी ज़मीन के आधार पर शुरू होती है। फिर बार-बार काटने, बदलने, बनाने का सिलसिला शुरू होता है।'
>
> (रघुवीर सहाय, सं. विष्णु नागर, असद ज़ैदी, पृ. 188)

इससे यह स्पष्ट है कि रघुवीर सहाय ने अपनी कविता की रचना प्रक्रिया में अंत तक छंद से कोई परहेज़ नहीं किया। अमली तौर पर भी देखें तो उनके काफी बाद के कविता संकलन, 'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ' में भी कई कविताएँ छंद वाली मिल जायेंगी। मसलन, 'टेलीविज़न' की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं :

> वह चेहरा जो जिया या मरा व्याकुल जिसके लिए हिया
> उसके लिए समाचारों के बाद समय ही नहीं दिया
> तब से मैंने समझ लिया है आकाशवाणी में बनठन
> बैठे हैं जो खबरों वाले वे सब हैं जन के दुश्मन

यहाँ अपनी जन पक्षधरता को सशक्त तरीके से बयान करने के लिए कवि ने अपने ही छंद की रचना की और पूंजीवादी-सामंती समाज व्यवस्था के सुपरस्ट्रक्चर के रूप में काम कर रहे टेलीविज़न की असलियत को शायद इस निजी छंद के माध्यम से व्यक्त करना उन्हें ज़रूरी लगा। इस तरह रघुवीर सहाय की कविता में छंदबद्धता या गद्यमयता सिर्फ शिल्प के पहलू नहीं थे, वे उनके जनपक्षीय कथ्य को प्रभावी बनाने के साधन भर थे। जब भी उन्हें लगता था कि उनके कथ्य को छंद ज्यादा प्रभावी ढंग से पेश कर पायेगा तो वे छंदबद्ध रचना करते थे और जहाँ गद्यमय रचना प्रभाव पैदा करती थी तो वे बेहिचक गद्यमय रचनाएँ लिखते थे।

12.4 रघुवीर सहाय की काव्यभाषा में लय

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि रघुवीर सहाय ने अपनी कविता में कथ्य के अनुरूप जहाँ छंदबद्ध कविताएँ रचीं, वहीं छंदमुक्त और गद्यमय रचनाएँ भी लिखी। यह सिलसिला भी उनकी काव्ययात्रा में शुरू से ही मिलता है। यह ज़रूर हुआ है कि वैचारिक परिपक्वता और सामाजिक सरोकारों से लगाव के विकास के साथ उनके कृतित्व में गद्यमय कविताएं ज्यादा आने लगीं। मगर उनकी कविताओं में लय का एक खास स्थान हमेशा रहा, रचना चाहे पद्यमय रही हो या

गद्यमय। प्रारंभिक दौर में वे लय को एक खास किस्म के भाषिक खिलवाड़ के लिए इस्तेमाल करते थे। बाद में जैसे-जैसे उनमें वैचारिक परिपक्वता और साधारण जन के साथ प्रतिबद्धता विकसित हुई उन्होंने भाषा की लय का तरह-तरह से प्रयोग किया और उससे बहुत ही प्रभावकारी रचनाएँ हिंदी साहित्य को दीं। विनोद दास ने ठीक ही कहा है कि 'रघुवीर सहाय काव्य वस्तु की शिराओं में ज्यादा रक्त पहुंचाने के उद्देश्य से अपने काव्य शिल्प को निरंतर खोजते और बदलते रहे। उनके काव्यशिल्प की विविधता में भी उनके लोकतांत्रिक मिजाज़ की झलक मिलती है। उन्होंने जहाँ कविता में गद्य सरीखे वाक्यांशों के लिए जगह बनायी, वहीं लय को भी नहीं छोड़ा। (रघुवीर सहाय, सं. विष्णु नागर व असद ज़ैदी, पृ. 164)

रघुवीर सहाय ने कहा है कि 'आधुनिक कविता में संसार के नये संगीत का विशेष स्थान है और वह आधुनिक संवेदना का आवश्यक अंग है। मैंने अपनी कुछ कविताओं में संगीत की खोज की है।' इस कथन से कवि की लय के संबंध में एक दृष्टि मिलती है। उनकी प्रारंभिक कविताओं में जहाँ छंद नहीं भी है, एक लय ज़रूर है। मसलन, सीढ़ियों पर धूप में, कही पहली, दूसरी, तीसरी कविताएँ देखें तो हमें उनकी शुरू की कविताओं की लय का आस्वाद ज़रूर मिलेगा। दूसरी कविता, 'शक्ति दो' की पंक्तियाँ देखिए :

शक्ति दो, बल दो, हे पिता
जब दुख के भार से मन थकने आय
पैरों में कुली की सी लपकती चाल छटपटाय
इतना सौजन्य दो कि दूसरों के बक्स-बिस्तर घर तक पहुँचा आयें
कोट की पीठ मैली न हो, ऐसी दो व्यथा...
शक्ति दो

रघुवीर सहाय ने अपनी कविता से लय को कभी गायब नहीं होने दिया। आखिरी दिनों की कविताओं में भी यह लय बराबर बनी रही। 'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ' की 'सच क्या है' कविता की ये दो पंक्तियाँ भी उस लय को झंकृत कर रही हैं जो हमें उनकी शुरू की कविताओं में मिलती हैं :

इस झूठे करुणामय मन को धिक्कार है
वह दुख ही सच्चा है जो हमने झेला है।

प्रारंभिक दौर की मशहूर कविता 'दे दिया जाता हूँ' जो कि गद्यमय है और जिसकी तारीफ अज्ञेय ने 'सीढ़ियों पर धूप में' की भूमिका में की थी आधुनिक कविता की अपनी लय को समाहित किये हुये थी, और गद्य की वह लय या आधुनिक संगीतात्मकता उनकी आखिरी दिनों की कविताओं में भी बनी रही। शुरू के दिनों की उस कविता की पंक्तियाँ देखिए :

लेकिन मैं,
जो कि सिर्फ देखता हूँ, तरस नहीं खाता, न चुमकारता न
क्या हुआ क्या हुआ करता हूँ
सुनता हूँ, और दे दिया जाता हूँ।
देखो, देखो, अंधेरा है
और अंधेरे में एक खुशबू है किसी फूल की
रोशनी में जो सूख जाती है (सीढ़ियों पर धूप में, पृ. 183)

गद्य की इसी लय को 'लोग भूल गये हैं' कविता में भी हम देखते हैं, हालांकि संवेदना के स्तर पर उनकी इस दौर की कविताओं में काफी बदलाव आया है, टोन भी बदली है, मगर लय बरकरार है :

आज के समाज का मानस यही है तुम कहते हो इस कविता में
बगैर यह जाने कि तुम कितना कम इस समाज को जानते हो

कितना कम जानते हो तुम उस डर के कारण को
आज की संस्कृति का जो मूल स्रोत है।
और क्या जानते हो तुम अतीत को?

'हंसो हंसो जल्दी हंसो' की कविताओं में विडंबना का जो कलात्मक प्रयोग रघुवीर सहाय ने किया था और शासक वर्गों की अमानवीयता को तथा उनसे जुड़े बहुत से बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य की जो मार की थी, उसमें भी एक मारक लय का संधान किया गया था। उस संग्रह की बहुत सी कविताएँ जहाँ छंदबद्ध थीं और उनकी आयरनी को बहुत ही तीखे ढंग से संप्रेषित करती थीं, वही गद्यमय कविताएं अपनी एक अलग लय छिपाये हुये थीं। उदाहरण के लिये उनकी 'बुद्धिजीवी का वक्तव्य' कविता को देखा जा सकता है -

मरने की इच्छा समर्थ की इच्छा है
असहाय जीना चाहता है।
आओ सब मिलकर उसे बस जीवित रखें
सब नष्ट हो जाने की कल्पना
शासक की इच्छा है
आओ हम सब मिलकर
उसे छोड़ बाकी सब नष्ट करें
सुंदर है सर्वनाश
वही सर्वहारा के कष्टों को सार्थक करता है
और हमारे कष्टों को मनोरंजक भी।

इस तरह हम देखते हैं कि रघुवीर सहाय की कविता में लय के अनेक स्तर हैं। उसमें पारंपरिक छंदों वाली लय भी है और एकदम बोलचाल की भाषा की लय। जहाँ गैरनाटकीय हिस्से हैं वहाँ एकदम आत्मीय बातचीत की लय है और अनेक हिस्सों में नाटकीयता और विडंबना के साथ तरह-तरह के तेवर लिए हुए लय का इस्तेमाल किया गया है। अरुण कमल ने ठीक ही कहा है कि 'रघुवीर सहाय की कविता के संबंध में बोलचाल की भाषा और लय वाली बात जड़ जमा चुकी है। लेकिन यह देखकर विस्मय होता है कि उनकी अनेक श्रेष्ठ कविताएँ पारंपरिक छंदों के नये उपयोग से निर्मित हैं। 'आपकी हंसी', 'पानी', 'एक दिन रेल में', 'लुभाना', और इनके अलावा कहीं भी अचानक किसी पुरानी लय की अनुगूंज। रघुवीर सहाय की कविता में, कवि की इच्छा के अनुसार, लय के अनेक संस्मरण है। (रघुवीर सहाय, सं. विष्णु नागर, असद ज़ैदी, पृ. 103)।

12.5 सारांश

रघुवीर सहाय की काव्यभाषा लगभग बोलचाल की भाषा है किंतु वह बोलचाल की भाषा ही नहीं है। यह भाषा अपने सहजपन में जीवन यथार्थ के उलझाव भरे ताने-बाने को, आम आदमी के कटु तिक्त अनुभवों को पूरी शक्ति के साथ अभिव्यक्त करने में समर्थ है। रघुवीर सहाय की भाषा की अन्य विशेषताएँ हैं - नाटकीयता, वक्रता तथा लोच। काव्यभाषा के बहुलार्थक रूप के बारे में भी रघुवीर सहाय ने चिंतन किया था। वे ऐसी काव्यभाषा रचने का प्रयास कर रहे थे जो ठीक-ठीक वही अनुभव अभिव्यक्त कर सके जो अभिप्रेय है। वे जानते थे कि पूंजीवादी राजनीति ने भाषा को अर्थहीन कर दिया है इसलिए वे ऐसी भाषा की खोज में थे जो भारतीय समाज के विकास के रास्ते में आने वाले खतरों से साधारण जन को आगाह करती रह सके।

रघुवीर सहाय ने छंद का भी कविता में खूब इस्तेमाल किया है। उनका मानना था कि कविता को श्रव्य भी होना चाहिए और श्रव्य होने के लिए छंद मदद करता ही है। इसलिए अपनी कविताओं में उन्होंने छंदों के अनेक प्रयोग किये।

रघुवीर सहाय ने छंदबद्ध, छंदमुक्त दोनों तरह की कविताएँ लिखी हैं। उनकी कुछ छंदमुक्त कविताएँ गद्य के करीब होने का एहसास देती हैं लेकिन लय को उन्होंने कविता से कभी गायब नहीं होने दिया। उनकी कविता में लय के अनेक स्तर हैं। उनमें पारंपरिक छंदों वाली लय भी है और एकदम बोलचाल की भाषा की लय भी।

12.6 प्रश्न

1. रघुवीर सहाय की काव्यभाषा की मुख्य विशेषताएँ बताइये।
2. रघुवीर सहाय ने छंद का अपनी कविता में किस प्रकार इस्तेमाल किया है?

इकाई 13 श्रीकांत वर्मा और उनकी कविता

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 श्रीकांत वर्मा की जीवन-दृष्टि और साहित्य-दृष्टि
13.3 रचनात्मक संघर्ष का आरंभ
13.4 काव्य में व्यक्त राजनीतिक दृष्टि
13.5 कविताओं में इतिहास और वर्तमान का द्वंद्व
13.6 भाषा और शिल्पगत विशेषताएँ
13.7 सारांश
13.8 प्रश्न

13.0 उद्देश्य

यह इकाई श्रीकांत वर्मा पर आधारित है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- श्रीकांत वर्मा की जीवन-दृष्टि और साहित्य-दृष्टि से परिचित हो सकेंगे,
- यह जान सकेंगे कि श्रीकांत वर्मा के जीवन में रचनात्मक संघर्ष का क्या रूप-स्वरूप रहा,
- उनके काव्य में अभिव्यक्त राजनीतिक दृष्टि, इतिहास और वर्तमान के द्वंद्व को समझ सकेंगे; और
- उनके काव्य की भाषा और शिल्पगत विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

श्रीकांत वर्मा उस दौर के कवि हैं जब एक ओर नयी कविता अपना रूपाकार ग्रहण करने में मुब्तिला है, दूसरी ओर नयी उम्मीदों से भरा स्वतंत्रता का माहौल है। इसी माहौल में श्रीकांत वर्मा की जीवन-दृष्टि और साहित्य-दृष्टि विकसित होती है। मुक्तिबोध की तरह वे घोषित मार्क्सवादी तो कभी नहीं रहे, किंतु जागरूक होकर नयी कविता की एकलवादी प्रवृत्तियों का जहाँ उन्होंने विरोध किया, कविता को 'वादों' में बाँधना भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। साहित्य में तटस्थता के भी वे विरोधी रहे। कविता सीधे-सीधे जनमुखी होकर जन की आकांक्षाओं का आधार-स्तम्भ बने - यह इच्छा उनकी कविताओं में मिलती है!

श्रीकांत वर्मा की कविता राजनीति की भीतरी दुनिया, राजनीति और समाज में व्याप्त रुग्णवादी प्रवृत्तियों को तीखे स्वर में अभिव्यक्त करती है। इतिहास पुरुषों, स्थलों के माध्यम से भी वे आधुनिक जीवन के तीव्र द्वंद्वों को निशाना बनाते हैं। नयी कविता की शालीनता भरी भाषा को भी उन्होंने बदला। एक नए ढंग के शिल्प में भाषा को जनमुखी बनाते हुए, उसकी अभिव्यक्ति क्षमता में उन्होंने कमी नहीं आने दी। श्रीकांत वर्मा की कविता के इन सभी पक्षों पर आइए विस्तार से विचार करें।

13.2 श्रीकांत वर्मा की जीवन-दृष्टि और साहित्य-दृष्टि

श्रीकांत वर्मा का रचनाकार जीवन हिंदी के कई अन्य प्रतिभाशाली कवियों की तरह बड़े शहरों की चकाचौंध से दूर मध्य-प्रदेश के छोटे से कस्बे बिलासपुर से शुरू हुआ था। वे निम्नवर्गीय परिवेश में पले-बढ़े, बिलासपुर में ही उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई और वहीं उन्होंने कविता लिखना

भी शुरू किया। मध्यप्रदेश कविता और साहित्य में आधुनिक संवेदना के प्रवेश के लिहाज से काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि यहीं मुक्तिबोध लिख रहे थे और हरिशंकर परसाई भी। राजनीतिक दृष्टि से भी यह काफी सजगता और सक्रियता से भरा हुआ दौर था। स्वाधीनता-संग्राम की आँच अभी तक महसूस होती थी और उसके भीतर विकसित हुई समाजवादी राजनीति का आकर्षण रचनाकारों के लिए दुर्निवार था। उस दौर के प्रायः हर रचनाकार ने इस राजनीति और इसके दार्शनिक आधार - मार्क्सवाद से किसी न किसी तरह अपना संबध ज़रूर जोड़ा। यह ज़रूरी नहीं कि स्वीकार का संबंध ही हो, लेकिन उससे उदासीन या निरपेक्ष कोई न रह सका। प्रगतिवादी आंदोलन का प्रभाव भी ताज़ा था। साहित्यिक मान्यताओं के तीव्र वाद-विवाद के स्वर वातावरण में गूँजते सुनाई दे जाते थे। इस दौर में जिसने भी साहित्य के क्षेत्र में कदम रखा, उसे अपने रचनाकार-कर्म को लेकर एक गहरी जिम्मेदारी का बोध था, वह लगभग जीवन-मरण का प्रश्न ही था। हर रचनाकार ने, एकाध अपवाद को छोड़कर, अपना पक्ष स्पष्ट रूप से सामने रखा और उसे लेकर संघर्ष को भी तैयार रहा। जिम्मेदारी के इस अहसास को श्रीकांत वर्मा द्वारा डॉ.नामवर सिंह को लिखे इस पत्र में देखा जा सकता है - '....मुझे अक्सर ऐसा लगता है कि इतिहास का दायित्व हम पर आज जितना है उतना पहले कभी नहीं था। हमारी कलम इस पीड़ा और यंत्रणा का वहन न कर सके किंतु मैं अपने माता-पिता का दुख-भरा चेहरा कैसे भूल सकता हूँ; अपने मित्रों और परिचितों की उन दर्द-भरी आँखों से कैसे छुटकारा पा सकता हूँ जो अवकाश के क्षणों में निरंतर मेरा पीछा करती हैं।' यह वाक्य श्रीकांत वर्मा की रचनाकार-दृष्टि को समझने के लिहाज से बड़ा महत्वपूर्ण है। इतिहास के गुरुतर दायित्व के अहसास के साथ नितांत व्यक्तिगत संवेदनाएँ जुड़ी हुई हैं; इस तरह इतिहास भी कोई व्यक्तिगत जीवन के बाहर घटने वाला घटना-क्रम नहीं है - वह एक वैयक्तिक भावना या संवेदना में बदल जाता है। इसलिए इसी पत्र में वे आगे लिखते हैं - 'जब कभी ऐसी रचना पढ़ता हूँ जिससे मानव-भावना और मानव-संघर्ष के गौरव को अभिव्यक्ति मिली है तो सहसा ही ऐसा लगता है - यही है जिसे वाणी देने के लिए मेरी कलम छटपटा रही है और मेरे ही एक अंश को अभिव्यक्ति मिली है।' श्रीकांत वर्मा स्वयं मानव-यातना और मानव-संघर्ष के गौरव की कविताएँ लिखना चाहते थे। वे स्वयं, जैसा कई जगह उन्होंने कहा और लिखा है, रचनाकार की छटपटाहट के चलते बिलासपुर जैसे शांत इलाके से दिल्ली जैसी आपाधापी से भरी और आधुनिक पूँजीवादी समाज के सारे अलगावों से ग्रस्त महानगरी में ला पटके गए।

श्रीकांत वर्मा अपने युग और समाज को किस प्रकार देख रहे थे। वे लिखते हैं, '1960 के आसपास मेरे चारों ओर मृत्यु की, सिर्फ़ ग़रीबी, भुखमरी और असहायता से उत्पन्न मृत्यु नहीं बल्कि ऐसी मृत्यु जिसे सैकड़ों नामों से पुकारा जा सकता है, जैसे कि आत्मनिर्वासन, सामाजिक पलायन, प्रेम-विफलता, मूल्यहीन संसार में जीने का अहसास, मानवीय क्रूरता, करुणाविहीनता चारों ओर 'मारो' या 'मार दिया गया' का शोर।' अपनी वर्गीय सीमाओं से बाहर निकलकर अधिक विकसित सामाजिक समुदाय का हिस्सा होने की जद्दोजहद में एक संवेदनशील व्यक्ति को जो चोटें लगती हैं, उन सबका बयान इन पंक्तियों में पढ़ा जा सकता है। गरीबी, भुखमरी, असहायता के प्रमाण बड़ी संख्या में विपन्नता में मिल रहे लोगों की ज़िंदगियों में थे। श्रीकांत वर्मा इस अभाव को वाणी देना चाहते थे। पहले कविता-संग्रह 'भटका मेघ' की भूमिका में उन्होंने उन साहित्यिक प्रवृत्तियों पर आक्रमण किया है जो 'आज के साहित्य' को 'व्यक्तित्व की खोज' के साहित्य के रूप में परिभाषित करना चाहती हैं। उनके अनुसार इस परिभाषा में अंतर्निहित है व्यक्तित्व को सामाजिकता से वंचित करने का प्रयास और उसे एक सामुदायिक जीवन-क्रम से, जिसे इतिहास भी कह सकते हैं, निकालकर अपने क्षणों तक सीमित करने का षड्यंत्रः तब नयी कविता 'क्षणों के महात्म्य' का साहित्य हो जाती है; तब मनुष्य एक जीवन नहीं जीता, क्षण जीता है। एक आदमी का जीवन-संघर्ष, उसके अंतर्द्वंद्व और मनोपीड़ाएँ स्वयं में महाकाव्य की क्षमता रखती हैं; किंतु 'अन्वेषी' साहित्यकार की दृष्टि में इन असंख्य क्षणों में कोई परस्पर संबंध नहीं, उनका कोई मेरुदंड नहीं, वे सब असम्बद्ध तथा स्वयं में संपूर्ण और 'स्वतंत्र' हैं। फलस्वरूप 'दायित्व' भी क्षण के ही प्रति! 'स्वतंत्रता' भी क्षण की, 'दायित्व' भी क्षण का।

श्रीकांत वर्मा के लिए 'स्वतंत्रता' और 'दायित्व' गहन आशयो से युक्त सामाजिक मूल्यों के रूप में वरेण्य थे, उनके अपने ऐतिहासिक संदर्भ थे। समाज और इतिहास से विलग करने का अर्थ यह होता कि स्वतंत्रता प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न हो सकती है, दायित्व भी भिन्न हो सकता है - तब ये किसी सामुदायिक भावना से संबंधित होंगे ही नहीं - बल्कि समुदाय या समाज बनेगा ही नहीं। व्यक्तित्व के अपने दर्द की विशिष्टता पर बल के कारण किसी सामाजिक पीड़ा की बात करना व्यर्थ होगा। श्रीकांत वर्मा के समक्ष यह बहुत स्पष्ट था कि यह दृष्टि सही नहीं है, बल्कि यह समाज को अधिक अलगाव, इसलिए अधिक यंत्रणा की ओर धकेलती है। उनकी यह मान्यता भी थी कि दुख, नैराश्य, कटुता, घृणा तथा कुंठा के साथ-साथ जीवन में सौंदर्य भी है, प्रेम और आस्था के स्वर भी हैं। पहले हम पढ़ चुके हैं कि वे मानव-संघर्ष के गौरव' को अतिशय महत्व देते हैं। अनास्था उनकी रचना-दृष्टि का मूल्य न थी, मानव-संघर्ष का अर्थ उनके लिए सौंदर्य, प्रेम और आस्था की व्याप्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाने से था।

श्रीकांत वर्मा ने अपने पहले काव्य-संग्रह की भूमिका में ही कहा कि 'हर युग का प्रगतिशील साहित्य एक नए एवं जीवंत व्यक्तित्व को स्थापित करता है। प्रश्न यही है कि आज की जीवंत कविता में कौन-सा व्यक्तित्व उभर रहा है? आज के जीवंत मूल्य कौन-से हैं? ये मूल्य क्या अकेले एक व्यक्ति के हैं या संपूर्ण समाज के? 'तारसप्तक' का प्रकाशन हो चुका था जिसमें अज्ञेय ने कवि को 'राहों का अन्वेषी' कहा था। श्रीकांत वर्मा ने कहा कि सिर्फ राहों का अन्वेषी कह देने से काम नहीं चलता। वे राहें कौन-सी हैं? उनका अन्वेषण कैसे किया जा रहा है? क्या इस खोज के लिए कोई रोशनी जलाई गई है? - 'राहों का अन्वेषण करने के लिए भी किसी मशाल की ज़रूरत होती है। अंधकार के खंडहरों में भटककर 'चिमगादड़' के पंखों की फड़फड़ाहट को ही जीवन का एकमात्र चिह्न मान लेना एक और बात है, पथ की खोज करना एक दूसरी बात।' देखना कठिन नहीं कि अपनी ही कुंठाओं में घुलते रहने की जगह वे सामाजिक मुक्ति के प्रयासों में शामिल होने को रचनाकार के दायित्व के रूप में चिह्नित करते हैं - पल की खोज का अर्थ आत्मा की मुक्ति नहीं, एक सामाजिक इकाई के रूप में मनुष्य की मुक्ति के मार्ग की खोज से है। इसलिए रचनाकार को ठोस, वास्तविक सामाजिक शक्तियों के साथ एक संबंध भी बनाना पड़ता है।

श्रीकांत वर्मा की इन साहित्यिक मान्यताओं का कुछ संबंध उनके अपने समय के और उन्हीं के प्रदेश के मूर्धन्य मार्क्सवादी कवि गजानन माधव मुक्तिबोध के साथ उनकी निकटता से भी है। जैसा विद्वानों ने ठीक ही लक्ष्य किया है, यह संबंध सैद्धांतिक स्तर पर भी था। मुक्तिबोध के नज़दीक जाने पर उनके जीवन-मूल्यों और साहित्यिक मूल्यों से स्वयं को असम्पृक्त रखना किसी भी ईमानदार व्यक्ति के लिए असंभव था। श्रीकांत वर्मा के साथ भी यही स्थिति थी। डॉ. नंदकिशोर नवल ने श्रीकांत वर्मा पर अपने निबंध में लिखा है, 'मुक्तिबोध से प्रभावित होने का मतलब था नयी कविता के अंतर्विरोध को समझना और प्रगतिशील आलोचकों की तरह नयी कविता को नकार कर नहीं, बल्कि स्वीकार कर नई सृजनशीलता के धरातल पर प्रगतिशील कविता की रचना करना।' डॉ. नवल ने अनुमान किया है कि नरेश मेहता के साथ नई दिल्ली से 'कृति' की शुरुआत के पीछे मुक्तिबोध की प्रेरणा काम कर रही होगी। प्रगतिशीलता की एक नई परिभाषा करने की कोशिश मुक्तिबोध कर रहे थे और उसमें वे साथी भी खोज रहे थे।

श्रीकांत वर्मा स्वयं को इन आरंभिक वर्षों में वामपक्षी मानते थे और यह बताना चाहते थे कि सच्ची व्यक्तिगत स्वाधीनता की सही परिकल्पना उन जैसे कवियों के पास है, व्यक्तिगत स्वाधीनता का ढोल पीटने वाले व्यक्तिवादियों के बीच नहीं। यहाँ वे स्पष्टतः स्वयं को वैसे लेखकों से अलग करते हुए दीखते हैं जो साहित्य में तटस्थता के सिद्धांत को प्रतिपादित कर रहे थे। 'कृति' के दूसरे संपादक नरेश मेहता के 'तटस्थता : एक सैद्धांतिक स्वीकृति' शीर्षक संपादकीय की जिम्मेदारी लेने से इन्कार करते हुए डॉ.नामवर सिंह को उन्होंने पत्र लिखा - राजनीति में तटस्थता का जो भी महत्व हो - और है - साहित्य में तटस्थता जैसी कोई चीज़ नहीं। असल में यह प्रश्न कमिटमेंट का है। आज प्रगतिशील लेखक संघ जैसी कोई चीज़ नहीं।

पर पक्ष दो हैं : एक अपनी रीढ़ टूट जाने के खतरे के बावजूद, समूचे इतिहास से स्वयं को सम्बद्ध पाने वाले नवयुवकों का, दूसरा अपने को इस इतिहास से पृथक् एक निरैतिहासिक क्षण मात्र में जीवित पाने वाले व्यक्तिवादियों का। व्यक्तिवादी संगठित हैं, इसलिए स्पष्ट नज़र आते हैं, समाजवादी असंगठित हैं, इसलिए बिखरे और अस्पष्ट हैं। पर तटस्थ साहित्य जैसी कोई चीज़ आज नहीं।......हमारे सामने जो ऐतिहासिक प्रश्न उपस्थित हैं, मैं अब उनपर शांतिपूर्वक विचार करना चाहता हूँ और निर्णय लेना चाहता हूँ। अगर निर्णय हम लोगों ने नहीं लिया तो आगे आने वाली कोई भी पीढ़ी नहीं लेगी।'

इतिहास-बोध के कारण ही मनुष्य में दायित्व और प्रतिबद्धता का बोध उत्पन्न होता है। इसका अर्थ है अपना पक्ष तय करना। पक्ष तय करना अस्तित्ववादी निर्णय तो है ही, वह राजनीतिक निर्णय भी है। 1963 में मुक्तिबोध को लिखे एक पत्र में उन्होंने लिखा - 'मैं अब भी एक वामपक्षी समाजवादी समाज में विश्वास करता हूँ (और करूँगा) क्योंकि मनुष्यता के लिए एकमात्र रास्ता यही है।' श्रीकांत वर्मा जैसे लेखकों के सामने संकट यह था कि वे अपना जो राजनीतिक पक्ष तय कर रहे थे उसकी प्रवक्ता पार्टियाँ अवसरवाद की शिकार थीं। उन्होंने शिकायत की - 'अगर विचारधारा को छोड़ दिया जाए तो व्यवहार और कर्म से वाम और दक्षिण में कोई अंतर नहीं रह गया है।' इसलिए '.... किसी भी ईमानदार आदमी की आस्था ऐसी अवस्था में इन व्यक्तियों और कुछ हद तक इन पार्टियों पर पूरी तरह नहीं हो सकती। आस्था का केंद्र, जैसा कि मैं देख रहा हूँ, अब राजनीति से हटकर नंगे, निःशस्त्र मनुष्य की ओर होता जा रहा है।' यहाँ उनके चिंतन में जो द्वंद्व पैदा होता है, वह इस समझ की ओर ले जाता है कि अगर इसका मतलब साहित्य को अराजनैतिक बनाने से है, तो वह बुरा नहीं क्योंकि मध्ययुग के बाद यह बिना किसी माध्यम के मनुष्य से सीधे-सीधे बात करने की पहली कोशिश होगी। वे लिखते हैं - 'साहित्य से राजनैतिक अनुभवों का बहिष्कार करने की बात कोई भी बुद्धिमान आदमी नहीं करेगा मगर किसी भी पार्टी की माँग या राजनैतिक ज़रूरतें किसी साहित्य के मूल्यांकन का आधार नहीं होनी चाहिएँ।

श्रीकांत वर्मा के 'भटका मेघ' से लेकर 'मगध' और 'गरुड़ किसने देखा है' तक की काव्य-यात्रा से गुज़रने पर उनके काव्य की राजनीतिक संवेदना को पहचानना कठिन नहीं है। लेकिन यह श्रीकांत वर्मा की नितांत निजी राजनीतिक संवेदना है, जो घरेलू अनुभवों, अभावों, पीड़ाओं, पारिवारिक सफलताओं और असफलताओं के साथ इस तरह गुंथी हुई है कि यह फर्क करना कठिन है कि वह कितनी वैयक्तिक है और कितनी निर्वैयक्तिक। निर्वैयक्तिकता उनके काव्य-स्वभाव के अनुकूल न थी। 'भटका मेघ' का पहला संस्करण 1957 में प्रकाशित हुआ था। उसके लगभग 25 साल बाद उसके दूसरे संस्करण की भूमिका में श्रीकांत वर्मा ने लिखा - 'भटका मेघ' की कविताएँ.....मुझे बहुत दूर की लगती हैं। लेकिन अब उन्हें गौर से पढ़ता हूँ, दोहराता हूँ....तो वे अभी कल की ही बात लगती हैं - मेरे घर की बात, मेरे घर के पीछे बहती नदी की बात, जंगलों में गुज़रे मेरे बचपन की बात, पहाड़ों के समकक्ष अपने छुटपन की बात।' 'भटका मेघ' और 'सरहद' की कविताएँ इसी भावभूमि पर रची गईं इसलिए उनमें आशा और आस्था का एक सरल, निर्दोष स्वर सुनाई पड़ता है। एक आलोचक ने लिखा है कि 'मुक्तिबोध ने यथार्थ को उसकी जटिलता के साथ आत्मसात् कर मनुष्यता के विजय-अभियान में अपनी अखंड आस्था का परिचय दिया, वहाँ श्रीकांत वर्मा ने सरल ढंग से आशा और विश्वास से युक्त स्वर को अपनी कविता में अभिव्यक्त किया। यही कारण था कि मुक्तिबोध का जहाँ अपनी आस्था से मोहभंग नहीं हुआ, वहाँ श्रीकांत वर्मा ज़िंदगी के यथार्थ का पहला झटका लगते ही दूसरे छोर पर आ पहुँचे।'

उन्होंने यह भी लिखा है कि श्रीकांत वर्मा ने अपनी कविता में मानव-यातना का चित्रण नहीं किया, मानव-संघर्ष का भी चित्रण नहीं किया। ये निष्कर्ष थोड़ी जल्दबाज़ी से भरे हुए हैं क्योंकि श्रीकांत वर्मा की कविता मुक्तिबोध से भिन्न चरित्र की कविता है। दूसरे, मुक्तिबोध पक्के तौर पर मार्क्सवादी कवि थे, वे मार्क्सवाद द्वारा दी गई, जो उनके समय प्रायः स्वीकृत थी, सामाजिक विकास-क्रम की अवधारणा में विश्वास करते थे। श्रीकांत वर्मा मोटे तौर पर

वामपंथी रुझान के बावजूद मार्क्सवादी न थे और मनुष्य को सामाजिक इकाई मानने के बाद भी उनके सामने वह संगठित जन-शक्ति स्पष्ट न थी जो उनके युग बंधनों में जकड़े मनुष्य को पूँजीवादी अलगाव और उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने का आश्वासन हो सकती थी।

13.3 रचनात्मक संघर्ष का आरंभ

श्रीकांत वर्मा की काव्य-रचना के आरंभ काल की पृष्ठभूमि में 'तार सप्तक' का आतंक तो था ही, व्यक्ति और समाज के संबंध को लेकर चलने वाली गर्मागर्म बहस थी, राजनीति के बदलते स्वरूप को लेकर चलने वाला विवाद था। लेकिन यह स्वाधीन भारत का उषा काल था - वातावरण में नएपन की, आरंभ करने की, कुछ खोजने और बनाने की ललक भरी खुशबू थी। स्वतंत्रता की यह भावना संक्रामक थी, वर्ग-संघर्ष में विश्वास करने वाले और आज़ादी को सिद्धांततः झूठी मानने वालों पर भी वह असर डाल रही थी, औरों का तो कहना ही क्या! श्रीकांत वर्मा के समकालीन केदारनाथ सिंह की भी उस दौर की कविताओं में उत्साह, उल्लास, उमंग के दर्शन होते हैं। संशय का स्वर भी है, लेकिन वह उतना प्रबल नहीं है। खोज की आकुलता, कुछ नया कर डालने की व्यग्रता, चारों तरफ चल रहे उत्सव में अपना स्वर मिलाने की बेकली - ये सब श्रीकांत वर्मा की आरंभ की कविताओं में है। आस्था-विश्वास का स्वर अत्यंत ही दृढ़ है और दृष्टि साफ़ मालूम पड़ती है :

> हम समय की नब्ज़ हैं, जन को नब्ज़ से पहचानते हैं।
> हम मनुज को कवि, समय को एक कविता मानते हैं।

'कविता की खोज' शीर्षक इस कविता में वे कहते हैं - 'दृष्टि में मेरी, दिशा, नवकमल जैसी खिल गई है।'

ऐसा नहीं कि इस रूमानियत के चलते वे यथार्थ को जैसा वह था, देख नहीं पा रहे थे। 'संघर्ष-काल' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

> हर एक दिशा में मुझे दरारें दिखती हैं,
> शायद यह आँखों का भ्रम है।
> ये फटे-फटे सपने,
> ये पंखनुची चिड़ियाँ,
> यह सब कुछ कितना निर्मम है।
> आत्मा के अंदर हिप्पोपोटेमस-सा दर्द चिंघाड़ रहा है।.....
> कोमलताओं की जांघों पर है।
> छींटे ताज़े लहू के।

यंत्रणा की इस तीव्र अनुभूति के बावजूद आस्था का स्वर टूटा नहीं है :

> मेरी सिसकी मरसिया नहीं है जीवन का।
> मेरी गहरी चेतना प्रशांत पानियों-की
> दुख के अणु विस्फोटों से
> कभी-कभी ऐसे कंप जाती है।
> लेकिन मेरे साहस के नागासाकी ने
> अंतिम सांसों तक आत्मसमर्पण नहीं किया है।

'साहस का नागासाकी' में नागासाकी से अपने आपको जोड़ना मानीखेज है क्योंकि इससे कस्बे में रह रहे कवि की संवेदना के विस्तार का पता चलता है। जीवन जैसे श्रीकांत वर्मा की कविताओं में छलक पड़ता है :

मैं हर बच्चे की आँखों में।
मैं हर लैला के
ओंठों पर।
मैं हर सुहाग की बिंदी में।
मैं मेंहदी रची।
हथेली पर,.....
....
सत्य नहीं वह जो चला गया।
.....सत्य वह
जो तुममें शेष है।
छटपट कर, हिम की हर परत तोड़ते
बौने अंकुर-सा शेष है।
प्राप्ति वह
जो कलमों, फूलों और मुट्ठी में
शब्द और सृजन और सीपी-सा शेष है।
....
आओ / इन हाथों को मिट्टी या आग
या अंधेरे में सान दो
और समय को
नूतन आकृतियों में पकड़ो।

यह आस्था, जो अखंड और अभेद्य लगती है, समय गुज़रने के साथ वैसी ही न रह गई। जीवन के यथार्थ ने जब अपना शिकंजा कसना शुरू किया तो शंकाएँ पैदा हुईं - आस्था पर प्रश्न-चिह्न लग गया, अपनी शक्ति पर वैसा निर्द्वंद्व भरोसा नहीं रहा :

टिड्डे, चूहे, गदहे, गीदड़, डरपांक सब
घेरकर तुझे चहुँ ओर
गोया तमाशबीन :
देखें तू कैसे उड़ता है! तू कैसे
हमसे ऊँचे उठता है! कैसे
तू तलफ-तलफ मेघ जोहता है
पर माथे की शर्म नहीं बेचता।

'नये अनुभव की सरहद पर इस दृष्टि से उल्लेखनीय कविता है :

नये अनुभव की सरहद पर
ठिठक गये पाँव
लगा, छोड़ कहीं आया
पीछे अपनी छाँव
लगा, छूट गई हाथों से डोर -
खिचीं थीं जिससे चिड़िया और गंध
बंधा था जिससे उत्सव का शोर।
लगा, अब न कभी बजरे संग
डोलेंगे कूल।
लगा, अब न कभी होगी
अपने अंदर भोर।
लगा, मुझको पहुँचा सरहद तक
पीछे लौट गया गाँव।

अंतिम दो पंक्तियाँ श्रीकांत वर्मा के नए अनुभव के इलाके के बारे में बताती हैं, जहाँ उनकी बेचैनी उन्हें ले गई थी। अपने पुराने अनुभव-लोक के बारे में वे लिखते हैं - 'यह सब बना भी रहता यदि मुझे रचनाकार के संघर्ष ने अजनबी, अपरिचित, भयानक, निर्जन, सुविधा-सम्पन्न, जादुई विपुल आधुनिक संसार में न ला पटका होता।' इस नई दुनिया में वे कभी ठीक तरह रह न सके - 'इस संसार को मैंने पूरी तरह कभी भी स्वीकार नहीं किया, सिर्फ लड़ता रहा।....इसी तमाम लड़ाई की छाप, पंजों के चिह्न, रक्त-स्थल गाथा मेरी बाद की कविताओं में हैं।'

बिलासपुर से दिल्ली पहुँचने के बाद भी वे अपनी पुरानी जगह को याद करते रहे। उन्होंने लिखा - 'इसके बावजूद कि मैं पच्चीस साल की उम्र में दिल्ली आ गया - आज भी मेरी जड़ें परिवार और उसके परिवेश में हैं - बावजूद इसके कि आधुनिकता मेरे लिए एक 'फेटिश' बन गई और पश्चिमी माहौल और संस्कृति ने मुझे आक्रांत कर दिया कि उससे उत्पन्न मृत्युबोध ने मुझे पूरी तरह दबोच लिया, तब भी मेरी जड़ें अब तक उखड़ नहीं पाई हैं।' अपनी प्रसिद्ध कविता 'घर-धाम' में उन्होंने इच्छा व्यक्त की - 'मैं घर जाना चाहता हूँ।' लेकिन 'भटका मेघ के दूसरे संस्करण की भूमिका में यह तकलीफदेह सच कबूल किया - '....घर लौटना नामुमकिन है, क्योंकि घर कहीं नहीं।' यह निर्वासन-बोध श्रीकांत में अंत तक बना रहा, स्थिरता के रूपक उनकी कविताओं में कम ही मिलते हैं - सतत यात्रा करने को बाध्य एक व्यक्ति की गाथा ही अलग-अलग रूप में सुनाई देती है।

श्रीकांत वर्मा के साथ ट्रैजिक घटना हुई कि वे बिलासपुर से दिल्ली आने के बाद एक ऐसे राजनीतिक दल के साथ जुड़ गए जो सत्ता में लंबे समय तक रहने के कारण जन-भावनाओं की कद्र करना भूल-सा गया था। राजनीति समाज-परिवर्तन की कार्रवाई न रहकर व्यक्तिगत आत्मोत्थान का सबसे आसान रास्ता बन गई थी। ऐसे हालात में श्रीकांत वर्मा जैसा कस्बाई मानवीय संवेदनाओं से युक्त कवि यदि उस दल में सिर्फ पर्चा-पोस्टर लिखने वाले या उसकी प्रचार की रणनीति तैयार करने वाले की भूमिका में शेष हो जाए तो इससे बड़ी दुर्घटना और क्या हो सकती थी? दिल्ली जाने के बाद वे पत्रकार हुए; यह काम दूसरे लेखकों-कवियों ने भी किया था। लेकिन श्रीकांत वर्मा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रचार-तंत्र के अंग बन गए। इसने उन्हें हर स्तर पर क्षत-विक्षत किया। इस विनाश का स्पष्ट उल्लेख उनके पत्रों में, डायरी में तो है, उनकी कविताओं में यह कहीं प्रत्यक्ष और कहीं अप्रत्यक्ष रूप से मिल जाता है। हालांकि श्रीकांत वर्मा स्वयं को राजनीतिज्ञ की भांति ही देखते थे, लेकिन यह भी उनके लिए एक दुखदायी तथ्य था कि वे निर्णय नहीं ले सकते थे - वे तो, जो निर्णय लिए जा रहे थे - उनकी इच्छाओं से बिल्कुल स्वतंत्र - उनकी घोषणा करने भर की भूमिका में थे। सर्वोच्च स्थान उन्हें पार्टी का महासचिव और प्रवक्ता बनाकर दिया गया जहाँ उनका काम उन निर्णयों का औचित्य बताने-भर का था। श्रीकांत जी अपने काम को जितना महत्वपूर्ण समझते थे, वह संभवतः पार्टी नेतृत्व की निगाह में वैसा नहीं था। पार्टी के लिए की गई सेवा के बदले उन्हें राज्यसभा की सदस्यता दी गई। वे मंत्री-पद चाहते थे, जो उन्हें कभी मिला नहीं। अपने आसपास के अल्प-प्रतिभायुक्त लोगों को, सिर्फ चापलूसी के बल पर उन्नति की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए देख उनका निर्लिप्त रहना संभव न था। अलग-अलग प्रकार की महत्वाकांक्षाओं ने उतनी ही तरह की कुंठाओं को जन्म दिया। श्रीकांत वर्मा पर मनोवैज्ञानिक दबाव इतना अधिक था कि उनका शरीर साथ छोड़ने लगा। उनकी डायरी में एक प्रविष्टि है - 'मैं एक चक्रव्यूह में फँस गया हूँ। निकलना चाहता हूँ। रास्ता नहीं मालूम। जिधर से निकलने की कोशिश करता हूँ, सिर दीवार से टकरा जाता है।'

शायद यहीं मारा जाऊँ, इसी तरह, इस चक्रव्रूह के भीतर, छटपटाता दीखता, चिल्लाता, आर्तनाद करता हुआ! अरण्य रोदन।'

प्रायः यह कहा जाता रहा है कि श्रीकांत वर्मा एक दोहरी ज़िंदगी जीते थे। असलियत यह है, जैसा ऊपर के उन्हीं के वाक्यों से प्रतीत होता है, वे निरंतर एक भयानक द्वंद्व झेलते रहे, और

जैसा कुछ आलोचकों ने ठीक ही लक्ष्य किया है, उसी से अपने रचनाकार के लिए शक्ति भी प्राप्त करते रहे। 1985 में बुल्गारिया के राष्ट्रपति त्वोदीर ज्विकोव से बातचीत में अपने राजनीतिक जीवन और कवि-जीवन के संबंध के बारे में उन्होंने कहा - 'मैं असल में अपने भीतर चौबीसों घंटे तक लड़ाई लड़ता हूँ और इसमें कोई जख्मी नहीं होता, कोई मेरे हाथों मारा नहीं जाता, सिर्फ मैं लहूलुहान होता हूँ। कभी राजनीति कविता पर हमला करती है, कभी कविता राजनीति पर। मैं दोनों का द्वंद्व-युद्ध रोकने के प्रयत्न में स्थायी तौर पर जख्मी होकर रह गया हूँ - जख्मी, मगर अपंग नहीं।'

एक समय ऐसा आया जब कवि-रूप में श्रीकांत वर्मा की चर्चा बंद-सी हो गई, लेकिन 1984 में 'मगध' के प्रकाशन ने सबको चौंका दिया। वह उनकी रचनात्मक ऊर्जा का भयानक विस्फोट था - इसकी चेतावनी भी कि किसी ईमानदार कवि या रचनाकार पर अंतिम रूप से फैसला सुनाना हमेशा खतरों से भरा होता है। श्रीकांत वर्मा ने उन आलोचकों से सहमति व्यक्त की जो उनकी कविताओं का स्थायी स्वर 'अवसाद' को मानते हैं। यह अवसाद क्यों कर पैदा हुआ? एक निम्न-मध्यवर्गीय भारतीय युवक के अपने परिवेश में सही जगह न पा सकने के कारण, सामाजिक संबंधों में आती जा रही टूटन के कारण, मानवीयता के दिनोंदिन असंभव होते जाने के कारण या जिन जीवन मूल्यों को उसने स्वीकार किया था, उनसे मोहभंग के कारण? श्रीकांत वर्मा की आरंभिक कविताओं में जो एक सहज उल्लास दिखाई देता है, आगे चलकर धीरे-धीरे वह मंद पड़ता जाता है और निराशा उसे दबा देती है। स्थिति यह है :

उन्नति के इस राजनगर में
और कुछ नहीं सूर्य मरा है।
मैं सूरज का शव
अपने कंधों पर लेकर घूम रहा हूँ।
सूर्य हीन इस प्रेत-नगर में
इस संध्या से उस संध्या तक
जीवन का क्रम नहीं
आह! मरने का क्रम है।

'नगरहीन मन' की इन पंक्तियों के साथ अगर उनकी अन्य कविताओं को भी देखें तो एक असमर्थता, असहायता का भाव सुनाई पड़ता है :

सारा का सारा सका न पा,
सारा का सारा सका न दे।
मैं तुममें घुटता रहा और
अपने में चुकता रहा किंतु
तुमको मैं सका न पा
अपने को सारा सका न दे।

इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि श्रीकांत वर्मा को अपने विद्रोह के सफल होने पर भी संदेह होने लगा है :

क्या किसी बगूले-सा
रह जाएगा उठकर मेरा विद्रोह?
भूमि क्या मुझे भी लेगी कहीं बटोर?
मेरा क्या होगा?
निद्रा में डूबे तुम सुन पाओगे क्या
ऐतिहासिक पदचाप?
अनसुना रहा तो क्या भींगेगी कोर?
शाम नहीं, यह मेरे प्रश्नों की भोर?

मोहभंग की यह प्रक्रिया किसी एक दौर में सिमटी हुई नहीं है। आगे चलकर 'मायादर्पण' नामक संग्रह के प्रकाशन में यह एक परिणति को प्राप्त होती दीखती है, लेकिन अवसाद की तरह ही, यह श्रीकांत वर्मा के संपूर्ण कवि-जीवन का स्थायी स्वर मालूम पड़ता है। 'एक सर्वथा दुख' में वे लिखते हैं :

अपने दुख में स्वयं अपरिचित लोग
नहीं जानते हैं वे
झगड़ रहे हैं अथवा पीड़ा में चीत्कार रहे हैं।
....
औरों को निष्कासन नहीं दे रहे हैं वे
अपने दुःख से भाग रहे हैं
...कोई सुखी नहीं है।

दुःख का यह सर्वग्रासी अनुभव, लयविहीन दुनिया में रहने की मजबूरी एक भयानक बेचैनी को जन्म देती है :

मेरे पास हैं कुछ कुत्ता-दिनों की
छायाएँ
और बिल्ली-रातों के
अंदाज़

एक व्यर्थ का बोध चारों ओर से पीसे डालता है : 'मैं अपने दिन और रातों / का क्या करूँ? यह मूल्यों, मान्यताओं, विश्वासों, नैतिकताओं के क्षरण का युग है। उदात्त भावों के लिए जगह नहीं रह गई है। श्रीकांत वर्मा की इस दौर की कविताओं के शब्द-प्रयोगों, वाक्य-रचनाओं को देखने पर पता लगता है कि ज़िंदगी के इस 'सिनिसिज़्म' को वे कितनी कुशलता के साथ एक काव्यात्मक संभावना में तब्दील करने में लगे हुए थे। एक तुच्छ होते जा रहे जीवन में स्वयं को कवि' जैसी प्रतिष्ठा देना भी मज़ाक ही है :

मगर खबरदार! मुझे कवि मत कहो।
मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ।
ईज़ाद करता हूँ
गाली
फिर उसे बुदबुदाता हूँ।

'मायादर्पण' नामक इस कविता में, जिसकी ये पंक्तियाँ हैं, आत्म-स्वीकृति है, अपनी महत्वाकांक्षा की क्षुद्रता की पहचान है और इसके कारण एक व्यर्थता-बोध भी :

मैं कई साल से
पता नहीं अपनी या किसकी
शर्म में
गड़ा हूँ!
......
काफी दिनों से मैं
अनुभव करता हूँ तकलीफ
अपनी नाक में।
मुझे पैदा होना था अमीर घराने में।

अमीर घराने में
पैदा होने की यह आकांक्षा
साथ-साथ / बड़ी होती है।

हरेक मोड़ पर / प्रेमिका की तरह
मृत्यु / खड़ी होती है।

यह जो दर्द है, तकलीफ है - इसकी असलियत यह है कि यह 'अपनी नाक में' हो रही है। इसे किसी भी प्रकार व्यापक मानवता के दर्द से जोड़ना संभव नहीं। इसलिए एक कठोर सत्य उन्हें मालूम है - 'मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ, किसी के न होने से कुछ भी नहीं होता; मेरे न होने से कुछ भी नहीं हिलेगा।' वे किसी भी प्रकार की भावुकता का निषेध करते हैं, स्थिति को, जैसी वह है, वैसी ही नंगी आँखों से देखने पर ज़ोर देते हैं :

नाटक की समाप्ति पर
आँसू मत बहाओ।
रेल की खिड़की से
हाथ मत हिलाओ।

यह ठीक है कि कोई भी कवि पूरी ज़िंदगी एक ही कविता अलग-अलग ढंग से लिखता रहता है और यह भी कि एक स्तर पर हर रचना आत्माभिव्यक्ति होती है। श्रीकांत वर्मा ने लिखा - 'मैंने आरंभ से लेकर अब तक स्वयं को ही लिखा है।' कहने की ज़रूरत नहीं कि उनका यह 'मैं' उनके परिवेश से सम्पृक्त है। इसमें अपने जीवन की विफलताएँ, दुख, धोखे - सब शामिल थे। व्यक्तिगत जीवन की परेशानी के साथ-साथ चारों ओर बढ़ते भ्रष्टाचार, अनैतिकता और निर्लज्जता को देखते-देखते उनके स्वर में कड़वाहट बढ़ती गई। वे इसी समय डॉ. राममनोहर लोहिया के संपर्क में आए, जो सच्चे अर्थों में एक चिर-व्यवस्था विरोधी अराजकतावादी थे। श्रीकांत वर्मा ने लिखा है कि वे भारतीय बुर्जुआ वर्ग के लिए एक उद्धत व्यक्ति थे। श्रीकांत वर्मा का कटु स्वर भी उद्धत होता गया। वे जैसे इस भद्र, सुरुचिपूर्ण नैतिकता की नकाब को नोंच फेंकने के लिए ही अपनी कविताओं के नाखून बढ़ाने लगे।

13.4 काव्य में व्यक्त राजनीतिक दृष्टि

शुरू में हम देख चुके हैं कि मुक्तिबोध और डॉ.नामवर सिंह को लिखे अपने पत्रों में श्रीकांत वर्मा लिखते रहते थे कि वे स्वयं को वामपंथी मानते थे, कविता में राजनीतिक तत्व को अनिवार्य समझते थे और एक प्रकार की 'प्रगतिशील' कविता का अस्तित्व भी मानते थे। आगे चलकर उन्होंने अपनी मान्यताओं में परिवर्तन किया। 'जन-साहित्य' जैसी किसी अवधारणा को अस्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा कि कोई भी साहित्य या तो साहित्य होता है या साहित्य नहीं होता। जो लेखक अपने अनुभव से बाहर प्रामाणिकता को खोजने के लिए भटकते फिरते हैं, वे साहित्य के नाम पर समाजशास्त्र, राजनीति, दर्शन और चिकित्सा की पुस्तकें लिखते हैं। अशोक वाजपेयी ने 'आलोचना' में 'विचारों से विदाई' नामक अपने प्रसिद्ध लेख में इस बात पर क्षोभ व्यक्त किया था कि युवा लेखन का बड़ा हिस्सा विचारहीनता का शिकार है। श्रीकांत वर्मा ने इस आग्रह को खतरनाक मानते हुए लिखा - 'विचार एक खतरनाक शब्द है। अक्सर जब राजनेता, कमिस्सार या आलोचक कविता के जरिए 'विचार' की माँग करते हैं तब उनका अभिप्राय 'प्रचार' होता है।' इसलिए उनके अनुसार 'बीसवीं सदी ने उन्नीसवीं सदी को विदाई देते हुए हमेशा के लिए कविता से विचारों को - आग्रह, मांग और चिंतन, तीनों ही अर्थों में - विदाई दी। यदि आज कोई कविता से विचारों की विदाई पर दुख व्यक्त करता है तो वह एक ऐसी व्यवस्था की पुकार करता है जिसमें कि कविता में मनुष्य की उपस्थिति ही काफी नहीं होती, मनुष्य पर फैसला देने वाली या अव्यक्त सत्ता की आतंक भरी मौजूदगी भी ज़रूरी होती है।' श्रीकांत वर्मा ने इस बात पर बल दिया कि कवि का एक अपना संसार होता है, अपनी-अपनी शर्तें होती हैं, वह किसी अन्य सत्ता की पुष्टि या सेवा के लिए काम नहीं करता।

उत्तरोत्तर श्रीकांत वर्मा की कविताओं में क्षोभ का स्वर बढ़ता गया और एक सुंदर, काव्यात्मक संसार के चित्र विरल होते गए। उन्हें चारों तरफ बढ़ते, फैलते नकलीपन से भी चिढ़ होने लगी। 'नकली कवियों की वसुंधरा' में उन्होंने लिखा :

धन्य यह वसुंधरा!
मुख में इतनी सारी नदियों का झाग
केशों में अंधकार -
एक अंतहीन प्रसव-पीड़ा में पड़ी हुई
पल-पल मनुष्य उगल रही है, मवाद की तरह
नित-प्रति नगर फेंक रही है
बिलों से मनुष्य निकल रहे हैं, दरब से मनुष्य निकल रहे हैं
टोकरी के नीचे छिपे मुर्गों के मसीहा-कवि
बांग दे रहे हैं - सुबह हुई।
....
....
बरस रहा है अंधकार .... मगर उल्लू के पट्ठे
स्त्रियाँ रिझाऊ कविताएँ लिख रहे हैं।

दुनिया नामक बेवा का शोकगीत' कविता में श्रीकांत वर्मा लिखते हैं :

शहरों के चिह्न
और प्रेम के मलबे पर / बैठी हुई
कवियों की मूर्ख प्रियतमाएँ / मांग रही हैं
स्नान में गुनगुनाने के लिए / एक पंक्ति
और जूड़े में खोंसने के लिए
एक साफ / झूठ।

चारों तरफ व्याप्त इस झूठ और फरेब का हिस्सा होने से इन्कार करते हुए, 'समाधि-लोक' कविता में श्रीकांत वर्मा ने असली हालत बयान की :

तृष्णाएँ / साल खत्म होने पर
उठकर / अबाबीलों की तरह /
टकराती, मंडराती, / चिल्लाती हैं।

कवि जानता है - 'मैं अपनी विफलताओं का / प्रणेता हूँ।' ....'यह मेरा सवाल नहीं है / बल्कि / उत्तर है : / मैं क्या कर सकता हूँ।' असहायता का यह बोध ही वास्तविक है। कवि कोई भी नकली दावा नहीं करना चाहता, वह जैसा है, जो है, उससे अलग कुछ भी करना नहीं चाहताः

मुझसे नहीं होगा कि दोपहर को बांग दूँ। या सारा समय
प्रेम-निवेदन करूँ। या फैशन-परेड में
अचानक धमाका बन पड़ूँ।

यह संकल्प सच्चाई को समझ पाने के साहस से पैदा होता है, अपनी सीमाओं को पहचानने से उत्पन्न होता है :

मैं गौर से सुन सकता हूँ / औरों के रोने को
मगर दूसरे के दुख को / अपना मानने की बहुत
कोशिश की; नहीं हुआ।

फैसला लेना कोई आसान बात नहीं, कोई दूरी तय करना तो और भी :

अपने जमाने में / कितना बड़ा फासला है।
एक कदम के बाद / दूसरा उठाने में।

किसी दावे, किसी मसीहाई अंदाज़ को अपनाने और स्वयं को किसी व्यापक दुख का प्रवक्ता मानने से एक ईमानदार इन्कार श्रीकांत वर्मा की कविताओं में मिलता है। जीवन वीभत्सता से भर गया है :

उत्सव है ऐश्वर्यलोक में - / हलचल है सेजों में
खुलते हैं नीवीबंध, / चुनती है मालाएँ,
बदहवास / भाग रही इच्छाएँ / सब कुछ
हो चुका खत्म / बची रह गई है / बस ज़रा-सी दरार।

यह अस्वीकार का समय है, और यह अस्वीकार पूर्ण है :

बंद करो / कपड़ा बुनने वाली मिल!
टाँग दो शो-विंडो में / दागों से भरा / पेटीकोट!
मैं किसी पार्टी को नहीं, / केवल इस
नंगे पुतले को दूँगा / अपना वोट
नगरपालिका के चौराहे जो / हौज में मजे से
पेशाब कर रहा है। / ...हे ईश्वर! मुझसे बर्दाश्त नहीं होगा
यह मनीप्लांट। / सहन नहीं होगा
यह गमले का कैक्टस / पिकनिक के चुटकुले
ऑफिस का ब्योरा / और देशभक्त कवियों की
कविताएँ / (क्षमा करें महिलाएँ)
मैं अपने कमरे में खड़ा हूँ नग्न।

'समाधि-लेख' वास्तव में खौफनाक कविता है। इसके अस्वीकार और तीखी छटपटाहट के पीछे के भयानक दर्द को पहचानना मुश्किल नहीं है। यह दर्द असल था, इस देश के निम्न मध्यवर्गीय युवक का अपना दर्द! एक कविता की पंक्तियाँ हैं :

मैं अपनी युवावस्था के / शव को / उठाए हुए
अपने कंधों पर / घूम रहा हूँ / देश-देश में।

एक अन्य कविता में वे लिखते हैं :

कोई भी जगह नहीं रही / रहने के लायक
न मैं आत्महत्या / कर सकता हूँ
न औरों का / खून!

श्रीकांत वर्मा के स्वर का 'निषेधवाद' और 'सिनिसिज़्म' दरअसल अपना एक घर न मिल पाने की उनकी बेचैनी से जुड़ा हुआ है। वे अंत तक अपने संस्कार को छोड़ नहीं पाए। इसलिए बार-बार कविता को गाली की तरह इस्तेमाल करने की उनकी ज़िद के बाद भी सहानुभूति का वह भाव उभर-उभर आता है, जो वह अपने आस-पड़ोस के दुखी जन के प्रति अनुभव करते हैं। उसके बिना इस प्रकार के चित्र असंभव थे :

मैं सरदी में अपनी संतान को
केवल अपनी हिम्मत की रजाई में लपेटकर / पोसते
गरीबों से मिलकर / मैं
एक बंद नगर के दरवाज़े पर / खड़ा हूँ।

एक आलोचक ने ठीक ही लक्ष्य किया है कि श्रीकांत वर्मा की 'खोज बस इतनी-सी चीज़ के लिए है कि अपने जमाने की अप्रिय दुनिया में उसे अपना एक प्रिय कोना मिल जाए....।' तकलीफ यह है कि आज़ाद भारत में यह संभव नहीं दीखता। घर का बिंब शुरू से अंत तक उनकी कविताओं में अलग-अलग रूप में लौटता है। 'बुखार में कविता' की ये पंक्तियाँ देखिए:

कहाँ है तुम्हारा घर? अपना देश खोकर कई देश लांघ
पहाड़ से उतरती हुई
चिड़ियों का झुंड
यह पूछता हुआ ऊपर-ऊपर
गुज़र जाता है : कहाँ है तुम्हारा घर
दफ्तर में, होटल में, समाचार-पत्र में,
सिनेमा में,
स्त्री के साथ एक खाट में?
नावें कई यात्रियों को
उतार कर
वेश्याओं की तरह
थकी पड़ी हैं घाट में।

डॉ. नंदकिशोर नवल का यह विश्लेषण इस संबंध में द्रष्टव्य है : 'अंतिम पंक्तियों में वेश्याओं का ज़िक्र अभिव्यक्ति को ज़ायकेदार बनाने के लिए नहीं है, बल्कि उससे निराशा और करुणा में स्थिति की विद्रूपता और वीभत्सता का विभिन्न प्रकार से मिश्रण हो जाता है। इस कविता का एक अंश और द्रष्टव्य है जिसमें कवि ने कहा है कि स्वतंत्र भारत में नई पीढ़ी के साथ जो हुआ, उस के लिए वह जिम्मेदार नहीं है, क्योंकि वह तो भारतीय स्वतंत्रता की अनिवार्य परिणति थी। उसे प्रत्येक युवक को भोगना ही था।'

अशोक वाजपेयी ने श्रीकांत वर्मा की कविताओं पर लिखते हुए कहा कि उनके क्षोभ के नीचे करुणा का स्वर है। इस करुणा और क्षोभ के कारण उनमें विद्रोह की तीव्रता भी मिलती है। वे अंततः सिनिसिज़्म को आदर्श नहीं मानते। स्थितियाँ बदलनी चाहिएँ और वे बदलेंगी; ज़रूरी यह है कि उनके प्रति जो असंतोष है, उन्हें लेकर जो कष्ट है, उसे कम न होने दिया जाए :

ठण्डा मत / करो / इस संताप को
भाप दो / भींगी हुई / सड़क / से गुज़रने दो
हरेक को / युगल और मृत्यु को।

लोकतांत्रिक अवकाश की यह उदात्त भावना श्रीकांत वर्मा की कविताओं में एक आशा का अंतराल पैदा करती है। कवि की भूमिका ऐसे में झूठ का तूम बाँधना न होकर सच्ची मानवीय अनुभूतियों को स्थान देने की हो जाती है :

धो-धो जाता है / कौन
बार-बार आँसू से / कीचड़ में लथपथ
इस / पृथ्वी के पाँव?
नदियों पर झुका हुआ काँपता है कौन - कवि अथवा सन्निपात?

'मायादर्पण' और 'जलसा-घर' के बाद की कविताओं के बारे में आलोचकों का मत है कि उनमें भाषा की आक्रामकता कम हुई है। कवि ने 'मायादर्पण' की कविताओं के शिल्प से भिन्न एक नए शिल्प का सर्जन करने की ओर कदम बढ़ाए। कविता के विषय भी बदले हैं - उनमें वैविध्य और विस्तार - दोनों के ही दर्शन होते हैं। चेकोस्लोवाकिया, बांगलादेश, युद्ध, अमरीका के नीग्रो-ठोस सामाजिक परिस्थितियाँ और घटनाएँ कवि की दृष्टि को अधिक से अधिक प्रभावित कर रही हैं - जैसे वह अपने-आप का सूत्र एक वृहत्तर समुदाय से जोड़ रहा है - अपनी असफलताओं को एक सार्वजनिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देख रहा है। स्वतंत्रता कवि का प्रियतम मूल्य है, उसका क्षरण या हनन सबसे अधिक चिंता पैदा करता है :

फौज के अंधेरे में
लदी हुई
बीसवीं शताब्दी का

सिर
गिरता है
चेकोस्लोवाकिया में
धड़
वियतनाम में
शेष
ढाका
चटगाँव में
शुक्रिया, चंगेज़ खाँ,
तुम्हीं को पाया
हर मोड़ पर
अमर है
चंगेज़ खाँ
चंगेज़ है
अमर खाँ

और
बनी हैं दीखने को ताज़महल के बाद
दूसरी इमारत
संयुक्त राष्ट्रसंघ
ऊपरी मंज़िल से दीखते हैं
जलते हुए शहर अफ्रीका के, एशिया के
जैसे
अब भी जल रहा हो पर्सिपलिस का पुस्तकालय,
चल रहा हो
बावेरिया में पैदा हुए नात्सियों का दस्ता
सब कुछ उजाड़ता
सब कुछ पर रखता हुआ पैर।

इतने भयानक समय की बात करना बहुत ही यंत्रणादायक है - 'संभव नहीं है / वह सब क पाना। जो घटा है / बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ! / काँपते हैं हाथ!' 'प्रजापति' नामर एक कविता में वे अपनी कठिनाई, बतौर कवि, बयान करते हैं :

इस भयानक समय में कैसे लिखूँ
और कैसे नहीं लिखूँ!
सैकड़ों वर्षों से सुनता आ रहा हूँ
घृणा नहीं, प्रेम करो -
किससे करूँ प्रेम? मेरे
चारों ओर हत्यारे हैं।
नागरिको! सावधान, रास्ते में दोनों ओर
वधिक हैं -
जुपिटर के महल से चुराई हुई बिजलियाँ
आस्तीन में छिपाए हुए
सैनिक हैं।

यह तो नहीं कह सकते कि श्रीकांत वर्मा का सिनिसिज़्म पूरी तरह खत्म हो गया और उनव कविताओं में आशा-उल्लास की उजास फिर से छा गई, लेकिन यह ज़रूर है कि वे फिर खुद को अधिक से अधिक उस ऐतिहासिक प्रक्रिया के विशेष बिंदु पर अवस्थित देखने लगे जिसमें दुनिया बदल रही थी।

13.5 कविताओं में इतिहास और वर्तमान का द्वंद्व

'इतिहास-बोध' पात्र चिंतकों या दार्शनिकों के लिए नहीं, कवि के लिए कितना आवश्यक है और किस प्रकार वह उसकी रचनात्मकता को दिशा देता है, इसका उदाहरण है एक लंबी खामोशी के बाद 'मगध' का प्रकाशन। इस अंतराल को प्रायः उनकी सृजनात्मकता का सबसे 'अनुर्वर काल' माना गया है। लेकिन 'मगध' की कविताओं को पढ़ने के बाद ऐसा कहना अधिक उचित मालूम होता है कि यह वास्तविक 'सर्जनात्मक अंतराल' था। 'मगध' की कविताओं में इतिहास की स्मृतियाँ, ऐतिहासिक स्थल, ऐतिहासिक व्यक्तित्व जीवंत चरित्रों की भूमिका में हैं। कवि की चेष्टा उनका नया मिथक खड़ा करने की नहीं है। उसने एक अत्यंत ही जटिल रचनात्मक विधि से उन समस्त ऐतिहासिक प्रसंगों को समकालीन बनाने की चेष्टा की है। लेकिन ऐसा करते हुए वह 'प्रासंगिकता' के प्रलोभन से खुद को बचा ले जाते हैं। 'मगध' के प्रकाशन ने हिंदी साहित्य समाज को स्तंभित कर दिया। डॉ.केदारनाथ सिंह ने भी एक जगह बातचीत में स्वीकार किया कि जब श्रकांत वर्मा ने पहले-पहल इन कविताओं का पाठ अपने मित्रों के सामने किया तो वे प्रलाप-जैसी लगीं। उनमें कोई अर्थ खोज पाना कठिन था और वे असम्बद्ध भी प्रतीत होती थीं। धीरे-धीरे उनका असर होना शुरू हुआ और अब तो यह कहना होगा कि भले ही सबकी समझ में अभी भी न आई हों, प्रभावित उन्होंने सबको किया है। 'मगध' में एक जादुई वातावरण की सृष्टि की गई है, जिसमें सारे ऐतिहासिक पात्र सक्रिय हैं - लेकिन ऐसा लगता है मानो अतीत और वर्तमान आमने-सामने खड़े हैं। समकालीन संवेदना का इस स्मृति-लोक में खेल-सा चलता रहता है, किंतु इस खेल के गंभीर राजनीतिक-सामाजिक और दार्शनिक आशय हैं। उदाहरण के लिए, 'तीसरा रास्ता' शीर्षक प्रसिद्ध कविता तो इतनी बार इतने लोगों द्वारा उद्धृत की जा चुकी है कि वह आज के समय के एक रूपक में बदल गई कही जानी चाहिए :

मगध में शोर है कि मगध में शासक नहीं रहे
जो थे
वे मदिरा, प्रसाद और आलस्य के कारण
इस लायक / नहीं रहे
कि उन्हें हम
मगध का शासक कह सकें।

इन पंक्तियों को बीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में पढ़ने वाला पाठक अपने समय पर टिप्पणी के तौर पर पढ़ता है। उसी प्रकार 'कोसल में विचारों की कमी है' की ये पंक्तियाँ चेतावनी की घंटी की तरह दिमाग में बजती रहती हैं :

कोसल अधिक दिन नहीं टिक सकता
कोसल में विचारों की कमी है।

'मगध' की कविताएँ अलग-अलग लिखी गई हैं, लेकिन एक-साथ पढ़ने पर वे कुछ शाश्वत मानवीय प्रश्न भी उठाती हैं। 'मित्रो के सवाल' कविता का प्रश्न है :

मित्रो!
यह रहना कोई अर्थ नहीं रखता
कि मैं वापस आ रहा हूँ।

सवाल यह है कि तुम कहाँ जा रहे हो?

मित्रो!
यह कहने का कोई मतलब नहीं
कि मैं समय के साथ चल रहा हूँ।

सवाल यह है कि समय तुम्हें बदल रहा है
या तुम
समय को बदल रहे हो?

'मगध' में एक विडम्बनात्मक स्वर शुरू से अंत तक सुनाई देता रहता है - क्या यह मानव की नियति है या उसके द्वारा बनाए गए प्रत्येक समाज की? :

नालंदा जाने वाले मित्रों,
प्रायः
यही होता है,
बताए गए
रास्ते
वहाँ नहीं जाते
जहाँ / हम पहुँचना चाहते हैं -

प्रायः 'मगध' की अधिकतर कविताएँ मनुष्य की विफलताओं की गाथा-सी लगती हैं। लेकिन उनमें चुनौती स्वीकार करने की इच्छा भी है, स्थिति को बदल पाने का एक विश्वास भी है, नया रास्ता खोजने का हौसला भी है :

मित्रो,
तीसरा रास्ता भी
है -
मगर वह
मगध,
अवन्ती,
कोसल,
विदर्भ
होकर नहीं
जाता।

संपूर्णता में ये कविताएँ गहरे नैतिक-बोध से अनुप्राणित हैं - मनुष्य के समक्ष नैतिक चुनाव से जुड़े हुए प्रश्न उठाती हैं। मनुष्य नियति के समक्ष निरुपाय नहीं है - उसका विकल्पों को पहचान कर उनमें से चुनाव करना ही महत्वपूर्ण है। यह चुनाव यदि वह स्वार्थ-भावना से मुक्त होकर करता है और संपूर्ण मनुष्यता के प्रश्नों को अपने निजी प्रश्नों के रूप में ग्रहण करता है तो 'मगध' के शाप से शायद वह उसे मुक्ति दिला सके। इसमें कोई संदेह नहीं कि जो 'मगध' उन्होंने अपनी कविताओं में रचा है, वह पाप, अनाचार, दुरभिसंधियों से भरे समाज का रूपक है। यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि मगध, कोसल, अवंती, कोसांबी, श्रावस्ती जैसी जगहें जब इन कविताओं में आती हैं तो उनका उद्देश्य पुनः उनके अपने ऐतिहासिक संदर्भों को पुनरुज्जीवित करना नहीं है, न ही चन्द्रगुप्त, शकटार, अम्बपाली, वसंतसेना जैसे पात्रों के प्रवेश से उनसे जुड़ी ऐतिहासिक कथाओं का पुनः आख्यान प्रस्तुत करना है। तो फिर कवि ने क्या मात्र एक युक्ति के रूप में इनका प्रयोग किया है?

श्रीकांत वर्मा का 'मगध' उससे जुड़ी घटनाओं की ट्रैजिक संवेदना का सूत्र पकड़ता है और उसे वर्तमान तक खींच लाता है। यह किसी भी पाठक के, विशेषकर भारतीय, मन में एक नए ढंग से प्रभाव की सृष्टि करने में सफल होती हैं। कुछ कविताएँ तो इतनी स्पष्ट हैं कि लगता है कवि अपनी समकालीन राजनीति पर सीधे प्रहार कर रहा है :

माथे पर रक्त का टीका है
राज्याभिषेक का
यही तरीका है

किसका है यह रक्त?
उसका तो नहीं जो मगध की
आँखों का तारा है?
किसी का हो
रक्त / क्या / फर्क / पड़ता है!
तारा भी तो
कभी-कभी / आँखों / में / गड़ता है।

लोकतंत्र का हर जगह से धीरे-धीरे खात्मा और उसके न रहने पर भी कोई अफसोस नहीं फ़ैसला हमने नहीं लिया :

सिर हिलाने का मतलब फैसला लेना नहीं होता
हमने तो सोच-विचार तक नहीं किया
.....
.....
हमारा क्या दोष?
न हम सभा बुलाते हैं / न फैसला सुनाते हैं / वर्ष में एक बार
काशी आते हैं - / सिर्फ यह कहने के लिए
कि सभा बुलाने की भी आवश्यकता नहीं
हर व्यक्ति का फैसला
जन्म के पहले हो चुका है।

ऐसी स्थिति में कुछ रचने का अर्थ है - अपने आपको दाँव पर लगाना। 'हवन' शीर्षक कविता में जैसे श्रीकांत वर्मा स्वयं अपना वक्तव्य दे रहे हैं :

चाहता तो बच सकता था
मगर कैसे बच सकता था
जो बचेगा
कैसे बचेगा

पहले मैं झुलसा / फिर धधका / चिटखने लगा
कराह सकता था / मगर कैसे कराह सकता था
जो कराहेगा / कैसे निबाहेगा

न यह शहादत थी
न यह उत्सर्ग था
न यह आत्मपीड़न था
न यह सज़ा थी
तब क्या था यह

किसी के मत्थे मढ़ सकता था
मगर कैसे मढ़ सकता था
जो मढ़ेगा कैसे गढेगा

अमानवीयता स भरे इस समय में कुछ भी सकारात्मक करने में स्वयं व्यक्ति का जो नाश होता है, उसके लिए तैयार रहने के लिए साहस चाहिए। श्रीकांत वर्मा जैसे यह संकल्प करते नज़र आते हैं। उनके अंतिम दौर की डायरियाँ पढ़ने से भी मालूम होता है वे नए सिरे से लिखने का काम शुरू करना चाहते थे। 'मगध' इस नए दौर की शुरुआत थी। दुर्भाग्य यह कि तब तक अपने-आपको बचाने के दबाव में उनके भीतर इतना कुछ टूट-फूट चुका था, उनके स्नायुओं

पर, उनकी शारीरिक संरचना पर इसने इतना सांघातिक प्रहार कर दिया था कि वे अधिक दिन बचे ही न रह सके। 'मगध' में जैसे 'भटका मेघ' के छोटे से कस्बे से निकले भटक गए मेघ की आत्म-स्वीकृति है, उसका करुण विलाप है। 'मगध' एक स्तर पर श्रीकांत वर्मा का व्यक्तिगत बयान भी है। 'नांदीपाठ' की ये पंक्तियाँ देखिए :

पहचाना मुझे?
वेताल -
मुझे / मेरे कृत्यों ने
काल की रुग्ण एक डाल / पर लटका दिया था।

जिस अभिशाप को श्रीकांत वर्मा ने भोगा, वह उनके जैसे सहस्रों लोगों की नियति है। कुछ न कर पाने का दुखद अहसास :

.....उसने अपनी ज़िंदगी गुज़ार दी सोचते-सोचते।
क्या गलत है क्या सही है?
हज़ार मारा हाथ-पैर, उबर ही नहीं पाया
उसने अपना जीवन गंवाया -
औरों ने कमाया -
है ना?

अनिश्चय से भरा यह व्यक्ति जो कर सकता है, वह भी नहीं करता। वह कोई प्रयास नहीं कर पाता, कोई निर्णय नहीं ले पाता। 'नियति : मौत से डरो' कविता की पंक्तियाँ हैं :

घिघिया सकता था / घिघिया नहीं -
हथियार उठा सकता था - उठाया नहीं
कुछ भी बताया नहीं / जिरह भी नहीं की
चुप भी नहीं रहा। / सहमा भी नहीं
ताव भी नहीं खाया / फ़क़त मारा गया।

कुछ भी न कर पाने वाला यह असमर्थ व्यक्ति क्या भारत का आम निम्न-मध्यवर्गीय युवः है जो अपने ऊपर होने वाले आक्रमण का कोई उत्तर नहीं दे पाता?

13.6 भाषा और शिल्पगत विशेषताएँ

श्रीकांत वर्मा की कविताओं के शिल्प को लेकर बहुत चर्चा हुई है। 'भटका मेघ' और 'सरहद' की कविताओं की भाषा में भी रूमानियत थी, लेकिन 'मायादर्पण' और 'जलसा-घर' की काव्य-भाषा में बदलाव आता है। वे ऐसी भाषा लिखने लगे जो यथार्थ का सामना 'नंगी' आँखों से कर रही थी ; इसे उन्हीं के शब्दों में 'नंगी' या 'निवर्सन' भाषा कह सकते हैं :

वर्षों तक लिखते हुए मैंने प्रमाद में
अनुभव किया, / दूसरी कोई भाषा न थी।

यह लक्ष्य करना कठिन नहीं कि इसकी सबसे बड़ी विशेषता थी आक्रामकता, जो विद्रूप यथार्थ को छिपाने वाले भाषागत आभिजात्य और सुरुचि को तोड़कर और पाठकों को एक धक्का देकर वस्तु-स्थिति का ज्ञान कराती थी। भाषा को उदात्त से नितांत तुच्छ के स्तर पर उतार लाने का काम श्रीकांत वर्मा से बेहतर और किसी ने नहीं किया :

मैं ही क्यों, बड़े-बड़े / अफसर भी
डरते हैं जुकाम से, / सर्दी से!
कुछ स्त्रियाँ / प्रेम करती हैं /

वर्दी से; / बाकी नामर्दी से

या,
कन्फ्यूशियस की समाधि पर
हगता है / चील,
भारत संसार का मैला ढो रहा है
सबेरा हो रहा है।

श्रीकांत वर्मा ने अज्ञेय के भाषा-आभिजात्य को इस प्रकार के शब्द-प्रयोगों द्वारा चुनौती दी और नयी कविता ने जो भाषा का प्रभा-मण्डल बनाया था उसे छिन्न-भिन्न कर दिया। सपाटता उनकी भाषा में आई, लेकिन तीखापन उसका समाप्त न हुआ और इसका कारण बहुत कुछ उनकी कविताओं का नए ढंग का शिल्प था। डॉ.नंदकिशोर नवल ने इसका विश्लेषण करते हुए लिखा है कि ऐसा लगता है कि कवि की उक्तियाँ एक-दूसरे से मेल नहीं खातीं, लेकिन ये बड़े संदर्भ में आकर एक-दूसरे से मिलकर अनुभव और संवेदना का एक नया स्तर सृजित करती हैं। वे प्रश्न करते हैं कि क्या इस शिल्प का स्रोत हमारा आज का जीवन ही है जिसमें चीज़ों, घटनाओं का एक-दूसरे से संबंध टूट गया लगता है, लेकिन वे एक वृहत्तर सामाजिक संदर्भ में एक-दूसरे से जुड़ भी जाती हैं? इस तरह के शिल्प का उदाहरण इस प्रकार की पंक्तियाँ हैं :

तितलियों की तरह उड़कर लड़कियों का संसार
बैठ जाता है / कोट पर / नोट पर
हस्ताक्षर होता है / सारा दिन ढोता है
कवि किसी और की स्त्री के वियोग में
अपने बनवास को / घास को चरते हैं उतरते हैं
बैल आकाश से / और चरते चले जाते हैं।

यहाँ तुक की एक योजना स्पष्ट दिखलाई पड़ती है, ध्वन्यात्मक समानता का भी लाभ उठाया गया है। कुछेक लोग इसे 'खिलवाड़' मानते हैं। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि नयी कविता ने प्रायः छंदों और तुकों का सहारा छोड़ दिया था, लेकिन श्रीकांत वर्मा को उनमें यह संभावना दिखलाई पड़ी कि उनका थोड़े अपारंपरिक ढंग से प्रयोग करके जीवन-यथार्थ की विडम्बना और त्रासदी को उभारा जा सकता है। ऐसा कुछ कविताओं में रघुवीर सहाय ने भी किया। जैसा ऊपर के काव्यांश में देख सकते हैं, किया यह गया है कि पंक्ति के अंत में आने वाले शब्द की तुक मिलाते हुए अगली पंक्ति का पहला शब्द रखा गया, जैसे 'कोट पर' की अगली पंक्ति है 'नोट पर' और 'बनवास को' के बाद की पंक्ति है 'घास को'। डॉ.नवल ने ठीक ही ध्यान दिया है कि यह नितांत नया प्रयोग भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि निराला पहले इस प्रविधि का उपयोग कर चुके थे; उदाहरणार्थ 'जागो फिर एक बार' की उनकी ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं :

किसने सुनाया यह
वीर-जन-मोहन अति
दुर्जय संग्राम-राग
फाग का खेला रण
बारहों महीनों में

और
सत् श्री अकाल
भाल-अनल धक-धक कर जला
भस्म हो गया था काल

'राग' और 'फाग' तथा 'अकाल', 'भाल' और 'काल' के प्रयोग को देखिए। लेकिन जहाँ निराला ने प्रायः अलंकरण के तौर पर इस तरह का प्रयोग किया, वहीं श्रीकांत वर्मा ने सचेत ढंग से इसे एक काव्य-कौशल का अंग बनाते हुए अपने जमाने के विद्रूप को उभारने का काम किया। एक और वाक्यांश द्रष्टव्य है :

नहीं रहा वह सब जिसे होना चाहिए था
ईसा की बीसवीं शताब्दी के अड़सठवें वर्ष में
हर्ष में भरकर देखती है कन्या दुनिया में चित होकर लगातार
घर की तरफ आते हुए, पिता को / चिता को
बुझाओ मत....।

'वर्ष' और 'हर्ष' तथा 'पिता' और 'चिता' की तुक मिलने से न सिर्फ पिता की दयनीयता मूर्त होती है, बदले हुए पारिवारिक संबंधों की ट्रेजेडी भी जैसे उभर आती है। आगे अपने विश्लेषण के क्रम में डॉ.नंदकिशोर नवल बताते हैं कि इस प्रकार की तुक-योजना श्रीकांत वर्मा के लिए बड़ी निर्णायक सिद्ध होती है। प्रायः अप्रत्याशित तुकों का सहारा लेकर पाठकों को झटका दिया जाता है और एक काव्यात्मक तनाव भी पैदा किया जाता है :

जलाशय पर / छप जाता है / अचानक
मछुए का जाल

चरकट के कोठे से
उतरती है धूप
और चढ़ता है
दलाल।
......
अंधेरे में -
पता नहीं चलते हैं दस्तखत,
गुजर रही गाड़ियाँ / याद नहीं
आता है प्रेम
घबराहट
अक्षयवट
झूलती
भुजाओं में।
....
रुको,
कोई आता है
सुनाई पड़ती है
किसी के पैरों की
चाप।
कोई मेरे
जूतों की माप
लेने आ रहा है।

आलोचक ने ठीक ही लक्ष्य किया कि जलाशय पर होने वाली शाम के वर्णन में 'जाल' के साथ 'दलाल' की तुक मिलाकर परंपरागत सौंदर्य का संहार किया गया है; उसी तरह 'घबराहट' जैसे साधारण शब्द की तुक धार्मिक आस्था से युक्त 'अक्षयवट' से करके एक विडम्बनापूर्ण स्थिति की ओर संकेत किया गया है। हमारे जीवन में कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं घटता - जो पदचाप सुनाई देती है, वह किसी महान घटना की आहट नहीं, वह तो उस आदमी के पैरों की आवाज़ है जो दरअसल कवि के पैरों की 'माप' लेने आ रहा है।

श्रीकांत वर्मा की कविताओं में यौन-बिंब भी प्रचुरता से आते हैं, हालांकि आगे चलकर वे कम से कम होते गए हैं। अकवितावादियों की आलोचना उन्होंने इस वजह से भी की थी कि उन्होंने अपनी समाधि के लिए स्त्री-शरीर में 'दो अंगुल' जगह खोज ली थी और माने बैठे थे कि पूरे जीवन से भारी विद्रोह कर लिया है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि श्रीकांत वर्मा की कविताओं में भाषा-प्रयोग पारंपरिक 'लिंग-चेतना' से मुक्त हो ही गया है। इस दृष्टि से आधुनिक कविता की भाषा पर विचार करने की ज़रूरत है वह कितनी gendered भाषा है।

13.7 सारांश

श्रीकांत वर्मा जैसे कवियों के साथ दुर्घटना यह होती है कि उनके जीवन का शोरगुल उनकी कविता पर कुछ इस कद्र छा जाता है कि वे ठीक से सुनाई भी नहीं देतीं। उनके राजनीतिक जीवन ने उनकी कविताओं के अर्थ को समझने में प्रायः बाधा पहुँचाई। प्रायः हिंदी के आलोचकों ने उनके जीवन-काल में, और उनमें प्रगतिवादी प्रमुख हैं, उनके साथ कठोरता से व्यवहार किया। 'मगध' के प्रकाशन से उलझन और बढ़ गई। लेकिन जैसे-जैसे उनका जीवन पृष्ठभूमि में गया, उनकी कविताएँ उभरकर सामने आने लगीं - बड़े ही ट्रैजिक ढंग से उनकी असमय मृत्यु ने उनकी कविताओं में छिपे दर्द को उभार दिया। उनका यह कहना गलत न था कि वे जीवन-भर स्वयं अपनी ज़िंदगी से लड़ते रहे। श्रीकांत वर्मा की कविताओं में उनके जीवन की और उनके समय के समाज के जीवन की रक्ताक्त गाथा है - गहरे नैतिक आशयों से युक्त - वह एक लघु महाभारत है जो अन्याय, छद्म, धोखाधड़ी, असत्य, षड्यंत्र, खून से भरा हुआ है लेकिन जिसकी केंद्रीय चिंता मनुष्य है - कितना ही दूषित, लांछित, अपमानित, क्षत-विक्षत क्यों न हो - मनुष्य एक ऐसी सृष्टि है जिसकी कहानी हमेशा नई है और गाए जाने योग्य है!

13.8 प्रश्न

1. श्रीकांत वर्मा की जीवन-दृष्टि और साहित्य-दृष्टि के विकास को रेखांकित कीजिए।
2. श्रीकांत वर्मा के रचनात्मक संघर्ष ने उनके रचनाकार व्यक्तित्व के विकास में कैसे योगदान दिया?
3. श्रीकांत वर्मा की राजनीतिक दृष्टि का उदाहरण सहित विश्लेषण कीजिए।
4. श्रीकांत वर्मा की कविताओं में इतिहास और वर्तमान का द्वंद्व किस रूप में अभिव्यक्त हुआ है?
5. श्रीकांत वर्मा के काव्य की भाषा और शिल्पगत विशेषताओं को रेखांकित कीजिए।

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1. सुरेश शर्मा : 1981, रघुवीर सहाय का कवि कर्म, पीपुल्स पब्लिकेशंस, दिल्ली।
2. अनन्तकीर्ति तिवारी : 1996, रघुवीर सहाय की काव्यनुभूति, वि.वि. प्रकाशन वाराणसी।
3. सं० विष्णु नागर, असद जैदी : 1993, रघुवीर सहाय, आधार प्रकाशन, पंचकुला।
4. सं० विनोद भारद्वाज : 1979, श्रीकांत वर्मा, राजपाल एंड संस, दिल्ली।
5. सुमन वर्मा : 1996, श्रीकांत वर्मा की कविता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
6. सं० अरविंद त्रिपाठी : 1995, श्रीकांत रचनावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

NOTES

Notes